परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला- 58

अन्नम्भट्टप्रणीतः

तर्कसङ्ग्रहः

स्वोपज्ञतर्कदीपिकासहितः हिन्दीभाषायां तन्वीव्याख्यासमन्वितः

तर्कसंग्रह

व्याख्याकार

डॉ० पङ्कजकुमार मिश्र

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत

सेण्ट स्टीफ़न्स कॉलेज

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

Scanned with CamScanner

विषयानुक्रमणी

Scanned with CamScanner

Scanned with CamScanner

भूमिका

सृष्टि एवं उनके मूल कारणतत्त्व का अनुसन्धान तत्त्वज्ञ तार्किकों के लिये सृष्टि के आदिकाल से ही गहन चिन्तन व मनन का विषय रहा है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या भावना से वस्तुतत्त्व को जैसा देखा, उसी को दर्शन नाम दिया। दूसरे शब्दों में, मानव की अनन्त जिज्ञासा के अनन्त समाधान में प्रवृत्त विशिष्ट चिन्तन को दर्शन कहा गया तथा लिखितरूप में उपलब्ध चिन्तन के उस शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहा गया।

1. **दर्शन शब्द और आन्वीक्षिकी-** दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति **दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्** की जाती है। इस प्रकार इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ बनता है जिसके द्वारा देखा जाये। यही कारण है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में परिगणित चार विद्याओं में एक 'आन्वीक्षिकी' को दर्शन कहा गया है। मनुस्मृति (7.43) में आन्वीक्षिकी को आत्मविद्या कहा गया है। कामन्दक में इसे आत्मज्ञान कहा गया है। इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल में इस दर्शन के लिये आन्वीक्षिकी, आत्मविद्या, आत्मज्ञान या आत्मविज्ञान का भी प्रयोग किया जाता होगा। वात्स्यायन भाष्य (1.1.1) में भी इसी अर्थ में अध्यात्मविद्या शब्द का प्रयोग किया गया है। दर्शन को दर्शन कब कहा गया, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक चिन्तन प्राप्त नहीं होता किन्तु दर्शन को आन्वीक्षिकी कहा जाता था, ऐसा स्थापित मत उक्त विवरण से अवश्य ही ज्ञात होता है।

वस्तुतः जीवन के प्रति मानवमात्र की विशिष्ट जिज्ञासा का समाधान करने का दृष्टिकोण ही दर्शन है जो व्यक्तिशः भिन्न हुआ करता है। यह दर्शन मननशील मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाली शंका की परिणति है। अपने चतुर्दिक् व्याप्त दृश्यादृश्य पदार्थों को जानने के लिये मानव की जिज्ञासा हुआ करती है। यही नहीं उसके साथ उन वस्तुओं का क्या सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध का निरूपण किसके द्वारा होता है, उसके ज्ञान के साधन क्या हैं, उन साधनों के सम्पादक व संचालक कौन हैं, उन सम्पादकों के स्वरूप क्या हैं इत्यादि शंकाओं के समाधान की विभिन्न परम्परा में ही दर्शन के आविर्भाव का विशद इतिहास निहित है।

Scanned with CamScanner

2. भारतीयदर्शन– भारत में दर्शन का अन्वेषण किसी ऐतिहासिक साक्ष्य पर निर्भर नहीं है। विश्व का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद स्वयं में ही एक दर्शन के रूप में प्रतिष्ठापित है। जिसका व्यापक प्रतिबिम्ब उपनिषद्, गीता आदि में स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन को सामान्यतया 'आध्यात्मिक दर्शन' कहा जाता है, क्योंकि इसका परम प्रयोजन 'मोक्ष' माना जाता है। समस्त दुःखों का आत्यन्तिक नाश ही मोक्ष है। इस आधार पर भारतीय दर्शन की आधारशिला दुःख मानी जाती है– यह एक सामान्य चिन्तन है। किन्तु विशेष चिन्तन तो 'परम सत्य' के अन्वेषण को भारतीय दर्शन का मूल मानता है। एतदर्थ **आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः**' आदि श्रुतियाँ इसका समर्थन करती हैं।

परम सत्य के रहस्य को सुलझाने के कारण ही भारतीय विचारधारा अथवा चिन्तन को मनु ने 'सम्यक्' दर्शन' कहा है। इस सम्यक् दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति कर्मों के द्वारा बँधता नहीं है, इस दर्शन से हीन व्यक्ति ही संसार–चक्र में फँसता है– ऐसा मनु का कथन है–

सम्यग्–दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।। 6.74

उद्देश, लक्षण एवं परीक्षारूप अपनी विशिष्ट शैली से भारतीय दर्शन समस्त वादों का तार्किक व सोदाहरण समन्वय प्रस्तुत करता है। द्वैतवाद–अद्वैतवाद, एकतत्त्ववाद–बहुतत्त्ववाद, बाह्यार्थवाद–विज्ञानवाद, प्रतिनिविष्टवाद–सामंजस्यवाद आदि समस्त विचारसरणियों का व्याख्यायित सिद्धान्त ही समग्र रूप में दर्शन है। कालान्तर में यह दर्शन एक विचारसरणि मात्र न रहकर जीवन प्रणाली बन गया। भले ही विश्व में भारतीय दर्शन को अध्यात्मपरक कहा जाता हो किन्तु विषय प्रतिपादन की इसकी सूक्ष्म शैली का कोई पर्याय नहीं है।

3. भारतीय दर्शन का वर्गीकरण– भारतीय दर्शन की एक सर्वाधिक आकर्षक विशेषता है उसके विचारों का प्राचुर्य एवं वैविध्य। इसमें अणु से अणुतम तथा महान् से महत्तम तत्त्व की अवधारणा प्रस्तुत करने की क्षमता है। चिन्तन का प्रायः कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसका इसमें विवरण प्रस्तुत न किया गया हो। यही कारण है कि इसे भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु प्राधान्येन इसके दो वर्ग माने जाते हैं– आस्तिक एवं नास्तिक। ये दोनों वर्ग अत्यन्त भ्रामक हैं क्योंकि इनके स्वरूप

Scanned with CamScanner

निर्धारण के मध्य की विभाजक रेखा आज भी विस्तृत विवेचन का विषय बनी हुई है। अतः इनके आधार पर किये गये पारम्परिक वर्गीकरण का विवेचन करने के पूर्व यह उचित होगा कि इन दोनों शब्दों के अर्थ को यहाँ स्पष्ट कर दिया जाए।

4. **आस्तिक नास्तिक तात्पर्य**- दार्शनिक जगत् में अत्यन्त प्रथित ये दोनों शब्द पाणिनि के अनुसार 'ठक्' प्रत्यय से निष्पन्न हुए हैं। **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः** (अष्ट0 4/4/60)- इसके अनुसार इन दोनों शब्दों का विग्रह बनता है- **अस्ति परलोकः इत्येवं मतिर्यस्य सः आस्तिकः** तथा **नास्ति इति मतिर्यस्य सः नास्तिकः** अर्थात् जो परलोक में विश्वास रखता है, वह आस्तिक है तथा जो परलोक में विश्वास नहीं रखता है, वह नास्तिक है। किन्तु इस पाणिनीय विग्रह के कारण दार्शनिकों के मध्य अव्यवस्था फैल गयी। क्योंकि इस अर्थ के अधीन बौद्ध और जैन दोनों को ही आस्तिक मानना पड़ता।

ध्यातव्य है कि बौद्ध, आत्मा एवं पुनर्जन्म में विश्वास करता है क्योंकि इसका साक्षात् सम्बन्ध परलोक से है। उक्त लक्षण के आधार पर इन दार्शनिक सम्प्रदायों को भी आस्तिक मानना पड़ता। लेकिन तत्कालीन दर्शनसम्प्रदायविशेष को यह स्वीकार्य नहीं था कि बौद्ध एवं जैन आस्तिक कहलाएँ। उक्त वैचारिक वैमनस्य के कारण उन दोनों को नास्तिक सिद्ध करने के लिये नवीन अर्थ बनाये गये।

तदनन्तर इसका नवीन अर्थ 'ईश्वर में आस्था' रखने वाला अथ वा 'अनास्था' रखने वाला किया गया, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। बल्कि आज भी आस्तिक एवं नास्तिक का विभाजक ईश्वर ही माना जाता है। पुनरपि, इसमें भी एक प्रबल समस्या आ गयी। सांख्य एवं मीमांसा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार, इन दोनों वर्ग-विशेष से सम्बद्ध दर्शनसम्प्रदाय को भी 'नास्तिक' स्वीकार करना पड़ता, जो अत्यन्त दुष्कर सम्पादन था।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय एक वर्ग सदैव इसका विरोधी था कि किसी भी स्थिति में बौद्ध, जैन एवं चार्वाक को आस्तिक माना जाए या चिन्तन की मूलधारा में उन्हें सम्मिलित किया जाए।। अतः दार्शनिक पद्धतियों का 'आस्तिक' एवं 'नास्तिक' में वर्गीकरण करते समय इन दोनों शब्दों को विशिष्ट अर्थ प्रदान किया गया, जिसे अर्थ के निर्धारण का तृतीय ऐतिहासिक प्रयास माना गया।

Scanned with CamScanner

उक्त प्रयास के अनन्तर मनु ने तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित हो 'आस्तिक' शब्द का यह अर्थ किया कि जो वेदों में आस्था रखे अथ वा जो व्यक्ति वेदों की परम प्रामाणिकता तथा अमोघता में विश्वास रखे। 'नास्तिक' का अर्थ इसके ठीक प्रतीप है- 'वह जो वेदों में आस्था व विश्वास न रखते हुए उसकी निन्दा करे'- नास्तिको वेदनिन्दकः (मनु0 2/21)। वैदिक विद्वानों के मध्य आज भी यही अर्थ प्रचलित है। इस अर्थ के पीछे क्या प्रेरणा, प्रयोजन अथ वा कारण रहे होंगे, इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता। किन्तु इतिहासकारों ने एक सामान्य व्यवस्था यह दी कि चूँकि चार्वाक, बौद्ध एवं जैन ने वैदिक कर्मकाण्ड पर विशेष प्रहार किया, इसलिये तत्कालीन वेदानुरागी ने वेदनिन्दक कहकर इन्हें नास्तिक समवाय कहना प्रारम्भ किया।

इस सम्बन्ध में एस.एन. दासगुप्त का यह स्पष्ट कथन प्राप्त होता है: "किन्तु नास्तिक की परिभाषा स्वयं मनु ने दी है: 'वह जो वेदों का प्रत्याख्यान करे।' इसे सौभाग्य कहें या दुर्भाग्य, यह परम्परा मानो सदैव के लिये स्थिर हो गयी तथा स्मृतिकार के दिये हुए अर्थ को जैसे परम दार्शनिक महत्त्व मिल गया।"

5. **तदनुरूप वर्गीकरण एवं तत्तत् सम्प्रदाय-** उक्त आस्तिक-नास्तिक विभाजन के आधार पर निम्न आरेख से भारतीय दर्शन का वर्गीकरण किया जाता है-

उक्त पारम्परिक दृष्टिकोण के आधार पर तीन दर्शनों को 'नास्तिक' कहा गया जो निस्सन्देह प्रबल वेद-विरोधी हैं। छात्रों के लिये इन दर्शनों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-
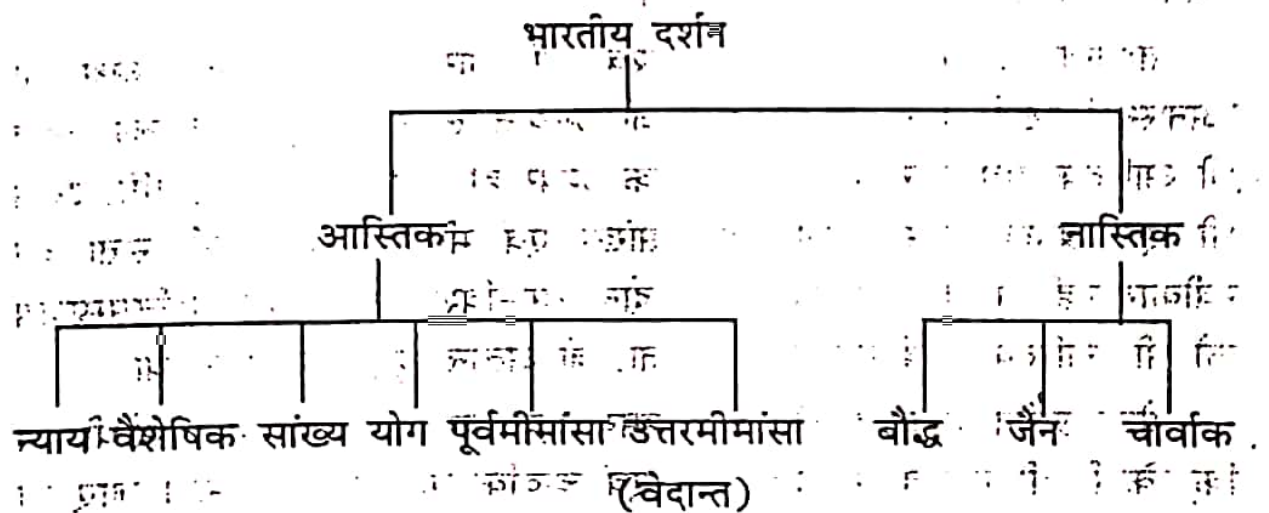
(क) **चार्वाक**- यह एक भौतिकवादी दर्शन है जिसे 'लोकायत' एवं 'बार्हस्पत्य' भी कहा गया है। इस दर्शन ने ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि मान्य व स्थापित परम्परा का तार्किक विरोध कर तत्कालीन समाज में केवल क्रान्ति ला दी थी, बल्कि भौतिकवाद को अध्यात्मवाद के विरुद्ध एक नूतन अर्थ दिया। भारतीय दर्शन के समान ही इसकी अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। चार्वाक का सबसे उल्लेखनीय और विशिष्ट अवदान उनका यह सिद्धान्त है कि चेतना केवल पदार्थ से ही उत्पन्न होती है। इस परिप्रेक्ष्य में चार्वाक का कथन है कि देह ही चेतना का स्थान है तथा इससे पृथक् ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके। इसके कुछ प्रथित विचार इस प्रकार हैं-

(क) प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।

(ख) यह जगत् वायु, तेज, जल तथा पृथिवी- इन चार भौतिक तत्त्वों से बना है।

(ग) यह शरीर ही आत्मा है, अतः मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता।

(घ) ईश्वर का कोई अस्तित्व है ही नहीं।

(ङ) अतः बुद्धिमान् मनुष्य अधिक से अधिक सुख प्राप्त करें।

चार्वाक लगभग सभी रूढ़िवादी बातों का उपहास करते हैं। वेद एवं वैदिक आचार, विशेष रूप से उनके कठोर प्रहार के लक्ष्य रहे हैं। उनके अनुसार तीनों वेद ठगों, धूर्तों एवं निशाचरों की रचनाएँ हैं- **त्रयो वेदस्य कर्तारो भाण्डधूर्तनिशाचराः।** इसी प्रकार, मन्दबुद्धि एवं कार्य करने में अक्षम लोग ही यज्ञ, त्रिदण्ड, भस्म इत्यादि के सहारे जीविकोपार्जन करते हैं। उनके उक्त चिन्तन के कारण उन्हें नास्तिकशिरोमणि तक कहा गया है।

इस दर्शनसम्प्रदाय का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ समुपलब्ध नहीं है। इतस्ततः विकीर्ण सिद्धान्तों के आधार पर ही इसकी समीक्षा की जाती रही है। पुनरपि, माधवाचार्यकृत **सर्वदर्शनसङ्ग्रह** इसका सबसे बड़ा स्रोत है, जहाँ इनके कुछ विचार संकलित मिलते हैं। इसके अतिरिक्त हरिभद्रकृत **षड्दर्शनसमुच्चय** में आठ श्लोकों, **नैषधीयचरित** के सत्रहवें सर्ग, कृष्णमिश्र विरचित **प्रबोधचन्द्रोदय**, **विष्णुपुराण** आदि में यत्र-तत्र चार्वाकीय विचार समुपलब्ध होते हैं।

Scanned with CamScanner

(ख) **बौद्ध**– वे विभिन्न दार्शनिक विचार जो बुद्ध की शिक्षाओं से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, सामान्यतया बौद्ध कहलाते हैं। बुद्ध की शिक्षाओं के आधार पर ही इस दर्शन का विकास हुआ है। इस शिक्षा में निहित विचारों की अपने अनुसार व्याख्या करने के कारण इनकी कई दार्शनिक शाखाएँ बनीं। कालान्तर में, बौद्ध स्वयं में एक दार्शनिक सिद्धान्त न होकर अपने चार सम्प्रदायों का संकलन मात्र रह गया तथा इन चारों सम्प्रदायों की अपनी पृथक् पहचान बन गयीं। ये हैं–

(i) **वैभाषिक**– ज्ञानप्रस्थान पर कात्यायनीपुत्र लिखित टीका अभिधर्म विभाषा के अनुसरण करने वाले वैभाषिक कहलाये। अभिधर्म विभाषा को ही महाविभाषा या विभाषा भी कहा जाता है। वैभाषिक को ही सर्वास्तिवादी कहा जाता हैं। ये बाह्य जगत् की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं।

(ii) **सौत्रान्तिक**– अभिधर्म ग्रन्थों को प्रमाण न मानने वाले तथा सूत्रों अथ वा सूत्रान्तों के प्रति ही आस्था रखने वाले सौत्रान्तिक माने जाते हैं। **धर्मोत्तर** तथा **यशोमित्र** इस सम्प्रदाय के प्रतिनिधि माने जाते हैं।

(iii) **माध्यमिक**– इसके अनुसार यह जगत् शून्य है। बाह्य तथा आन्तर सभी विषय असत् हैं। इसीलिये इस मत को **शून्यवाद** कहा गया। यह बौद्धदर्शन का एक मानक सिद्धान्त है। इसके प्रवर्तक **नागार्जुन** थे। नागार्जुन ने एक विशिष्ट ग्रन्थ में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिस ग्रन्थ को मध्यमकशास्त्र कहा जाता है तथा इस सिद्धान्त के अनुयायी को माध्यमिक कहा गया।

(iv) **योगाचार**– इसका अर्थ है योग का अभ्यास करने वाला। इसे विज्ञानवादी भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल विज्ञान या विज्ञप्ति (चेतना) ही वास्तविक है। कोई बाह्य पदार्थ नहीं होता, केवल आन्तरिक चेतना को ही भ्रमवश बाह्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। **मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, स्थिरमति** एवं **शीलभद्र** इस सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण विचारक थे।

वादविद्या से सम्बद्ध होने के कारण **वसुबन्धु** का नाम प्रथित है। किन्तु बौद्धन्याय के सूत्रधार **दिङ्नाग** बौद्ध सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रतिभाशाली आचार्य थे। इनका **प्रमाणसमुच्चय** नामक ग्रन्थ भारतीय दर्शनशास्त्र की अमूल्य निधि है। एतदनन्तर **धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील, रत्नकीर्ति** आदि हुए जिन्होंने बौद्ध सिद्धान्त का परिवर्धन एवं सम्पोषण किया।

Scanned with CamScanner

(ग) **जैन दर्शन**- बौद्ध दर्शन की तरह जैन भी धार्मिक विश्वास से जुड़ा सिद्धान्त है। ऋग्वेद में वृषभ, ऋषभ आदि नामों के प्रयोग के कारण इसका उद्भव बौद्धदर्शन से पूर्व ऋग्वैदिक काल में ही हो चुका था- ऐसा माना जाता है। ऋषभदेव इनके प्रवर्तक माने जाते हैं तथा महावीर चौबीसवें व अन्तिम तीर्थंकर हैं। इनके दो सम्प्रदाय हैं- श्वेताम्बर एवं दिगम्बर। इन दोनों सम्प्रदायों का अन्तर मताग्रह का उतना नहीं है जितना आनुष्ठिक क्रियाकलाप का। आधारभूत सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों में कुछ विचारों के अतिरिक्त प्रायः सहमति है।

अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीनय, सत्सिद्धान्त, पुद्गल सिद्धान्त, जीववाद, नयविचार आदि इस दर्शन-चिन्तन के प्रमुख सिद्धान्त हैं। कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वाति, सिद्धसेनदिवाकर, अकलंक, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, वादिदेव, मल्लिषेण, अकलंकदेव, हरिभद्र आदि इस दर्शनसम्प्रदाय के प्रमुख विचारक थे। तत्त्वार्थसूत्र, पञ्चास्तिकायसार, सम्मतितर्कशास्त्र, प्रमाणसंग्रह तत्त्वार्थराजवार्तिक, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादरत्नाकर आदि इसके प्रमुख ग्रन्थ हैं।

जैन एवं बौद्ध दोनों-

(i) ब्राह्मणवाद के विरोधी हैं,

(ii) वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते हैं तथा

(iii) किसी सर्वशक्तिमान् सर्वोच्च ईश्वर की सत्ता का प्रबल विरोध करते हैं।

(iv) आचार की दृष्टि से दोनों अहिंसा के प्रबल पक्षधर थे।

6. **अन्य वर्गीकरण**- उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी प्रणालीगत कुछ वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। जैनाचार्य हरिभद्र ने अपनी दार्शनिक कृति षड्दर्शनसमुच्चय में भारतीय दर्शन की छः प्रणालियों का विवरण दिया है, ये हैं- बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक एवं मीमांसा। उनका यह भी दृढ कथन है कि इन छः प्रणालियों के अन्तर्गत दर्शन के सभी रूप आ जाते हैं तथा दर्शनों की संख्या न इससे कम है न अधिक। इससे भिन्न हरिभद्र ने यह कहकर एक वैचारिक क्रान्ति ला दी कि ये छः दर्शन ही आस्तिक हैं।

भारतीय दार्शनिक धारणाओं का दूसरा सर्वाधिक प्रथित एवं लोकप्रिय संग्रह माधवाचार्य का **सर्वदर्शनसंग्रह** है। इस ग्रन्थ में सोलह दार्शनिक

Scanned with CamScanner

सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है जहाँ आस्तिक अथ च नास्तिक विचारों का विभाजनगत कोई विरोध प्राप्त नहीं होता। माधवाचार्य के अनुसार ये सम्प्रदाय हैं-

(क) चार्वाक
(ख) बौद्ध
(ग) अर्हत् (जैन)
(घ) रामानुज (विशिष्टाद्वैत)
(ङ) पूर्णप्रज्ञ
(च) नकुलीश पाशुपत
(छ) शैव
(ज) प्रत्यभिज्ञा
(झ) रसेश्वर
(ञ) औलूक्य (वैशेषिक)
(ट) अक्षपाद (न्याय)
(ठ) जैमिनीय (पूर्वमीमांसा)
(ड) पाणिनीय (व्याकरण)
(ढ) सांख्य
(ण) पातञ्जल (योग)
(त) शांकर (अद्वैत वेदान्त)

ऐसा प्रतीत होता है कि माधव ने अपने समकालीन दर्शन की समस्त प्रणालियों का संग्रह अपनी इस दीर्घकाय कृति में कर दिया है। उन्होंने आस्तिक एवं नास्तिक विवाद से भी कदाचित् अपने इस ग्रन्थ को बचाये रखा है, पुनरपि चार्वाक, बौद्ध एवं जैन का प्रारम्भ में विवेचन कर इस ओर संकेत अवश्य दिया है, जब कि जैनाचार्य हरिभद्र ने इस परम्परा को न केवल तोड़ा प्रत्युत उन दर्शनों को आस्तिक भी कहा जिन्हें परम्परा नास्तिक मानती है।

आस्तिक सम्प्रदाय के दर्शनों का, उनके सैद्धान्तिक ऐक्य के आधार पर युग्म सा बन गया है। यथा- सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त, न्याय-वैशेषिक। इनके सिद्धान्तों में उक्त ऐक्य के पीछे सामान्यतया यही तर्क देखने को मिलता है कि इन युग्मों ने परस्पर तत्त्वमीमांसा या प्रमाणमीमांसा को स्वीकार कर लिया है। यह कथन मीमांसा एवं वेदान्त के विषय में सत्य नहीं है। ये समस्त दर्शन स्वयं को वैदिक सिद्धान्त पर आधारित मानते हैं।

अस्तु, परम्परा से प्राप्त आस्तिक विचारधारा का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

(क) साङ्ख्य- सांख्य दर्शन सामान्यतः भारतीय दर्शन की समस्त प्रणालियों में सर्वाधिक प्राचीन है। महाभारत में इस दर्शन का उल्लेख प्राप्त होता है। कपिल मुनि सांख्य के प्रणेता माने जाते हैं। इस दर्शन के अन्य प्राचीन आचार्य आसुरि, पञ्चशिख, सनक, वाचस्पति मिश्र आदि हैं। कपिल

Scanned with CamScanner

के सांख्यसूत्र के अतिरिक्त इसका सबसे प्राचीन व प्रामाणिक ग्रन्थ **ईश्वरकृष्ण** विरचित **सांख्यकारिका** है। यह संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से इस दर्शन का सैद्धान्तिक प्रतिपादन करता है। यह दर्शन द्वैतवादी है तथा **पुरुष** एवं **प्रकृति** दो परम सत्ताओं को मानता है। यह पुरुष नित्य एवं चेतन के साथ-साथ अनेक हैं। प्रकृति में तीन गुणों- सत्त्व, रजस् एवं तमस् का पूर्ण सन्तुलन होता है- **गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः।** कार्य एवं कारण के लिये इनका अमरसिद्धान्त **सत्कार्यवाद** है, जो कारण में ही कार्य की सत्ता मानता है। इसके अतिरिक्त इसकी कुछ अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

(i) यह दर्शन निरीश्वर है।

(ii) यह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीनों प्रमाणों को मानता है।

(iii) यह पच्चीस तत्त्वों को मानता है।

वार्षगण्य, गौडपाद, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, विन्ध्यवासी आदि इसके अन्य प्रमुख आचार्य हुए हैं। सांख्यकारिका पर वाचस्पति मिश्र की **तत्त्वकौमुदी** टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है।

(ख) **योग**- सामान्यतः योग दर्शन को सांख्य से घनिष्ठरूपेण सम्बद्ध माना जाता है। एक विवादपूर्ण चिन्तन के अन्तर्गत **पतञ्जलि** को इसका प्रवर्तक माना गया है। इन्होंने अपने **योगसूत्र** में समस्त योगदर्शन को समाविष्ट किया है। यह दर्शन अपने व्यावहारिक पक्ष की प्रबलता के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। यह पूर्ण ज्ञान एवं अन्तिम मुक्ति प्राप्त करने के लिये योग के अभ्यास पर बल देता है। इस अभ्यास प्रक्रिया को अष्टांग योग कहा गया है। ये हैं- **यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधि।** यह सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के साथ-साथ ईश्वर को भी मानता है। सांख्य ईश्वर को नहीं मानता। योग के अनुसार- **क्लेशकर्मपुरुषविपाकाशयैरपरामृष्टपुरुषविशेष ईश्वरः** (यो०सू०)। यही कारण है कि योग दर्शन को सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है।

योगसूत्र पर **व्यासभाष्य** नामक एक टीका उपलब्ध होती है। **वाचस्पतिमिश्र** ने इस पर एक **तत्त्ववैशारदी** टिप्पणिका लिखी है। **विज्ञानभिक्षु** के भी दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं- **योगवार्तिक** तथा **योगसारसंग्रह।** **विज्ञानभिक्षु** ने इस दर्शन की व्याख्या औपनिषदिक पूर्वाग्रह से की है।

Scanned with CamScanner

(ग) **पूर्वमीमांसा**– मीमांसा भारतीय दर्शन की एकमात्र ऐसी प्रणाली है जो वेदों से अत्यन्त घनिष्ठ रूप में जुड़ी हुई है। इसके प्रणेता **आचार्य जैमिनि** हैं। जिन्होंने **मीमांसासूत्र** की रचना की। इस ग्रन्थ पर प्राचीनतम उपलब्ध भाष्य **शबर** का है जो **शाबरभाष्य** कहलाता है। **कुमारिलभट्ट** एवं **प्रभाकर मिश्र** इस सम्प्रदाय के दो सर्वाधिक महान् दार्शनिक हुए। इसी के अनुरूप मीमांसकों के दो सम्प्रदाय हुए– **भाट्ट** और **प्राभाकर**। इन दोनों की रचनाएँ क्रमशः **बृहती** तथा **श्लोकवार्तिक** हैं। इनके अतिरिक्त शालिकनाथ, पार्थसारथि मिश्र, मण्डन मिश्र, लौगाक्षिभास्कर आदि इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्य हुए हैं। सहरसा मण्डलान्तर्गत माहिष्मती (महिषी) ग्राम के मान्य मण्डन मिश्र के साथ ही शंकराचार्य का जगद्विजयी शास्त्रार्थ हुआ था– ऐसा माना जाता है।

यह सम्प्रदाय कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है। कर्म एवं कर्मफल के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये इसने एक अपूर्व' की कल्पना की है। किसी आदेश में ऐसा कुछ हो जो अन्यथा ज्ञान न हो तो उसे **अपूर्व विधि** कहते हैं। मीमांसकों का यह भी मानना है कि वैदोक्त बलिकर्म से एक विशेष प्रकार की शक्ति का जन्म होता है जो पहले विद्यमान नहीं होती तथा यह तब तक बनी रहती है जब तक कि उसका फल न मिल जाए, यह शक्ति अपूर्व कहलाती है।

(घ) **उत्तरमीमांसा अथ** वा वेदान्त– वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है **वेदों का अन्त** अर्थात् उपनिषद्, जो वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग हैं। एक दार्शनिक प्रणाली के रूप में यह दर्शन उपनिषदों के आधारभूत सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन करता है, इसे **उत्तरमीमांसा** भी कहा जाता है क्योंकि यह वेदों के बाद वाले भाग की व्याख्या करता है। उपनिषदों में उपलब्ध सामग्री से एक सुसंगत दर्शन विकसित करने का सर्वप्रथम प्रयास **बादरायण** ने **ब्रह्मसूत्र** में किया।

इस दर्शन प्रस्थान की कई शाखाएँ हैं– अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि। इनके व्याख्याता क्रमशः शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ तथा बलदेव विद्याभूषण हैं। प्राचीन प्रस्थानत्रयी से अभिहित उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र वेदान्तसम्प्रदाय के प्रमुख आधारग्रन्थ हैं। ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य ने एक प्रसिद्ध भाष्य लिखा जो **शारीरकभाष्य** नाम से जाना जाता है। इनका यह भाष्य ही मूलरूप से

Scanned with CamScanner

अद्वैतवेदान्त का प्रतिष्ठापक माना गया। यह प्रस्थान एकमात्र ब्रह्म की सत्ता में विश्वास रखता है- **ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।** अर्वाचीन प्रस्थानत्रयी **श्रीहर्ष** विरचित **खण्डनखण्डखाद्य**, **चित्सुखाचार्य** की **चित्सुखी** तथा **मधुसूदन सरस्वती** की **अद्वैतसिद्धि** अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं।

(ङ) **न्याय**- न्यायदर्शन भारतीयचिन्तन का अत्यन्त प्रभावी दर्शन है। इसके प्रभाव का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि न केवल दार्शनिक विवेचना में अपि तु स्मृति, काव्य एवं व्याकरण जैसी अध्ययन की अन्य शाखाओं में इस दर्शन की व्याख्यापद्धति एवं शब्दावली का प्रयोग होता रहा है। ऐसा माना जाता है कि विना न्याय पढे कोई विद्वान् माना ही नहीं जाता। यह एक प्राचीन परम्परा है कि संस्कृत के विद्यार्थियों को प्रारम्भ से ही **लघुसिद्धान्तकौमुदी** तथा **तर्कसंग्रह** से विद्याध्ययन का आरम्भ करवाया जाता है। न्याय का बोध हो जाने पर सारे शास्त्रों में सरलता से प्रवेश हो जाता है। कहा भी जाता है कि-

गौतमप्रथितं शास्त्रं सर्वशास्त्रोपकारकम्।

इस शास्त्र को प्रमाणशास्त्र या तर्कशास्त्र भी कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में यह धारणा प्रचलित है कि सार्वजनिक वाद-विवाद की कला और पद्धति के अध्ययन से इसकी उत्पत्ति हुई।

न्यायदर्शन के प्रणेता **गौतम** ऋषि हैं। इन्हें मेधातिथि तथा अक्षपाद भी कहा जाता है। इस विषय में कई उद्धरण भी प्राप्त होते हैं। यथा-

(क) **मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्**- प्रतिमानाटकम् पञ्चम अङ्क।

(ख) **गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै**- पद्मपुराण।

(ग) वाचस्पति ने **अक्षपाद** को न्यायशास्त्र का प्रणेता कहा है।

अन्यत्र न्याय को **गौतमवाणी** कहा गया है। यहाँ यह समझा जाना चाहिए कि **गौतम** एवं **अक्षपाद** एक ही व्यक्ति है।

न्यायशास्त्र अपनी आरम्भिक अवस्था में **आन्वीक्षिकी विद्या** नाम से प्रसिद्ध था। आन्वीक्षिकी का अर्थ है- **प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणम् अन्वीक्षा तया वर्तते इति आन्वीक्षिकी।** वस्तुतः तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुसन्धान ही आन्वीक्षिकी है। वात्स्यायन ने इसका उल्लेख किया है- **सेयमान्वीक्षिकी न्यायतर्कादिशब्दैरपि व्यवह्रियते।**

Scanned with CamScanner

इस सन्दर्भ में यहाँ न्याय के प्राप्त अर्थों को जान लेना आवश्यक है। इस शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। तद्यथा-

(क) **नियमेन ईयते** इस व्युत्पत्ति से न्याय का अर्थ है नियमयुक्त व्यवहार। न्यायालय, न्यायाधीश आदि का प्रयोग इसी अर्थ में होता है।

(ख) प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ 'सदृश' अथ वा लोकव्यवहार के अर्थ में भी न्याय शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा- बीजांकुरन्याय, स्थालीपुलाकन्याय, घुणाक्षरन्याय आदि।

(ग) दर्शन जगत् में न्याय का अर्थ है- **नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः**। अर्थात् जिसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके, जिसकी सहायता से किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके।

(घ) **उद्योतकर** के अनुसार समस्त प्रमाणों के व्यापार के द्वारा किसी निष्कर्ष का प्राप्त होना ही न्याय है- **समस्तप्रमाणव्यपारादर्थाधिगतिर्न्यायः**।

इस प्रकार प्रमाण के द्वारा जहाँ पदार्थ का विवेचन किया गया हो, वहाँ उन सभी विषयों मे न्याय की व्याप्ति हो जाती है। यही कारण है कि जैन, मीमांसा प्रभृति दार्शनिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों के नामों में भी न्याय शब्द प्रयोग में दिखता है। यथा- न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायरत्नाकर आदि। इनस्थलों पर न्याय शब्द का अर्थ है **युक्तिसंगत विवेचन**।

किन्तु, इस विशेष प्रसंग में न्याय वास्तव में **गौतमीय दर्शन** के अर्थ में रूढ हो गया। यह एक तर्कप्रधान शास्त्र है। वात्स्यायन ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है- **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः**।

इस दर्शन का उद्देश्य है प्रमाण के द्वारा ज्ञान के सत्यासत्य की परीक्षा करना। इसलिये इसे **प्रमाणशास्त्र** भी कहा जाता है। प्रमाण-लक्षण के द्वारा वस्तुसिद्धि की यथार्थरीति निर्धारित करना ही न्यायशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है।

ऐसा माना जाता है कि कुतर्कियों से वेद की रक्षा के लिये ही इस शास्त्र का उदय हुआ। **सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार** ने ऐसा उद्घोष किया है-

नैयायिकस्य पक्षोऽयं संक्षेपात्प्रतिपद्यते।
यत्तर्करक्षितो वेदो ग्रस्तः पाषण्डदुर्जनैः॥

यह दर्शन प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों को मानता है। यह जीवों की बहुलता को स्वीकार करता है तथा ईश्वर में पूर्ण आस्था रखता है। इस

Scanned with CamScanner

प्रणाली के अनुसार मोक्ष समस्त पीडाओं एवं दुःखों के पूर्ण एवं परम निषेध की अवस्था है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चार प्रमाणों के आधार पर यह समस्त सृष्टि की व्याख्या प्रस्तुत करता है। न्याय का कार्यकारण सिद्धान्त **असत्कार्यवाद** अथवा **आरम्भवाद** कहलाता है।

न्यायदर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ **न्यायसूत्र** है जिसके रचयिता गौतम हैं। इस दर्शन के अन्य आचार्य एवं उनकी रचनाएँ इस प्रकार है-

1. **वात्स्यायन**- गौतम के **न्यायसूत्र** पर प्राचीनतम टीका **वात्स्यायन** कृत **न्यायभाष्य** है, इसे **वात्स्यायन भाष्य** भी कहा जाता है। जैकोबी के अनुसार **वात्स्यायन** का समय 300 ई० है। इन्हें **पक्षिलस्वामिन्** भी कहा जाता है। **वात्स्यायन** कदाचित् इनका गोत्र नाम रहा होगा। यह भी कहा जाता है कि **कामसूत्र** के लेखक **वात्स्यायन** तथा न्यायभाष्यकर्ता एक ही व्यक्ति हैं। अस्तु, न्यायसूत्र के रहस्यों को सुलझाने वाले प्राचीनतम दार्शनिक **वात्स्यायन** ही थे।
2. **उद्योतकर**- न्यायसूत्र के ऊपर लिखे गये **वात्स्यायनभाष्य** पर उद्योतकर ने टीका लिखी है। इनका समय 635 ई० माना जाता है। **उद्योतकर** ने इस टीका **न्यायवार्त्तिक** की रचना बौद्ध विचारक **दिङ्नाग** की आलोचना से न्यायदर्शन की रक्षा करने के लिये की थी। **सुबन्धु** की **वासवदत्ता** में **उद्योतकर** का उल्लेख प्राप्त होता है। इन्होंने अपनी इस **न्यायवार्त्तिकटीका** में न्याय के अनेक सिद्धान्तों की नूतन व्याख्या दी है तथा यथास्थान बौद्ध मतों का खण्डन भी किया है।
3. **वाचस्पति मिश्र**- भारतीय दर्शन के महान् विद्वान् वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी थे। इन्होंने दर्शनपरक कई महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य ग्रन्थों की रचना की। न्याय के क्षेत्र में इनका विशिष्ट अवदान **न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका** है, जो उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर लिखी गयी टीका है। वार्तिक के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये ही उन्होंने यह टीका लिखी क्योंकि अनेक अन्य हीन ग्रन्थों के कारण इसका अन्तस्तत्त्व मलिन सा होता जा रहा था। वाचस्पति मिश्र भारतीय दर्शन की समस्त प्रणालियों पर समान अधिकार रखते थे, यही कारण है कि इन्हें **षड्दर्शनवल्लभ** या **सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र** कहा जाता है।
4. **उदयन**- भारतीय दर्शन क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाओं में अग्रगण्य नैयायिक उदयन भी मिथिलावासी थे। इन्होंने स्वयं अपना काल 906 शक संवत्

Scanned with CamScanner

(984ई0) बताया है। **लक्षणावली** नामक अपनी लघु कृति में उन्होंने वैशेषिक दर्शन के तत्त्वों का परिचय दिया है। इसी में उन्होंने अपना कालविषयक विवरण भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने वाचस्पति मिश्र की **तात्पर्यटीका** पर **परिशुद्धि** नामक टीका लिखी। न्यायदर्शन पर उदयन विरचित अन्य तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं- **न्यायपरिशिष्ट**, **आत्मतत्त्वविवेक** एवं **न्यायकुसुमाञ्जलि**। उदयन ने **प्रशस्तपादभाष्य** पर भी **किरणावली** नाम से अपनी महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है।

5. **जयन्त भट्ट**- इनका अनुमानित समय 850-910 ई0 के बीच है। उनकी **न्यायमञ्जरी** यद्यपि न्यायदर्शन की एक टीका मानी जाती है, तथापि भारतीय दर्शन में यह एक महत्त्वपूर्ण अवदान है। यह न्याय के चुने हुए सूत्रों पर एक स्वतन्त्र टीका है। न्यायमतों की स्थापना के साथ-साथ यह एकदेशी तथा सिद्धान्ती मत का एक मौलिक शोधग्रन्थ है जो न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में स्वतन्त्र रचना का मार्ग प्रशस्त करता है। उनकी लेखनशैली चुटीली, सशक्त एवं कहीं-कहीं व्यङ्ग्यात्मक भी है।

6. **भासर्वज्ञ**- ये कश्मीरी ब्राह्मण थे। इन्होंने न्याय दर्शन पर **न्यायसार** नाम का एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ लिखा, जो कई स्थलों पर न्याय-दर्शन की स्थापित परम्परा का उल्लङ्घन करता है। जैसे- न्यायानुमोदित चार प्रमाणों को न मानकर ये तीन ही प्रमाणों को मानते हैं। इस ग्रन्थ पर उन्होंने स्वयं ही **न्यायभूषण** नामक टीका भी लिखी।

7. **विश्वनाथ**- विश्वनाथ ने **न्यायसूत्र** पर **वृत्ति** नामक एक स्वतन्त्र एवं संक्षिप्त टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने न्यायवैशेषिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के लिये सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति **कारिकावली** की रचना की। इसी का अन्य नाम **भाषापरिच्छेद** है। इसमें १६८ कारिका हैं। इस पर उन्होंने सिद्धान्तमुक्तावली नामक टीका लिखी, जो **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** नाम से प्रसिद्ध है।

बारहवीं सदी के आसपास न्यायदर्शन में एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति आयी। इस क्रान्ति को **नव्यन्याय** नाम से जाना जाता है। नव्य-न्याय को तर्कशास्त्र भी कहा जाता है। इसमें शब्दावली, विषय की सटीकता तथा परिभाषाओं के परिष्कार पर विशेष ध्यान दिया गया। यह विषय के लक्षण को निर्दुष्ट बनाने के लिये अन्तिम सीमा तक जाने का सफल प्रयास करता है। इसमें न्यायवैशेषिक की सामान्य रूपरेखा को स्वीकार तो किया गया, किन्तु

Scanned with CamScanner

विवेचना जटिलता के साथ-साथ विस्तारपूर्ण होती चली गयी है। इसकी भाषा संस्कृत होती हुई भी एक भिन्न ही भाषा प्रतीत होती है जिसका सामान्य संस्कृत से कोई साम्य नहीं है।

प्राचीन न्याय मुख्यत: पदार्थ शास्त्र था जब कि नव्य न्याय प्रमाण शास्त्र हो गया। प्राचीन न्याय में जहाँ उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा का व्यवहार था वहाँ नव्य-न्याय में अवच्छेदक-अवच्छेद्य, निरूपक-निरूप्य, अनुयोगी-प्रतियोगी, विषयता-प्रकारता आदि नूतन शब्दों का प्रयोग होने लगा। परिणामत: न्याय की भाषा अत्यन्त दुरूह व क्लिष्ट हो गयी।

बाद में, नव्यन्याय की शब्दावली एवं प्रविधि को किसी भी सूक्ष्म अथ वा गम्भीर विचार की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन माना गया तथा व्याकरण, वेदान्त, साहित्य एवं धर्मशास्त्र के साथ-साथ प्राय: सारे परवर्ती दार्शनिकों ने इसे अपनाया। **गंगेश उपाध्याय**, जो मिथिला के निवासी थे, ने इस नव्यन्याय का प्रणयन किया। उनका **तत्त्वचिन्तामणि** इस नव्य परम्परा का गौरवग्रन्थ माना जाता है। सोलहवीं सदी तक मिथिला में नव्यन्याय का वर्चस्व रहा। इस अन्तराल में मिथिला में एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान् **पक्षधर मिश्र** हुए जिन्होंने **तत्त्वचिन्तामणि** पर **आलोक** नामक टीका लिखी। **रघुनाथ शिरोमणि** की **दीधिति** नव्यन्याय की सर्वाधिक पठित टीका है। कालान्तर में बंगाल का नवद्वीप नव्यन्याय का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया, जहाँ वासुदेव सार्वभौम, गदाधर (गादाधरी), जगदीश, मथुरानाथ प्रभृति नव्य-नैयायिक हुए।

(च) **वैशेषिक**- न्याय का ही समानतन्त्र **वैशेषिक दर्शन** है जिसके प्रवर्तक **कणाद** थे। इनके अन्य दो भिन्न नाम भी हैं- **काश्यप** एवं **उलूक**। सामान्य मान्यता के अनुसार, इस दर्शन का उक्त नाम इसलिये पड़ा कि यह **विशेष** नामक पदार्थ को स्वीकार करता है। इसके प्रणेता कणाद का उल्लेख अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह में किया है-

काणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।

पद्मपुराण में भी कणाद का स्पष्ट विवरण मिलता है-

कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।

अन्यत्र भी इसके शास्त्र को काणाद नाम से अभिहित किया गया है-

काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।

शास्त्रों में कहीं कहीं कणाद के लिये उलूक नाम से सम्बोधित किया

Scanned with CamScanner

गया है। **माधवाचार्य** ने **सर्वदर्शनसंग्रह** में वैशेषिक के लिये **औलूक्य-दर्शन** का ही प्रयोग किया है। **कणाद** विरचित **वैशेषिकसूत्र** में 370 सूत्र हैं। इसमें दस अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निकों में विभक्त हैं।

वैशेषिक दर्शन, न्याय से पूर्ववर्ती माना जाता है। गौतमीय नयाय की तरह ही इस दर्शन का भी विशिष्ट लक्ष्य है। इसका लक्ष्य 'धर्म की व्याख्या' करना है- **अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः**। इस दर्शन में धर्म का एक विशिष्ट लक्षण है- **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः**। अर्थात् जिससे इहलौकिक व पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो वही धर्म है। **इस दर्शन की मूल प्रस्थापना यह है कि ज्ञेय संसार की मूलतः वस्तुगत एवं वास्तविक सत्ता है।** इसके अनुयायी इसकी बुद्धिगत व्याख्या देने का प्रयास करते हैं। इस सन्दर्भ में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव नामक सात पदार्थों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है।

वे प्रत्येक अस्तित्वमान् वस्तु को पदार्थ कहते हैं। इनका कहना है कि संसार के प्रत्येक वस्तु की अपनी विशिष्ट सत्ता है। प्रत्येक परमाणु परस्पर भिन्न है। वेदान्त की दृष्टि में सारी वस्तुएँ मूलतः एक हैं। किन्तु वैशेषिक इस मौलिक एकता को स्वीकार नही करता। इस दर्शन का मत है कि वस्तुओं की अनेकता और भिन्नता ही मूल तत्त्व है। अन्यान्य पदार्थों में पाया जाने वाला समान गुण उसका सामान्य कहलाता है तथा वह विशिष्ट सत्ता जो एक वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् करे, विशेष कहलाती है। वस्तुतः पदार्थों का अन्तिम अवशिष्ट अंश ही उसका विशेष है- **अन्त्यावशेषः विशेषः**।

सैद्धान्तिक क्षेत्र में इसका सर्वाधिक विशिष्ट अवदान **परमाणुकारणवाद** है। **तदनुसार** जगत् के मूल उपादान परमाणु हैं। पृथक् पृथक् परमाणुओं के संयोग से पृथक् पृथक् वस्तुएँ बनी हैं। ये परमाणु नित्य हैं तथा इनका कभी विनाश नहीं हो सकता। इस दर्शन के अन्य विशिष्ट सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

(क) **असत्कार्यवाद-** यह दर्शन जगत् का सर्वाधिक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण कार्य से उत्पन्न होता है। कार्य अनित्य है। उत्पत्ति से पहले कार्य का अभाव रहता है तथा कार्य के विनाश के पश्चात् पुनः उसका अभाव हो जाता है।

(ख) **अनेकात्मवाद-** इस वाद का सम्बन्ध जीवात्मा से है। इसके अनुसार आत्मा अनेक हैं। अपने अपने अदृष्ट के अनुसार कर्मों के फलों के

Scanned with CamScanner

भोग के लिये ही वे उपयुक्त शरीर धारण करते हैं।

(ग) **सृष्टिवाद**- विना कारण के कार्य नहीं होता। यह जगत् भी एक कार्य है तथा इसका कर्ता ईश्वर है। जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी आदि उपादानों को लेकर घट आदि का निर्माण करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी परमाणुओं की सहायता से इस जगत् की सृष्टि करता है।

(घ) **मोक्षवाद**- मोक्ष का विवेचन प्रायः सारे भारतीय दर्शनों में पाया जाता है। कहीं इसे अपवर्ग तो कहीं कैवल्य तो कहीं निर्वाण नाम दिया गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार जीवों के उनके कर्मानुसार फल देने वाला ईश्वर है। प्रत्येक जीव को अपने कर्म के अनुसार ही शरीर ग्रहण करना पड़ता है। जब तक उनके कर्मफल का भोग शेष रहता है तब तक संसार में उनका आवागमन सतत होता रहता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य कर्मचक्र का परित्याग कर आवागमन के बन्धन से विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार उनको सारे दुःखों से निवृत्ति मिल जाती है। यही मोक्ष है।

वैशेषिक दर्शन के परिवर्धन एवं सम्पोषण में निम्नांकित प्रमुख आचार्यों का विशिष्ट योगदान है।

1. **प्रशस्तपाद**- वैशेषिक दर्शन की प्रथम विस्तृत व्याख्या करने वाले प्रशस्तपाद ही थे। वैशेषिकसूत्र पर किया गया प्रथम एवं प्रामाणिक भाष्य प्रशस्तपादप्रणीत **पदार्थधर्मसंग्रह** है। इसका बहुप्रचलित नाम **प्रशस्तपादभाष्य** है। यह ग्रन्थ वैशेषिक सूत्रों का भाष्य न होकर भी वैशेषिक मन्तव्यों के ज्ञान का प्रमुख साधन है। इस दर्शन का प्रवेशद्वार यद्यपि वैशेषिक सूत्र को माना जाता है, किन्तु अपने आप स्पष्ट नहीं होने के कारण इस दर्शनप्रस्थान का वास्तविक प्रवेशद्वार प्रशस्तपादभाष्य ही है। अपने भाष्य ग्रन्थ में प्रशस्तपाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया है।

   इसके ऊपर कई आचार्यों ने टीकाएँ की हैं। इन टीकाओं में **व्योमशिवाचार्य** की **व्योमवती**, **उदयन** की **किरणावली**, **श्रीधर** की **न्यायकन्दली**, **वल्लभाचार्य** की **न्यायलीलावती**, **जगदीश भट्टाचार्य** की **सूक्तिटीका** तथा **पद्मनाभ मिश्र** की **सेतुटीका** प्रमुख हैं।

2. **शंकर मिश्र**- इन्होंने वैशेषिक सूत्रों पर अत्यन्त सरल एवं सुबोध किन्तु विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा है। **उपस्कारभाष्य** नाम से प्रचलित यह एकमात्र

सूत्रानुसारी व्याख्या ग्रन्थ है। इन्होंने **कणादरहस्य** नाम से एक और वैशेषिक ग्रन्थ की रचना की।

3. **चन्द्राचार्य**– इन्होंने प्रशस्तपादानुमित 6 पदार्थों में 4 अन्य पदार्थों की उद्भावना कर 'दशपदार्थी' की रचना की। सम्प्रति यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। 648 ई0 में किया गया इसका चीनी अनुवाद मात्र ही प्राप्त होता है।

4. **शिवादित्य मिश्र**– 'सप्तपदार्थी' एवं 'लक्षणमाला' नामक इसके दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनका सप्तपदार्थी वैशेषिक का उपयोगी सारग्रन्थ है।

न्याय एवं वैशेषिक प्रणालियाँ अपने सिद्धान्तों एवं विवेचन प्रक्रिया के कारण परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं तथा समय के साथ-साथ ये वस्तुतः एक ही प्रणाली बन गयीं तथा संयुक्त रूप से एक ही नाम न्याय-वैशेषिक नाम से जानी जाने लगी। इस संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का उदय वात्स्यायन से ही हो चुका था। पुनरपि इसका औपचारिक संश्लेषण दसवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। इसी परम्परा में परिवर्धित दो उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं– **वरदराजकृत तार्किकरक्षा** एवं **केशवमिश्रकृत तर्कभाषा**। पुनरपि न्याय-वैशेषिक दर्शन के सर्वाधिक लोकप्रिय प्रकरण ग्रन्थ हैं– **विश्वनाथ-पञ्चाननकृत कारिकावली** जिसे **भाषापरिच्छेद** भी कहा जाता है, इस पर लेखक ने स्वयं **मुक्तावली** नामक टीका लिखी। इसके अतिरिक्त **जगदीश तर्कालंकार** का **तर्कामृत** तथा **लौगाक्षिभास्कर** की **तर्ककौमुदी**, ये **न्यायमुक्तावली** पर अन्य टीकाएँ हैं।

न्यायवैशेषिक के सिद्धान्तों को निर्बाध गति से आगे बढ़ाने वाले आचार्यों की कृतियों की क्रमिक सूची निम्न तालिका में प्रस्तुत की जा रही है–

ग्रन्थकर्ता	कृतियाँ
कणाद	वैशेषिकसूत्र
गौतम	न्यायसूत्र
वात्स्यायन	न्यायभाष्य
प्रशस्तपाद	पदार्थधर्मसंग्रह
उद्योतकर	न्यायवार्तिक
वाचस्पति मिश्र	न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका

Scanned with CamScanner

उदयनाचार्य	लक्षणावली, किरणावली आत्मतत्त्वविवेक, न्यायकुसुमाञ्जलि
जयन्त भट्ट	न्यायमञ्जरी
भासर्वज्ञ	न्यायसार, न्यायभूषण
व्योमशिवाचार्य	व्योमवती
श्रीधराचार्य	न्यायकन्दली
शिवादित्य	सप्तपदार्थी, लक्षणमाला
वल्लभाचार्य	न्यायलीलावती
शशधर	न्यायसिद्धान्तदीप
गंगेशोपाध्याय	तत्त्वचिन्तामणि
पक्षधर मिश्र	आलोक
वरदराज	तार्किकरक्षा
केशव मिश्र	तर्कभाषा
पद्मनाभ मिश्र	सेतुटीका
शंकर मिश्र	उपस्कारभाष्य, कणादरहस्य
चन्द्राचार्य	दशपदार्थी
रघुनाथ शिरोमणि	पदार्थतत्त्वनिरूपणम्, दीधिति
मथुरानाथ	रहस्य
जगदीश मिश्र	सूक्तिटीका, तर्कामृतम्
विश्वनाथ	भाषापरिच्छेद, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
गदाधरभट्ट	व्युत्पत्तिवाद

Scanned with CamScanner

लौगाक्षिभास्कर	तर्ककौमुदी
अन्नम्भट्ट	तर्कसंग्रह,
	तर्कदीपिका
वेणीदत्त	पदार्थमण्डनम्

इस प्रकार 600 ई0पू0 से लेकर 1700 ई0 तक की सुदीर्घ परम्परा में कई ग्रन्थों की रचनाएँ होती रहीं। किन्तु तदनन्तर विदेशियों के निरन्तर आक्रमण और शासन ने यहाँ के विद्वानों की बौद्धिक प्रतिभा व क्षमता ही छीन ली। मौलिक ग्रन्थों की रचना दुष्प्राप्य होने लगी। यदि रचना हुई भी हो तो सम्प्रति वे प्रकाश में नहीं है। किन्तु इन ग्रन्थों के तथ्यों के उद्घाटन के लिये उन्नीसवीं सदी में और उसके बाद विचारात्मक, आलोचनात्मक तथा समन्वयात्मक ग्रन्थों की रचना की परम्परा प्रारम्भ हो गयी।

8. **अन्नम्भट्ट का जीवन एवं काल**- संस्कृत के अन्य प्राचीन व पारम्परिक विद्वानों की तरह अन्नम्भट्ट का भी काल विवाद का ही विषय है। कदाचित् ये विद्वान् अपने विषय में कुछ भी लिखना, पाश्चात्य विद्वानों की तरह आवश्यक नहीं समझते थे। वैशेषिक पर लिखे ग्रन्थ **तर्कसंग्रह** में लेखक ने अपने समय, स्थान आदि का उल्लेख नहीं किया है।

आधुनिक समालोचकों की व्याख्या के अनन्तर ही इनकी काल-सीमा निर्धारित की जाती है। इनमें भी इन्हें कुछ 15वीं, तो कुछ 17वीं शताब्दी का मानते हैं। पुनरपि सर्वमान्य मत यही है कि अन्नम्भट्ट 17वीं शताब्दी में हुए थे। पाश्चात्य समालोचक जैकोबी तथा वेबर तर्कसंग्रह की दो पाण्डुलिपियों (1712 ई0 तथा 1724 ई0) के आधार पर इन्हें सोमयाजी तिरुमलाचार्य का पुत्र मानते हैं तथा सिद्धान्तकौमुदी, सिद्धान्तरत्नटीका के कर्ता रामकृष्णभट्ट को उनका अग्रज मानते हैं। अन्नम्भट्टकृत भाष्यप्रदीप की व्याख्या उद्योतन की पुष्पिका में इसका एक सन्दर्भ प्राप्त होता है- **इति श्रीमहामहोपाध्यायाद्वैत-विद्याचार्यराघवसोमयाजिकुलावतंसश्रीतिरुमलाचार्यवर्यस्य सूनोरन्नम्भट्टस्य कृतिषु भाष्यप्रदीपोद्यतने।**

ऐसा विश्वास है कि ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे तथा आन्ध्रप्रदेश के गरिकापाद नामक गाँव में उत्पन्न हुए थे। आज भी कृष्णा नदी के तट पर चित्तूर के समीप केशवपुर गाँव में अन्नम्भट्टगोत्रीय ऋग्वेदी ब्राह्मण रहते हैं। कुछ विद्वान् उन्हें कर्णाटदेशीय भी मानते हैं।

Scanned with CamScanner

ऐसा माना जाता है कि उन्होंने काशी में अध्ययन किया था। इससे सम्बद्ध एक आभाणक है कि- **काशीगमनमात्रेण नान्नम्भट्टायते द्विजः** अर्थात् काशी में जाने मात्र से ही कोई अन्नम्भट्ट नहीं बन जाता। वस्तुतः यह कथन उनके वैदुष्य एवं विलक्षण बुद्धि का प्रतिफल है।

अन्नम्भट्ट न्याय एवं वैशेषिक के साथ-साथ वेदान्त एवं व्याकरणशास्त्र के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। बहुप्रथित ग्रन्थ तर्कसंग्रह के अतिरिक्त अन्नम्भट्ट ने दर्शन से सम्बद्ध और भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जिनका नामोल्लेख अग्राङ्कित है-

(क) तर्कसंग्रह पर तर्कसंग्रहदीपिका नामक टीका

(ख) पक्षधरमिश्र विरचित **तत्त्वचिन्तामण्यालोक** ग्रन्थ पर **सिद्धाञ्जन** टीका

(ग) उदयनाचार्य के न्यायपरिशिष्ट पर प्रकाश टीका

(घ) ब्रह्मसूत्र पर मिताक्षरा व्याख्या

(ङ) तन्त्रवार्तिक पर सुबोधिनी सुखसार टीका

(च) अष्टायायी की 'मिताक्षरा' टीका

(छ) कात्यायन के शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य पर भाष्य।

9. तर्कसंग्रह- अन्नम्भट्ट विरचित तर्कसंग्रह न्यायवैशेषिक दर्शन का प्रवेशद्वार है। बच्चों को समझाने के लिये अथ वा न्याय-वैशेषिक के ज्ञान से रहित लोगों को सरलतापूर्वक समझाने के लिये यह एक अनूठी कृति है। दार्शनिक परिचय की दृष्टि से यह वैशेषिक-प्रधान प्रकरण ग्रन्थ है। किन्तु दार्शनिकों के मध्य प्रसिद्धि की दृष्टि से यह न्याय-वैशेषिक विचारधारा की गीता है। अन्नम्भट्ट की यह कृति **बालगादाधरी** कहलाती है क्योंकि इसमें गादाधरीय न्याय का सार प्रस्तुत किया गया है।

नव्य-न्यायशास्त्र के उदय तथा **तत्त्वचिन्तामणि** की रचना के उपरान्त दीधिति, गादाधरी, व्युत्पत्तिवाद प्रभृति दुरूह ग्रन्थों की रचना हुई, जो नव्यन्याय के अध्येताओं के लिये दुष्प्रवेश्य था। इसके सम्यक् व सरलतापूर्वक अध्ययन के लिये तथा न्याय व वैशेषिक शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिये ही अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह की रचना की।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह 'तर्कों का संग्रह' है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है- **तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः**

Scanned with CamScanner

द्रव्यादिसप्तपदार्थाः, तेषां पदार्थानां तर्काणां संग्रहः इति तर्कसंग्रहः । इस प्रकार द्रव्यादि सप्त पदार्थों का इसमें संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है- **तर्क्यतेऽनेनेति तर्कः प्रमाणम्** अर्थात् जिसके द्वारा प्रमेयों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह तर्क अथ वा प्रमाण है। इसमें द्रव्यादि सप्त पदार्थों के साथ-साथ न्यायनिर्दिष्ट चारों प्रमाणों का भी सरल व सारगर्भित वर्णन है।

अतः तर्कसंग्रह को दोनों ही शास्त्रों का प्रवेश ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ यद्यपि सूत्रात्मक नहीं है, किन्तु विषय विवेचन की प्रक्रिया सर्वथा सूत्रात्मक ही प्रतीत होती है। इसकी शब्दावली, भाषा की प्राञ्जलता तथा विवेचन की सरल प्रक्रिया इस ग्रन्थ की विलक्षणता है। उपाधि, व्याप्ति, परामर्श प्रभृति न्याय के पारिभाषिक शब्दों का इतना स्पष्ट एवं सरल विवेचन दुर्लभ है।

10. **तर्कसंग्रह एवं उनकी टीकाएँ**- तर्कसंग्रह पर अन्नम्भट्ट ने स्वयं **दीपिका** नाम टीका लिखी। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह टीका तर्कसंग्रह का पूरक है, क्योंकि जो बातें मूल में अधूरी रह गयी हैं उनकी स्पष्टता **दीपिका** में देखी जा सकती है। इसमें उन्होंने परमाणुवाद, सृष्टिप्रक्रिया, पाकप्रक्रिया प्रभृति प्रायः न्याय-वैशेषिकसम्मत समस्त सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। साथ में, मीमांसक, बौद्ध, चार्वाक, सांख्य, वेदान्त प्रभृति पूर्वपक्ष का भी तार्किक रीति से खण्डन किया है। परम्पराप्राप्त सिद्धान्तों का इन्होंने इसमें अक्षरशः पालन किया है। इसके अतिरिक्त तर्कसङ्ग्रह पर लगभग 35 टीकाएँ उपलब्ध होती हैं।

इन टीकाओं एवं टीकाकारों का विवरण इस प्रकार है-

टीका	टीकाकार
1. तर्कदीपिका	श्रीमदन्नम्भट्ट
2. तर्कसंग्रह 'चन्द्रिका'	श्री मुकुन्दभट्ट गाडगिल
3. सिद्धान्तचन्द्रोदय	श्री कृष्णधूर्जटि दीक्षित
4. तर्कसंग्रह टीका	श्री अनन्त नारायण
5. तर्कसंग्रह टीका	श्री गौरीकान्त
6. तर्कसंग्रह टीका	श्री रमानाथ
7. तर्कसंग्रह टीका	श्री विश्वनाथ

Scanned with CamScanner

8. तर्कसंग्रह टीका	अज्ञात
9. तर्कसंग्रह 'तत्त्वप्रकाश' (नीलकण्ठी)	श्री नीलकण्ठ
10. तर्कसंग्रह 'तरंगिणी'	श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद
11.. तर्कसंग्रह वाक्यार्थ	श्री मध्वगोविन्द हरबल
12. तर्कसंग्रह व्याख्या	श्री मुरारि
13. तर्कसंग्रह 'शंकु'	अज्ञात
14. तर्कसंग्रहोपन्यास	अज्ञात
15. निरुक्ति	श्री जगन्नाथ शास्त्री
16. न्यायचन्द्रिका	श्री केशवभट्ट
17. न्यायबोधिनी	श्री गोवर्धन
18. न्यायबोधिनी	श्री रत्ननाथ शुक्ल
19. न्यायार्थलघुबोधिनी	श्री गोवर्धन रंगाचार्य
20. पदकृत्य	श्री चन्द्रजसिंह (बुध सिंह)
21. बालप्रबोधिनी	श्री रामनारायण
22. भाष्यवृत्ति	श्री मेरुशास्त्री
23. वाक्यवृत्ति	श्री मेरुशास्त्री गोडबोले
24. तर्कचन्द्रिका या प्रभा	श्री वैद्यनाथ गाडगिल
25. हनुमती	श्री व्यासपुत्र हनुमान्
26. भास्करोदया	श्रीलक्ष्मी नृसिंह
27. तर्कसंग्रह टिप्पणी	श्री पट्टाभिराम

Scanned with CamScanner

तर्कसङ्ग्रहः

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम्।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसङ्ग्रहः।।

पदार्थाः कति, कानि च तेषां नामानि?

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमावायाभावाः सप्त पदार्थाः।

द्रव्याणि कति, कानि च तानि?

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

गुणाः कति के च ते?

रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्व-गुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः।

कियन्ति कर्माणि कानि च तानि?

उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि।

सामान्यं कतिविधम्?

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम्।

कियन्तो विशेषाः?

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।

समवायः कतिविधः?

समवायस्त्वेक एव।

Scanned with CamScanner

अभावः कतिविधः?

अभावश्चतुर्विधः। प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावो-ऽन्योन्याभावश्चेति।

पृथिव्याः किं लक्षणं कति च भेदाः?

* तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा। नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा= शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः।

जलस्य किं लक्षणं कति च भेदाः?

शीतस्पर्शवत्य आपः ता द्विविधाः। नित्या अनित्याश्च। नित्या परमाणुरूपाः, अनित्याः कार्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।

तेजसः किं लक्षणम्, कति च भेदाः?

उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधं नित्यमनित्यञ्च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधम्- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधो भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

वायोः किं लक्षणं कति च भेदाः?

रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः- नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसञ्ज्ञां लभते।

Scanned with CamScanner

आकाशस्य किं लक्षणं कतिविधं च तत्?

शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यञ्च।

कालस्य किं लक्षणम्, कतिविधश्च?

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।

दिशः किं लक्षणम्, कतिविधा च सा?

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका विभ्वी नित्या च।

आत्मनः किं लक्षणं कतिविधश्च सः?

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

मनसः किं लक्षणम्, कतिविधं च तत्?

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यञ्च।

रूपस्य किं लक्षणम्, कतिविधञ्च तत्?

* चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तच्च शुक्ल-नील-पीत-रक्त-हरित-कपिश-चित्रभेदात्सप्तविधम्। पृथिवीजलतेजोवृत्ति। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वरशुक्लं जले। भास्वरशुक्लं तेजसि।

रसस्य किं लक्षणम्, कतिविधश्च सः?

रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव।

गन्धस्य किं लक्षणं कतिविधश्च?

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स च द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः।

Scanned with CamScanner

स्पर्शस्य किं लक्षणम् के च भेदाः?

त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः- शीत-उष्ण-अनुष्णाशीतभेदात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि। अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः।

रूपादिचतुष्टयं कुत्र पाकजमपाकजं वा कुत्र?

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम्।

संख्यायाः किं लक्षणम्, कुत्र च सा वर्तते?

एकत्वादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव।

परिमाणस्य किं लक्षणम्, के च तस्य भेदाः?

मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम्। नवद्रव्यवृत्ति। तच्चतुर्विधम्- अणु, महत्, दीर्घं ह्रस्वञ्चेति।

पृथक्त्वस्य किं लक्षणम्?

पृथग्व्यवहारकारणं पृथक्त्वं सर्वद्रव्यवृत्ति।

संयोगस्य किं लक्षणम्?

संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

विभागस्य किं लक्षणम्?

संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

परत्वापरत्वयोः किं लक्षणम्, के च भेदाः?

पराऽपरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिनी। ते द्विविधे- दिक्कृते कालकृते च। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।

Scanned with CamScanner

गुरुत्वस्य किं लक्षणम्?

आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीजलवृत्ति।

द्रवत्वस्य किं लक्षणं के च भेदाः?

आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्ति। तद् द्विविधम्- सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकं जले, नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजन्यं द्रवत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ।

स्नेहस्य किं लक्षणम्, कुत्र च सः?

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः।

शब्दस्य किं लक्षणम् कतिविधश्च सः?

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।

बुद्धेः किं लक्षणम्, कतिविधा च सा?

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा- स्मृतिरनुभवश्च।

स्मृतेः किं लक्षणम्?

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

अनुभवस्य किं लक्षणम्, कतिविधश्च सः?

तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः- यथार्थोऽयथार्थश्च।

यथार्थानुभवस्य किं लक्षणम्?

तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैव 'प्रमा' इत्युच्यते।

Scanned with CamScanner

अयाथार्थानुभवस्य किं लक्षणम्?

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैवाप्रमेत्युच्यते।

यथार्थानुभवभेदाः के?

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः- प्रत्यक्षाऽनुमित्युपमितिशाब्दभेदात्।

तत्करणं कतिविधम्?

तत्करणमपि चतुर्विधम्- प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

करणस्य किं लक्षणम्?

असाधारणं कारणं करणम्।

कारणस्य किं लक्षणम्?

कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्।

कार्यस्य किं लक्षणम्?

कार्यं प्रागभावप्रतियोगि।

कारणं कतिविधम्?

कारणं त्रिविधम्- समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्।

समवायिकारणस्य किं लक्षणम्?

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः।

असमवायिकारणस्य किं लक्षणम्?

कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य।

Scanned with CamScanner

निमित्तकारणस्य किं लक्षणम्?

तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य।

करणस्य निष्कृष्टलक्षणं किम्?

तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम्।

प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणं किम्?

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्।

प्रत्यक्षज्ञानलक्षणं किम्, कतिविधं तत्?

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद् द्विविधम्- निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति।

निर्विकल्पकस्य लक्षणं किम्?

तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यथा किञ्चिदिदमिति।

सविकल्पकस्य लक्षणं किम्?

सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा- डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयमिति।

सन्निकर्षः कतिविधश्च सः?

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः- संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

घट (द्रव्य) प्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः?

चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः।

घट (द्रव्य) रूप प्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः?

घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्।

Scanned with CamScanner

रूपत्व (गुणगतजाति) प्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः?

रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

शब्दप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः?

श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः, कर्णविवरवृत्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

शब्दत्वसाक्षात्कारे कः सन्निकर्षः?

शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

अभावप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः?

अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः, घटाभाववद्भूतलमित्यत्र चक्षुःसंयक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्।

एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तत्करणमिन्द्रियम्, तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

अनुमानस्य किं लक्षणम्?

* अनुमितिकरणमनुमानम्।

अनुमितिः का?

परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः।

परामर्शस्य किं स्वरूपम्?

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा– वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानि' ति ज्ञानमनुमितिः।

Scanned with CamScanner

व्याप्तिः का?

'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरि'ति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।

पक्षधर्मतायाः किं लक्षणम्?

व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

अनुमानं कतिविधम्?

अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च।

किं नाम स्वार्थानुमानम्?

तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः तथाहि– स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ संदिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति– 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते। तस्मात्पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम्।

परार्थानुमानस्य किं स्वरूपम्?

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते तत्परार्थानुमानम्। यथा– "पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथेति।" अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

पञ्चावयवाः के?

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः इत्युदाहरणम्।' तथा चायम् इत्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्।

Scanned with CamScanner

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योः किं करणम्?

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

लिङ्गं कतिविधं किञ्चान्वयव्यतिरेकिलक्षणम्?

लिङ्गं त्रिविधम्- अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा- वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। 'यत्र धूमस्तत्राग्निः यथा- महानसः' इत्यन्वयव्याप्तिः। 'यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रद' इति व्यतिरेकव्याप्तिः।

केवलान्वयिनः किं लक्षणम्?

अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वात्।

केवलव्यतिरेकिणः किं लक्षणम्?

व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा- पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्, यथा- जलम्। न चेयं तथा। तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

पक्षस्य किं लक्षणम्?

सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा- धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः।

सपक्षस्य किं लक्षणम्?

निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा- तत्रैव महानसः।

विपक्षस्य किं लक्षणम्?

निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः।

Scanned with CamScanner

हेत्वाभासाः कतिविधः?

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षाऽसिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः।

सव्यभिचारस्य लक्षणं किं, कतिविधश्च सः?

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स त्रिविधः साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्।

तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा- पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादिति। प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्।

सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा- शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। शब्दत्वं हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति।

अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा- सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति।

विरुद्धस्य किं लक्षणम्?

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा- शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्।

सत्प्रतिपक्षस्य किं लक्षणम्?

यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा- शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दवत्। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद्घटवदिति।

असिद्धः कतिविधः?

असिद्धस्त्रिविधः- आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

Scanned with CamScanner
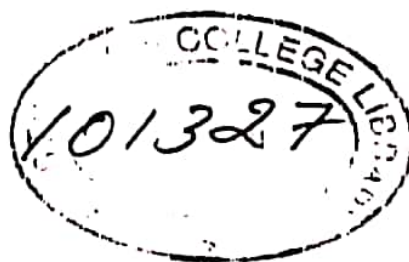
आश्रयासिद्धः कः?

आश्रयासिद्धो यथा- गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव।

स्वरूपासिद्धस्य किं रूपम्?

स्वरूपासिद्धो यथा- शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात् रूपवत्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात्।

व्याप्यत्वासिद्धः कः किञ्चोपाधिस्वरूपम्?

सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधित्वम्। साध्यसमानाधिकरणाऽत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' इत्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि- यत्र धूमः तत्राऽऽर्द्रेन्धन-संयोगो नास्ति, अयोगोलक आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद्वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।

बाधितस्य किं लक्षणम्?

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा- वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्राऽनुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्।

उपमानलक्षणं किम्?

* उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। तथा हि कश्चिद् गवयशब्दार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवयः' इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरम् 'असौ गवयशब्दवाच्यः' इत्युपमितिरुत्पद्यते।

Scanned with CamScanner

शब्दप्रमाणस्य किं स्वरूपम्?

* आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। यथा- गामानयेति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः।

वाक्यार्थज्ञाने के हेतवः?

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। तथा चाकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा- गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम् आकाङ्क्षाविरहात्। अग्निना सिञ्चेदिति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि गामानयेत्यादिपदानि न प्रमाणम् सान्निध्याऽभावात्।

वाक्यं कतिविधम्?

वाक्यं द्विविधम् वैदिकं लौकिकञ्च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्। वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं शब्दः।

अयथार्थानुभवस्य कति भेदाः?

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः- संशयविपर्ययतर्कभेदात्।

संशयस्य किं लक्षणम्?

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः। यथा- स्थाणुर्वा पुरुषो वेति।

विपर्ययः कः?

मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा- शुक्ताविदं रजतमिति।

Scanned with CamScanner

तर्कस्य किं स्वरूपम्?

व्याप्याऽऽरोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा- यदा वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति।

स्मृतिः कतिविधा?

स्मृतिरपि द्विविधा- यथार्थाऽयथार्था च। प्रमाजन्या यथार्था। अप्रमाजन्याऽयथार्था।

सुखस्य किं लक्षणम्?

सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्।

दुःखस्य किं लक्षणम्?

सर्वेषां प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्

इच्छाद्वेषप्रयत्नानां कानि लक्षणानि?

इच्छा कामः। क्रोधो द्वेषः। कृतिः प्रयत्नः।

धर्मस्याधर्मस्य च किं लक्षणम्?

विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः।

आत्ममात्रविशेषगुणाः के?

बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्नाः द्विविधाः नित्या अनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य, अनित्याः जीवस्य।

संस्कारः कतिविधः?

संस्कारस्त्रिविधः- वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्तिः। अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थाऽऽपादकः स्थितिस्थापकः कटादिपृथिवीवृत्तिः। इति गुणाः।

Scanned with CamScanner

कर्मणः किं लक्षणम्?

चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधोदेशसंयोगहेतुरवक्षेपणम्। शरीरसंनिकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम्। विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्ति।

सामान्यस्य किं लक्षणम्?

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद् द्विविधम्– परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादि।

विशेषाणां किं लक्षणम्?

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।

समवायस्य किं लक्षणम्?

नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्ये, एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यथा- अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति।

प्रागभावस्य किं लक्षणम्?

अनादिः सान्तः प्रागभावः। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य।

प्रध्वंसाभावस्य किं लक्षणम्?

सादिरनन्तः प्रध्वंसः उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य।

अत्यन्ताभावस्य किं लक्षणम्?

त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथा- 'भूतले घटो नास्ती' ति।

Scanned with CamScanner

अन्योन्याभावस्य किं लक्षणम्?

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा- घटः पटो नेति।

सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।।

काणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः।।

।इति श्रीमदन्नम्भट्टविरचितस्तर्कसङ्ग्रहः समाप्तः।।

Scanned with CamScanner

अथ तर्कसङ्ग्रहः

तन्वीव्याख्यासहितः

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम्।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसङ्ग्रहः।।

विश्व के स्वामी अर्थात् भगवान् शिव को हृदय में रखकर तथा गुरु की वन्दना करके बालकों के सुखपूर्वक ज्ञान के लिये 'तर्कसंग्रह' की रचना की जा रही है।

तन्वी व्याख्या- भारतीय परम्परा का अनुपालन करते हुए **अन्नम्भट्ट** ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण किया है तथा गुरु की वन्दना करके बालधी के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। सामान्य अवधारणा यह है कि ग्रन्थ की सुखद एवं निर्विघ्न समाप्ति अथ वा अभीष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिये मंगलाचरण करणीय है। **दीपिका** में भी मङ्गलाचरण का यही कारण माना गया है- **ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थम्।**

यहाँ मङ्गलाचरण की प्रामाणिकता अनुमित श्रुति के आधार पर सिद्ध की गयी है। मङ्गलाचरण विधायक श्रुति कहीं स्पष्ट उल्लिखित नहीं है तथापि शिष्टाचारवशात् मङ्गलाचरणयुक्त श्रुति का अनुमान किया जाता है। मङ्गलाचरण की श्रुतिसम्पन्नता के विषय में **दीपिका** निम्न विवेचन करती है-

1. मंगलाचरण श्रुतिसम्मत है क्योंकि प्रथमतः यह एक अलौकिक कृत्य है, पुनश्च

2. यह अविगीत शिष्टाचार का विषय है।

यहाँ अलौकिक से तात्पर्य है असाधारण, लोकोत्तर अथ वा सामान्य विषय न होना तथा अविगीत से तात्पर्य है अनिन्दित होना अथ वा शास्त्रों के द्वारा निषिद्ध न होना।

मङ्गलाचरण के परिप्रेक्ष्य में दूसरा प्रमाण है **अनुमान**। एतदर्थ **अन्नम्भट्ट** का कथन है कि मङ्गलाचरण से प्रारम्भ होने वाले ग्रन्थ चूँकि निर्विघ्न समाप्त हो गये इसलिये मङ्गलपूर्वक ग्रन्थारम्भ निर्विघ्नसमाप्ति का द्योतक है। यद्यपि **किरणावली** में मङ्गलाचरण नहीं है तथापि इसकी निर्विघ्नसमाप्ति

Scanned with CamScanner

देखी जाती है। इसके उत्तर में उन्होंने **दीपिका** में कहा है कि **किरणावली** के लिये मङ्गलाचरण ग्रन्थ के बाहर ही कर लिया गया होगा। **कादम्बरी**, जिसमें मङ्गलाचरण के 20 पद्य हैं, की निर्विघ्न समाप्ति नहीं हो पायी। इस विषय में यह कहा गया है कि **कादम्बरी** की समाप्ति में विघ्नों की बहुलता थी। अतः यह 20 पद्यात्मक मङ्गलाचरण भी विघ्नसमाप्ति के लिये पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ।

यहाँ 'बाल' अथ वा अज्ञानी शब्द के सामान्यतया दो अर्थ लिये जाते हैं। प्रथमतः बालक अर्थात् जिन्होंने अध्ययन प्रारम्भ ही किया है। इस आधार पर इसका अर्थ यह होगा कि वे बालक, जिन्होंने अध्ययन प्रारम्भ ही किया है, उनके लिये **न्यायशास्त्र** में प्रवेश के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ रचा जा रहा है। दूसरा अर्थ 'अज्ञानी' भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा इस **न्याय** एवं **वैशेषिक शास्त्र** के प्रति जो अज्ञानी है, (वह भी यदि इसमें ज्ञान प्राप्त करना चाहता है) उसके लिये यह ग्रन्थ प्रस्तुत है।

इस प्रकार 'बाल' स्पष्टतया इस **तर्कसंग्रह** शास्त्र का अधिकारी है। **अन्नम्भट्ट** के अनुसार जो किसी भी वस्तु को ग्रहण व धारण करने में निपुण है तथा जो दूध पीने वाला शिशु नहीं है, वही यहाँ 'बाल' है- **ग्रहणधारणपटुर्बालः**। **पदकृत्य** टीका में बाल शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है- **अत्राऽधीतव्याकरणकाव्यकोशोऽनधीतन्यायशास्त्रः**' अर्थात् जिसने व्याकरण, काव्य, कोश आदि का तो अध्ययन कर लिया है किन्तु **न्यायशास्त्र** का अध्ययन नहीं किया है।

दीपिका में 'सुखबोधाय' को शास्त्र का **प्रयोजन** बताया गया है। इस क्रम में सुखबोधाय के दो पृथक् अर्थ प्राप्त होते हैं। प्रथम, जैसा कि **अन्नम्भट्ट** ने बताया कि 'सरलतया **न्यायशास्त्र** का ज्ञान कराने के लिये'। **वाक्यवृत्तिकार** ने इसका द्वितीय अर्थ दिया है **सुख-दुःखध्वंसः मोक्ष इति यावत्**। अर्थात् सुख एवं दुःख के विनष्ट होने तक या मोक्ष की प्राप्ति तक।

द्रव्यादि सप्तपदार्थों की व्याख्या करने वाली पुस्तक होने के कारण इसका नाम **तर्कसंग्रह** रखा गया। टीकाकारों ने **तर्क** शब्द की व्युत्पत्ति **तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते** की है। **श्रीजगदीश तर्कालङ्कार** के **तर्कामृत**, **केशव मिश्र** की **तर्कभाषा** आदि में 'तर्क' शब्द की व्युत्पत्ति समान ही है। अत एव इस व्युत्पत्ति **तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः द्रव्यादिषोडशपदार्थाः तेषां संग्रहः** के आधार पर इसका नाम **तर्कसंग्रह** रखा गया।

Scanned with CamScanner

तर्कसंग्रह के 'संग्रह' पद के भी सामान्यतया दो अर्थ किये जाते हैं। प्रथम तो संकलन अर्थ हो सकता है। इस आधार पर यह अर्थ बनेगा कि 'द्रव्य आदि सप्त पदार्थों का जिस शास्त्र में संकलन किया गया है' वह **तर्कसंग्रह** है। 'संग्रह' का दूसरा अर्थ है- सङ्क्षेप में स्वरूपकथन अर्थात् इस शास्त्र में तर्कों अर्थात् पदार्थों का स्वरूप कथन सङ्क्षेपपूर्वक (अतिविस्ताररहित) किया गया है।

वाक्यवृत्तिकार ने इसका भिन्न अर्थ किया है। उसके अनुसार संग्रह के अन्तर्गत उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा आते हैं।

इस सन्दर्भ में इन तीनों का विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

'नाममात्र से पदार्थ का कथन करना उद्देश है- **उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्त्तनम्।** दूसरे शब्दों में नाममात्र का जहाँ परिगणन किया जाता है, वह उद्देश है। जैसे- गन्धवती पृथिवी। किसी पदार्थ का वह धर्म जो केवल उसी पदार्थ में रहे, अन्यत्र न रहे अथ वा असाधारण हो, **लक्षण** कहलाता है- **असाधारणधर्मो लक्षणम्।** जैसे- गाय का सास्नादिमत्त्व अर्थात् गलकम्बल युक्त होना। इसके बाद लक्षण की **परीक्षा** की जाती है अर्थात् जो हमने लक्षण दिया है वह सही अथ वा तर्कसंगत है कि नहीं, इसका विवेचन करना। यही शास्त्र की प्रवृत्ति कहलाती है- **त्रिविधा शास्त्रप्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति।**

इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि मङ्गलाचरण में चार अनुबन्धों का निर्देश होता है। ये हैं- विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध एवं अधिकारी। इनके उल्लेख के बिना मङ्गलाचरण की प्रशंसा नहीं होती-

सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते।।

तदनुसार इस ग्रन्थ में इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है-

(क) विषय- तर्कसंग्रह अर्थात् पदार्थों का संक्षिप्त स्वरूपकथन।

(ख) प्रयोजन- सुखबोधाय अर्थात् सफलतापूर्वक ज्ञान की प्राप्ति।

(ग) सम्बन्ध- प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव अर्थात् प्रतिपाद्य पदार्थ तथा प्रतिपादक ग्रन्थ तर्कसंग्रह।

(घ) अधिकारी- बाल अर्थात् जिन्होंने न्यायशास्त्र का अध्ययन नहीं किया है।

इस प्रकार, मंगलाचरण के अनन्तर ग्रन्थकर्ता अब प्रयोजन में प्रवृत्त हो रहे हैं।

Scanned with CamScanner

उद्देश-प्रकरणम्

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव- ये सात ही पदार्थ हैं।

तन्वी व्याख्या- यहाँ उद्देशप्रकरण के अन्तर्गत सर्वप्रथम **पदार्थों** की सूची मात्र दी गयी है।

पद एवं अर्थ इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न **पदार्थ** शब्द में पद नाम है तथा अर्थ उसका वाच्य है। दीपिका में भी इसी व्युत्पत्तिपरक अर्थ को ग्रहण किया गया है- **पदस्य अर्थः।** यहाँ पद, शब्द का पर्याय है तथा अर्थ की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है- **ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सोऽर्थः** अर्थात् जिसे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार कोई भी इन्द्रियग्राह्य विषय जिसे काई नाम दिया जा सके पदार्थ कहलाता है।

पदार्थ से अभिप्राय है **न्याय वैशेषिक दर्शन द्वारा स्वीकृत संसार के मूलभूत घटक जिनके आधार पर समस्त संसार के स्वरूप एवं स्वभाव की व्याख्या की जा सकती है।** दार्शनिक सम्प्रदायों में संसार के मूल घटकों की संख्या एवं स्वरूप के विषय में बहुत मतभेद है। उस भेद के कारण ही उनकी सृष्टि दृष्टि में भेद होता है। तदनुसार यदि अद्वैत **वेदान्त** एकत्ववादी है तो **सांख्य** द्वैतवादी तो **न्यायवैशेषिक** सात मूल तत्त्वों को मानने के कारण बहुत्ववादी।

इस क्रम में **प्रशस्तपाद** ने पदार्थ के मुख्यतः तीन लक्षण प्रस्तुत किये हैं- **षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि।**

(क) पदार्थ सत् है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ की सत्ता ज्ञाता के ज्ञान से तथा अन्य पदार्थों की सत्ता से स्वतन्त्र व निरपेक्ष है।

(ख) पदार्थ ज्ञेय है अर्थात् यह यथायोग्य प्रमाणों से जाना जा सकता है, तथा

(ग) पदार्थ अभिधेय है अर्थात् पदार्थों का वर्णन किया जा सकता है।

इस प्रकार, पदार्थ एक ऐसा प्रमेय विषय है जिसके विषय में विचार किया जा सकता है तथा जिसको नाम दिया जा सकता है। इस जगत् में

Scanned with CamScanner

ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसका कोई न कोई नाम न हो, वह नाम ही पद है तथा जिस पद से उस वस्तु का ज्ञान होता है वह पदार्थ है।

यहाँ यह विवेच्य है कि सर्वप्रथम **प्रशस्तपादाचार्य** ने ही पदार्थ की तीन परिभाषा प्रस्तुत की है, जबकि अन्य वैशेषिकाचार्यों ने इनमें से कोई एक ही लक्षण प्रस्तुत किया है। **अन्नम्भट्ट** ने भी **दीपिका** में **अभिधेयत्व** को ही पदार्थ का सामान्य लक्षण कहा है– **पदस्यार्थः पदार्थ इति व्युत्पत्त्या अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्।** यहाँ अभिधेय से तात्पर्य है जिसका नाम दिया जा सके। संसार में ऐसी कोई वस्तु या पद नहीं है जिसका कोई न कोई नाम नहीं दिया जाए। संसार में अनेक पद हैं किन्तु इनके अर्थ उक्त सात में ही सीमित हैं। **शिवादित्य** के अनुसार **प्रमितिविषयाः पदार्थाः** अर्थात् जो कुछ भी ज्ञान का विषय हो सकता है, वह पदार्थ है। इस प्रकार द्रव्यादि सात पदार्थों के अतिरिक्त ज्ञान का कोई अन्य विषय नहीं है।

तर्कसंग्रह में **पदार्थ** के सात भेद बताये गये हैं– **द्रव्य** (Substance), **गुण** (Quality), **कर्म** (Action), **सामान्य** (Universal), **विशेष** (Particularity), **समवाय** (Inherence) तथा **अभाव** (Non-existence)।[1]

दीपिका में ही यह सन्देह भी उत्पन्न किया गया है कि विभाग द्वारा ही पदार्थों में सप्तसंख्यात्व का बोध हो जाता है, पुनः सप्त शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि न्यून अथ वा अधिक संख्या के निवारणार्थ ही सप्त शब्द का ग्रहण किया गया है।

कणाद एवं **प्रशस्तपाद** ने प्रारम्भ में **वैशेषिक दर्शन** के छः पदार्थों का उल्लेख किया था।[2] **शिवादित्य, श्रीधर, उदयन, व्योमशिव** प्रभृति परवर्ती **दर्शनाचार्यों** ने एक सातवें पदार्थ **अभाव** को भी जोड़ा। बल्कि सर्वप्रथम **उदयन** एवं **श्रीधराचार्य** ने अभाव को अलग पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। बाद के सारे आचार्यों ने सात पदार्थों का स्वतन्त्रतापूर्वक उल्लेख किया है।

---

1. **वैशेषिक** के समानतन्त्र **न्याय** में तार्किक प्रक्रिया की दृष्टि से सोलह पदार्थों का परिगणन किया गया है। ये हैं– प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान। **न्यायशास्त्र** में इन सोलह पदार्थों को **वैशेषिक** के सात पदार्थों में अन्तर्भूत मान लिया जाता है तथा इन सात पदार्थों को भी न्यायोक्त पदार्थों में अन्तर्भूत माना जाता है।
2. (क) वै०सू० 1.2.7
   (ख) प्र०पा०भा०, पृ. 6.

Scanned with CamScanner

इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में भी पदार्थ को स्वीकार किया गया है, वहाँ इसे तत्त्व नाम दिया गया है। अंग्रेजी में पदार्थ अथ वा तत्त्व के लिये Category शब्द का प्रयोग किया जाता है। **वेदान्त दर्शन** में चित् एवं अचित् दो पदार्थों का उल्लेख है[1], **विशिष्टाद्वैतवादियों** ने चित् एवं अचित् के साथ ईश्वर को भी तीसरे पदार्थ के रूप में माना।[2] **मीमांसकों** ने आठ और उससे अधिक पदार्थों को माना।[3] **सांख्य दर्शन** में 25 तत्त्व हैं [4] जबकि **पतञ्जलि** ने **योगसूत्र** में **सांख्य** के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त **ईश्वर** को भी स्वीकार किया है। ध्यातव्य है कि समानतन्त्र न्याय में षोडश पदार्थों का उल्लेख है। इस प्रसंग में गौतम एवं कणाद के पदार्थ में भेद को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

दोनों ने पृथक् अर्थों में पदार्थ शब्द का प्रयोग किया है। **कणाद** के पदार्थ सत्ता-पदार्थ (Ontological Categories) हैं। **गौतम** के पदार्थ प्रमाणशास्त्र (Epistemological Categories) के विवेच्य हैं। शुद्ध ज्ञान की तार्किक समीक्षा के लिये आवश्यक विषयों का परिगणन ही गौतम का उद्देश्य है। ये दोनों क्रमशः प्रमेय व प्रमाण की व्याख्या करते हैं। जो जानने योग्य हैं वे प्रमेय हैं तथा जिन कारणों से प्रमेय जाने जाते हैं, वे प्रमाण कहलाते हैं। यहाँ पदार्थ प्रमेय है तथा प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण हैं।

पाश्चात्यदर्शन में भी पदार्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ **अरस्तू** ने इनके दस भेद माने हैं। ये हैं- 1. द्रव्य (Substance), 2. गुण (Quality), 3. परिमाण (Quantity), 4. सम्बन्ध (Relation), 5. स्थान (Space), 6, काल (Time), 7. स्थिति (Posture), 8, सक्रियता (Activity) 9. निष्क्रियता (Inactivity) तथा 10. धर्म (Property)।

वैशेषिक का पदार्थ-सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में सर्वाधिक अभिप्रायपूर्ण है। यह सर्वसाधारण द्वारा अनुभूत जगत् की सत्ता में विश्वास रखता है। इस प्रकार जगत् में अनुभूत सारी वस्तुएँ सत् हैं, यही इसका लक्ष्य प्रतीत होता है। वास्तव में **वैशेषिक** का (और न्याय का भी जो **वैशेषिक** के मत को स्वीकार करता है) मूल उद्देश्य जगत् के स्वरूप एवं उसकी उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

---

1. चिदचिदात्मकौ द्वौ पदार्थाविति मायावादिनो वेदान्तिन आह। प्र.पा.मा., पृ. 26.
2. चिदचिदीश्वरभेदेन त्रयः पदार्थाः इति रामानुजीयाः। वही
3. द्रव्यगुणकर्म...... इत्यष्टौ पदार्थाः। प्र.पं., पृ. 98.
4. सां. का. 3.

Scanned with CamScanner

द्रव्यपदार्थ

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

उन (सात पदार्थों) में द्रव्य नौ ही हैं- पृथिवी, अप् (जल), तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् (दिशा), आत्मा एवं मन।

तन्वी व्याख्या- **वैशेषिक दर्शन** द्वारा प्रतिपादित सात पदार्थों में सर्वप्रथम एवं सर्वप्रधान पदार्थ द्रव्य ही है। यह एक ऐसा पदार्थ है जिसके द्वारा वैशेषिक अपने को आदर्शवादी दर्शन पद्धतियों के समक्ष एक यथार्थवादी-बाह्यार्थवादी दर्शन के रूप में खड़ा करता है। द्रव्य अन्य सारे पदार्थों का आश्रयभूत है। **न्याय-वैशेषिक** में द्रव्य की पृथक् सत्ता मानी गयी है क्योंकि अगर इसकी पृथक् सत्ता नहीं मानी जाएगी तो यह जगत् मिथ्या सिद्ध हो जाएगा तथा समस्त जगत् की सत्ता ही विलुप्त हो जाएगी। यह दर्शन विशुद्ध यथार्थवादी एवं लोकानुभववादी दर्शन है जो मानता है कि संसार के सब पदार्थों की सत्ता ज्ञाता के ज्ञान से स्वतन्त्र, निरपेक्ष एवं पृथक् है। **नैयायिक** दैनन्दिन अनुभव के पदार्थों-घट पट आदि को यथार्थ मानता है, मिथ्या एवं अज्ञानजन्य नहीं। अतः वह विविध द्रव्यों की सत्ता का निराकरण नहीं कर सकता अपि तु तर्क देकर उनका प्रतिपादन तथा समर्थन करता है।

वैशेषिक दर्शन का मुख्य लक्ष्य बाह्यार्थवाद की स्थापना है। एतदर्थ यह आवश्यक है कि धर्म और धर्मी (गुण और द्रव्य, कार्य और कारण) दोनों को यथार्थ माना जाये तथा दोनों का भेद माना जाये। अपने परितः व्याप्त वस्तुओं की विलक्षणता का मूल कारण धर्म-धर्मी भेद ही है। अन्यथा धर्मी द्रव्य में रहने वाले धर्म तत्त्वतः भिन्न न होकर समान ही प्रतीत होते। हमारे सामान्य अनुभव से भी यह बात सिद्ध होती है कि संसार में कुछ वस्तुएँ धर्मी या द्रव्य के रूप में हैं, जिनके आश्रित होकर अनेक प्रकार के धर्म रहते हैं। इसीलिये बाह्य जगत् के पदार्थों में सर्वप्रथम द्रव्य का मानना अनिवार्य है।

द्रव्य एक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। लोक में इसे बहुमूल्य वस्तु, धन, ठोस आदि माना जाता है। **आप्टे** ने इसके कई अर्थ गिनाये हैं, यथा-

Scanned with CamScanner

वस्तु, सामग्री, पदार्थ, समान, अवयव, उपादान, ओषधि, धन, लज्जा, शालीनता, काँसा, मदिरा, शर्त आदि।[1] शास्त्रीय दृष्टि से **कणाद** ने इसे क्रिया, गुण से युक्त एवं **समवायिकारण** कहा है।[2] **तर्कसंग्रह** में द्रव्य का कोई लक्षण नहीं किया गया है, किन्तु **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** में द्रव्य को द्रव्यत्वजाति से युक्त तथा गुणवान् कहा है- **द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्त्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्**। **तर्कसंग्रह** की एक अन्य टीका **पदकृत्य** में द्रव्य को इसके अतिरिक्त 'कार्यमात्र का समवायिकारण' भी कहा गया है- **द्रव्यत्वं जातिमत्त्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्**। इस प्रकार, द्रव्य की चार निम्न परिभाषाएँ की जा सकती है:-

(क) **क्रियावद् द्रव्यम्** अर्थात् द्रव्य कर्मों का आश्रय है।

(ख) **गुणवद् द्रव्यम्** अर्थात् गुण का आश्रय द्रव्य है।

(ग) **द्रव्यत्वजातिमत्त्वं द्रव्यम्** अर्थात् द्रव्यत्व जाति से युक्त द्रव्य है।

(घ) **समवायिकारणं द्रव्यम्** अर्थात् द्रव्य समवायिकारण है।

किन्तु **दर्शनाचार्यों** ने प्रथम तीन लक्षण को सदोष तथा अन्तिम को निर्दुष्ट कहा है। प्रथम लक्षण में **अव्याप्ति** दोष झलकता है क्योंकि आकाश, काल आदि विभु द्रव्य क्रियारहित होते हैं। द्वितीय लक्षण को भी **वेदान्तियों** ने **अव्याप्ति** कहा है क्योंकि प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाले द्रव्य, जो नैयायिकों के अनुसार निर्गुण है (**द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते**- तर्कभाषा), पर उक्त लक्षण घटित नहीं होता। तृतीय लक्षण के विषय में भी **वेदान्ती** आक्षेप करते हुए कहते हैं कि द्रव्यत्वजाति में ही कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु **सिद्धान्तचन्द्रोदय** में इस आक्षेप के परिहारार्थ कहा गया है कि 'द्रव्यत्व' जाति की स्वतन्त्र सत्ता है जो या तो प्रत्यक्ष से या अनुमान से सिद्ध होती है।[1] चतुर्थ परिभाषा ही एकमात्र निर्दुष्ट परिभाषा है। सारे **वैशेषिकाचार्यों** ने इसे स्वीकार किया है। यहाँ **समवायिकारण** से तात्पर्य है जिसमें समवाय सम्बन्ध से कोई कार्य रहता है। द्रव्य का यह लक्षण उत्पत्ति के प्रथम क्षण में निर्गुण तथा निष्क्रिय घटादि द्रव्यों में भी घटित हो जाता है। केवल द्रव्य ही **समवायिकारण** होता है अन्य पदार्थ नहीं। सामान्यत: गुण एवं कर्म का आश्रय द्रव्य माना जाता है। किन्तु इसका यह अर्थग्रहण नहीं किया जाना

---

1. संस्कृत हिन्दी कोश
2. **क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। वै०सू० 1.1.15.**
3. अथल्ये द्वारा 'तर्कसंग्रह' की टिप्पणी में उद्धृत, पृ. 76-77.

Scanned with CamScanner

चाहिए कि सारी अवस्थाओं में द्रव्यों में गुण और कर्म हों ही। क्योंकि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में गुण और कर्म रहते ही नहीं। गुण और कर्म का समवायिकारण आश्रयीभूत द्रव्य ही है जो अपनी उत्पत्ति के पूर्व अन्यत्र रह ही नहीं सकता।

वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य माने गये हैं- पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें प्रथम पाँच भौतिक पदार्थ हैं, दिक् एवं काल अर्ध-भौतिक द्रव्य हैं[1], क्योंकि इनकी प्रतीति भौतिक पदार्थों के माध्यम से ही होती है। आत्मा और मन नितान्त अभौतिक पदार्थ हैं।

इसी प्रकार, उक्त नौ द्रव्यों में प्रथम चार तथा मन ऐसे द्रव्य हैं, जिनमें गुण और क्रिया दोनों रहते हैं। शेष द्रव्य केवल गुणवान् हैं। इस प्रकार, सारे द्रव्य गुणवान् हैं किन्तु उनमें प्रथम पाँच सक्रिय तथा शेष चार निष्क्रिय हैं।

प्रभाकर मीमांसक भी वैशेषिक की भाँति इन्हीं नौ द्रव्यों को मानता है। किन्तु **भाट्टमीमांसकों** ने द्रव्यों की संख्या ग्यारह मानी है। इसी क्रम में **कुमारिलभट्ट** ने 'तम' नामक दशम द्रव्य की परिकल्पना की। इसका उल्लेख **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** में किया है तथा उक्त परिकल्पना के लिये विभिन्न तर्कों का परिगणन भी किया है। हमें तम में नीलरूप गुण तथा गमनरूप क्रिया की प्रतीति से तम का गुणाश्रयत्वेन व क्रियाश्रयत्वेन बोध होता है। यथा- 'नीलं तमश्चलति'। परन्तु तम का अन्तर्भाव नौ द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य में नहीं हो सकता। **दीपिका** में इसे इस प्रकार उपस्थित किया गया है-

(क) तम को आकाशादि पाँच द्रव्यों में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि तम रूपवान् है, जबकि इन द्रव्यों में रूप का अभाव नहीं है।

(ख) तम वायु से भी पृथक् है क्योंकि इसमें स्पर्श का अभाव होता है तथा वह सदैव गतिमान् भी नहीं रहता।

(ग) तम का तेज में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि न तो उसमें भास्वर रूप होता है न ही उष्णस्पर्श।

(घ) तम जल भी नहीं है, यह शीतस्पर्शरहित एवं नीलरूप वाला होता है।

(ङ) स्पर्शरहित एवं गन्धरहित होने से, तम का पृथिवी में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

इसलिये तम को दसवें द्रव्य के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा ही।

1. Bhaduri SNVM. P. 51-

Scanned with CamScanner

अन्नम्भट्ट इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि तम को रूपवान् द्रव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्येक रूपिद्रव्य को देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है। जबकि प्रकाश के अभाव में तम का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये तम को प्रकाश या प्रकाशक तेज का अभाव कहा गया है। अतः 'नीलं तमश्चलति' इस प्रकार का कथन भ्रम है।

दीपिका में प्रसंगवश **लक्षण** के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। लक्षण वही है जो **अव्याप्ति, अतिव्याप्ति** एवं **असम्भव** नामक तीनों दोषों से रहित हो– **दूषणत्रयरहितो धर्मः प्रमाणलक्षणम्**। जैसे– गौ का सास्नादिमत्त्व अर्थात् गले में लटकने वाले त्वक् विशेष से युक्त होना। यहाँ **लक्ष्य के एक देश में लक्षण के न रहने को 'अव्याप्ति' कहते है– लक्ष्यैकदेशवृत्तित्वमव्याप्तिः।** यथा– गौ का भूरे रंग का होना। ऐसा कहने पर जो गाय भूरी नहीं है, उन पर यह लक्षण घटित नहीं होगा तथा वैशेषिक की दृष्टि में कृष्ण, श्वेत आदि रंगों से युक्त गायें, गाय नहीं कही जाएँगी। अतः भूरापन अव्याप्तिग्रस्त होने के कारण, लक्षण नहीं माना जाएगा।

लक्ष्य में रहते हुए लक्ष्य से भिन्न पदार्थों में भी रहना, 'अतिव्याप्ति' है– अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः। जैसे गाय का सींग युक्त होना। यहाँ ऐसा कहने पर समस्त गायों में सींग होने के कारण लक्षण समन्वित होता है। किन्तु बकरी, मृग आदि में भी सींग होने के कारण गाय के लक्षण पर भी घट जाता है। इस प्रकार शृंगित्व अथ वा सींगयुक्त होना– यह लक्षण अतिव्याप्ति-दोष हो जाता है।

लक्ष्य मात्र में लक्षण का नहीं होना 'असम्भव' नामक तीसरा दोष कहलाता है– लक्ष्यमात्रावर्तनमसम्भवः। जैसे– गाय को एक खुर वाला कहना। एक खुर घोड़े, गधे आदि में होता है जबकि गाय के दो खुर होते हैं। इस प्रकार लक्ष्य में ही लक्षण घटित नहीं होने के कारण यह असम्भवग्रस्त माना जाता है।

इस प्रकार दोषरहित लक्षण के लिये इन तीनों दोषों का अभाव नितान्त आवश्यक है। यही असाधारण धर्म भी कहलाता है– **असाधारणधर्मो लक्षणम्।**

Scanned with CamScanner

गुणपदार्थ

रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–सङ्ख्या–परिमाण–पृथक्त्व–संयोग–विभाग–परत्व–अपरत्व–गुरुत्व–द्रवत्व–स्नेह–शब्द–बुद्धि–सुख–दुःख–इच्छा–द्वेष–प्रयत्न–धर्म–अधर्म–संस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म एवं संस्कार– ये चौबीस गुण हैं।

तन्वी व्याख्या– 'गुण' शब्द का प्रयोग सामान्यतया उन अर्थों में होता है जो अपने आश्रय को अपने द्वारा उत्कृष्ट बताये। यह गुण अत्यन्त व्यापक अर्थों वाला है। लोक, साहित्य, दर्शन, राजनीति आदि विभिन्न परिप्रेक्ष्य में इसके विभिन्न अर्थ हैं। यथा– सुकृति, उत्तमता, ख्याति, उपयोग, प्रभाव, परिणाम, रस्सा, धनुष की डोरी, नस, विशेषण, लक्षण, पुनरावृत्ति, गुना, गौण, तीन की संख्या, भीम की उपाधि आदि। **सांख्यदर्शन** में यह प्रकृति के धर्म के रूप में सत्त्व, रजस् और तमस् नाम से प्रसिद्ध है। **व्याकरणशास्त्र** में ए, ओ, अर्, तथा अल् गुण हैं। **नीतिशास्त्र** में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं संश्रय को गुण (षड्गुण) कहा जाता है, जबकि **साहित्यशास्त्र** में काव्य की उत्कर्षता को प्रकट करने वाले प्रसाद, माधुर्यादि दस गुणों की अवधारणा है। **मम्मट** ने गुण की यह परिभाषा दी है–

> ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
> उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।। काव्य० 8/66

किन्तु **वैशेषिक** दर्शन में उक्त अर्थों से भिन्न, गुण दूसरा पदार्थ है जो द्रव्य से भिन्न होते हुए भी द्रव्य में ही रहते हैं। **वैशेषिक सूत्र** में गुण का लक्षण इस प्रकार दिया गया है– जो द्रव्य में आश्रित हो, गुणरहित हो और संयोग तथा विभाग के प्रति स्वतंत्र कारण न हो, वह गुण है– **द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।**[1] **विश्वनाथ** ने गुण की इससे भिन्न परिभाषा करते हुए कहा है कि गुण द्रव्य में रहते हैं तथा स्वयं निर्गुण व निष्क्रिय होते हैं– अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया

1. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। वै०सू० 1.1.16.

Scanned with CamScanner

निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः (भा० प० 85)। दीपिका में अन्नम्भट्ट ने 'गुण' के दो लक्षण दिये हैं-

(क) 'गुणत्वजातिमान् अर्थात् गुणत्वजाति से युक्त तथा

(ख) द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् अर्थात् द्रव्य और कर्म से भिन्न होते हुए जो सामान्य (गुणत्व जाति) का आश्रय हो।

वैशेषिक के अनुसार 'सामान्य' केवल तीन पदार्थों में रहता है- द्रव्य, गुण तथा कर्म। इस प्रकार 'सामान्यवान्' कहने मात्र से तीनों में अतिव्याप्ति हो सकती है इसलिये लक्षण में 'द्रव्यकर्मभिन्नत्व' कह कर द्रव्य और कर्म की व्यावृत्ति कर दी गयी है। इसी लक्षण को इस रूप में भी कहा जाता है- **द्रव्यावृत्तिनित्यवृत्तिजातिमान्** अर्थात् जो द्रव्य में न रहती हुई, नित्य वस्तु में रहती हुई जाति से युक्त हो।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि गुण को पदार्थ मानने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? इसके विषय में **डॉ० राधाकृष्णन्** का कथन अत्यन्त सार्थक है- 'कोई भी वस्तु केवल सत् नहीं हो सकती। यदि हम केवल सत्ता पर ही आकर ठहर जाएँ तथा आगे बढ़ने का विचार छोड़ दें, तो जैसा कि **हेगल** ने हमें बताया है, हमारे समक्ष केवल शून्यमात्र रह जाता है और 'किसी वस्तु का अस्तित्व है' इस प्रथम सिद्धान्त को भी छोड़ना पड़ेगा। इसलिये हमें उक्त सिद्धान्त को आगे बढ़ाना होगा और यह कहना होगा कि कोई वस्तु इसलिये है क्योंकि उसमें केवल सत्ता के अतिरिक्त कुछ विशेष गुण हैं। यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो केवल इसलिये है क्योंकि उसमें कुछ गुण हैं।'[1]

इसके भेद के विषय में ही शंका बनी रही। **कणाद** ने सत्रह प्रकार के गुणों का उल्लेख किया है-

1. रूप, 2. रस, 3. गन्ध, 4. स्पर्श, 5. संख्या, 6. परिमाण, 7. पृथक्त्व, 8. संयोग, 9. विभाग, 10. परत्व (देश या काल की दूरी), 11. अपरत्व (देश या काल की समीपता), 12. बुद्धि, 13. सुख, 14. दुःख, 15. इच्छा, 16. द्वेष तथा 17. प्रयत्न।

अनन्तर **प्रशस्तपाद** ने इसमें सात और गुणों को जोड़कर इसकी संख्या चौबीस तक पहुँचायी। ये हैं- गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द। इनमें संस्कार नामक गुण तीन प्रकार के माने गये हैं- वेग, भावना

---

1. भारतीय दर्शन, पृ. 159

Scanned with CamScanner

तथा स्थितिस्थापक। इसी प्रकार द्रवत्व भी दो प्रकार के हैं- सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक। इस संख्या को सारे **वैशेषिकाचार्यों** ने स्वीकार किया। किन्तु कभी-कभी कुछ अन्य गुणों का भी उल्लेख किया गया जिसका अन्तर्भाव इन्हीं चौबीस गुणों में कर दिया गया। यथा- **सिद्धान्तचन्द्रोदय** में आलस्य को भी एक अन्य गुण माना गया।

दीपिका में **अन्नम्भट्ट** ने लघुत्व, मृदुत्व एवं कठिनत्व को गुण माननें की शंका की है। जिसका समाधान भी उन्होंने यह कहकर दिया है कि गुरुत्व का अभाव ही लघुत्व है। मृदुत्व और कठिनत्व, संयोग का ही प्रकार है। इसी प्रकार आलस्य को भी प्रयत्न का अभाव माना गया है।

इन गुणों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है। गुण के सामान्य वर्गीकरण को द्रव्यों की निम्न विशिष्ट तालिका से इस प्रकार समझा जा सकता है-

भाषापरिच्छेद में इन चौबीस गुणों को नौ द्रव्यों में इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है-

वायु- स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग नामक संस्कार। (इनमें स्पर्श विशेष गुण है।)

तेज- वायु के प्रथम आठ गुण, रूप, द्रवत्व (नैमित्तिक) तथा वेग। (स्पर्श एवं रूप विशेष गुण है।)

जल- तेज के ग्यारह गुण (सांसिद्धक द्रवत्व) तथा गुरुत्व, रस एवं स्नेह।

पृथिवी- जल के प्रथम तेरह गुण एवं गन्ध।

आत्मा- बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, संस्कार, धर्म तथा अधर्म।

दिक् एवं काल- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग।

आकाश- उपर्युक्त पाँच गुण तथा शब्द।

मन– उपर्युक्त पाँच गुण तथा परत्व, अपरत्व एवं वेग।

प्रशस्तपाद ने चौबीस गुणों का वर्गीकरण मूर्त, अमूर्त एवं उभयगुण के रूप में किया है। यहाँ पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन में रहने वाले गुण मूर्त, अमूर्तद्रव्यों में पाये जाने वाले गुण अमूर्त तथा दोनों में पाये जाने वाले गुण उभय गुण कहलाते हैं। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–

मूर्तगुण– रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग एवं स्थितिस्थापक (संस्कार)।

अमूर्तगुण– बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, शब्द, भावना (संस्कार)।

मूर्तामूर्तगुण– सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग।

इसके अतिरिक्त विशेष एवं सामान्य गुणों की दृष्टि से भी इसका वर्गीकरण किया जाता है। यहाँ विशेष से तात्पर्य उन गुणों से है जो एक समय में एक ही द्रव्य में रहते हैं। ध्यातव्य है कि विशेष व्यवच्छेदक का कार्य करता है, इसलिये विशेष गुण द्रव्यों के भेदक गुण होते हैं। सामान्य गुण वे हैं जो एक साथ दो या उससे अधिक द्रव्यों में रहते हैं। इसे निम्न रीति से विभाजित्र किया जाता है–

विशेष गुण	**सामान्य गुण**
रूप	संख्या
रस	परिमाण
गन्ध	पृथक्त्व
स्पर्श	संयोग
स्नेह	विभाग
द्रवत्व (सांसिद्धिक)	परत्व
बुद्धि	अपरत्व
सुख-दुःख	गुरुत्व
इच्छा-द्वेष	द्रवत्व (नैमित्तिक)
प्रयत्न	वेग (संस्कार)
धर्म-अधर्म	
शब्द	
भावना (संस्कार)	

Scanned with CamScanner

इनमें संयोग, विभाग, द्वित्वादि संख्या तथा पृथक्त्वादि गुण अनेक द्रव्यों में आश्रित रहते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सारे गुण एकाश्रित हैं।

इसके साथ ही एक अन्य प्रकार से गुणों का विभाजन प्राप्त होता है। यह विभाजन गुणों की इन्द्रियग्राह्यता को दर्शाता है। तद्यथा–

(i) **द्वीन्द्रियग्राह्य–** संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह तथा वेग (स्थितिस्थापक)।

(ii) **बाह्येन्द्रियग्राह्यगुण–** रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द।

(iii) **अतीन्द्रियगुण–** गुरुत्व, धर्म, अधर्म तथा भावना।

(iv) **अन्तरिन्द्रियगुण–** बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न।

उक्त विवेचन के आधार पर 'गुण' पदार्थ की निम्न विशेषताएँ प्रकट होती हैं–

(क) गुण 'गुणत्व' जाति से युक्त होते हैं।

(ख) गुण सदा द्रव्यों में ही आश्रित होते हैं।

(ग) गुण में गुण नहीं रहते।

(घ) गुण में क्रिया भी नहीं पायी जाती।

(ङ) गुण संयोग और विभाग का साक्षात् कारण नहीं है तथा

(च) गुण अपने कार्य का असमवायिकारण है।

(छ) गुण एक ऐसा धर्म है जो द्रव्य में समवाय संबंध से रहता है।

Scanned with CamScanner

उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चकर्माणि।

उत्क्षेपण (ऊपर की ओर उछालना), अवक्षेपण (नीचे की ओर गिराना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) तथा गमन (चलना)- ये पाँच कर्म हैं।

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम्।

सामान्य के दो प्रकार हैं- पर एवं अपर।

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।

नित्य द्रव्य वृत्ति वाले विशेष अनन्त ही हैं।

समवायस्त्वेक एव।

समवाय तो एक ही है।

अभावश्चतुर्विधः- प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ता-भावोऽन्योन्याभावश्चेति।

अभाव चार प्रकार का है- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव।

।।इत्युद्देश परिच्छेदः।।

Scanned with CamScanner

अथ लक्षणपरिच्छेदः

द्रव्यलक्षणप्रकरणम्

तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः।

उन द्रव्यों में गन्धवती पृथिवी है। वह दो प्रकार की है- नित्या एवं अनित्या। नित्या पृथिवी परमाणुरूपा है। अनित्या कार्यरूपा है। पुनः (वह पृथिवी) तीन प्रकार की है- शरीर, इन्द्रिय और विषय। हम लोगों का (पार्थिव) शरीर है। नासिका के अग्रभाग में स्थित गन्ध ग्रहण करने वाला घ्राण इन्द्रिय है। विषय मिट्टी, पाषाण आदि है।

तन्वी व्याख्या- **वैशेषिक** सूत्र में द्रव्य विभाजन के अन्तर्गत सर्वप्रथम पृथिवी का उल्लेख है। इस पृथिवी की अवधारणा सूक्ष्मातिसूक्ष्म पार्थिव कणों से लेकर महत्पृथिवीपर्यन्त है। यहाँ पृथिवी का लक्षण **तत्र गन्धवती** कहा गया है। इसका अर्थ **गन्धसमवायिकारणम्** लिया जाना चाहिए अन्यथा **काल** और **दिक्** भी **गन्धवत्** कहा जाने लगेगा। नौ द्रव्यों में से पृथिवी ही गन्ध के प्रति समवायिकारण है। यह गन्ध ही इसका विशेष गुण है। महर्षि **कणाद** ने रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य को **पृथिवी** कहा है- **रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी**। तर्कसंग्रह में **अन्नम्भट्ट** के द्वारा किये गये द्रव्यों के लक्षण की विशेषता यह रही है कि उन्होंने भौतिक द्रव्यों का लक्षण उनके गुणों के आधार पर किया है।

दीपिका में पृथिवी के इस लक्षण के विरुद्ध तीन प्रमुख शंकाएँ उठायी गयी हैं। ये हैं-

(क) एक ही पदार्थ में सुरभि एवं असुरभि दोनों में परस्पर विरोध के कारण कोई गन्ध उत्पन्न नहीं हो तो उसमें अव्याप्ति हो जाएगी।

(ख) जल आदि में भी गन्ध की प्रतीति होने से उसमें भी पृथिवी-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी तथा

(ग) काल के सर्वाधार होने के कारण पृथिवी का लक्षण उसमें अतिव्याप्त हो जाएगा।

Scanned with CamScanner

इन शंकाओं का समाधान करते हुए स्वयं **अन्नम्भट्ट** कहते हैं कि ये तीनों क्रमशः इस विचार को दृढ़ करते हैं कि मात्र पृथिवी में ही गन्ध समवायिकारण से रहता है। यथा- गन्धरहित होने की स्थिति में एक चित्रगन्ध की परिकल्पना करनी पड़ेगी। इस की परिकल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि अलग-अलग देश में अलग-अलग गन्ध की प्रतीति होती है। इस प्रकार अव्याप्ति दोष की सम्भावना नहीं रहती।

दूसरी शंका के समाधान में **अन्नम्भट्ट** का कहना है कि जल में होने वाली गन्ध की प्रतीति पृथिवी के ही गन्ध की उपस्थिति के कारण होती है अर्थात् पार्थिव परमाणुओं के संयोग से ही जल में गन्ध देखा जाता है। दूसरे शब्दों में, पार्थिव अंश मिलने के बाद ही जल में गन्ध होती है तथा पार्थिव अंश की अविद्यमानता की स्थिति में गन्ध नहीं होती है। इस **अन्वयव्यतिरेक** से यह स्पष्ट होता है कि जल में पृथिवी की ही गन्ध है, अपनी नहीं। इस प्रकार जल में गन्ध की उत्पत्ति से अतिव्याप्ति नहीं होती।

तीसरी शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि सर्वाधार होने के कारण उत्पन्न सम्बन्ध अन्य लक्षणों में अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार, पृथिवी के गन्धवती होने में किसी तरह की विप्रतिपत्ति नहीं है।

परिभाषा एवं उत्तरपक्ष की दृष्टि से पृथिवी के लक्षण के विषय में यह कहा जा सकता है कि पृथिवी का उक्त लक्षण **अव्याप्ति, अतिव्याप्ति** एवं **असम्भव** दोष से सर्वथा रहित अर्थात् दूषणत्रयरहित है।

कणाद ने पृथिवी लक्षण के क्रम में चार गुणों का उल्लेख किया है किन्तु **प्रशस्तपाद** ने पृथिवी के चौदह गुणों का निर्देश किया है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व तथा संस्कार।[1] **तर्कसंग्रह** में **अन्नम्भट्ट** ने केवल गन्ध का ही उल्लेख किया है। यह गन्ध ही पृथिवी का असाधारण धर्म है।

इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि

गन्ध पृथिवी का असाधारण धर्म है।

गन्ध पृथिवी के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं प्राप्त होता।

अन्य द्रव्यों में गन्ध-प्रतीति औपाधिक होती है।

---

1. प्र०पा० भा०, पृ. 95-96.

Scanned with CamScanner

पृथिवी के भेद

तर्कसंग्रह में नित्य एवं अनित्य रूप से पृथिवी के दो भेद दर्शाये गये हैं- परमाणुरूपा पृथिवी नित्य तथा कार्यरूपा पृथिवी अनित्य है।[1] यहाँ परमाणु से तात्पर्य है जन्यद्रव्य की लघुतम इकाई। अर्थात् अविभाज्य सूक्ष्मतम पृथिवीकण परमाणु पृथिवी कहलाती है। ये अनादि, अनन्त एवं अतीन्द्रिय हैं। ये सदा शाश्वत रूप से विद्यमान रहते हैं। परमाणु की सृष्टि नहीं की जा सकती किन्तु घटादि द्रव्यों की सृष्टि की जा सकती है। इसका विनाश भी हो सकता है। परमाणुओं का केवल संयोग व वियोग हो सकता है, सृष्टि संहार नहीं। (परमाणुविषयक विशिष्ट विवेचन वायुप्रकरण में देखा जा सकता है)। इस प्रकार परमाणुरूपा पृथिवी नित्य है तथा पृथिवी के कार्यरूप द्रव्य अनित्य हैं। यहाँ कार्य से तात्पर्य है परमाणुओं के संयोग से निर्मित घट-पटादि। परमाणुओं के संयोग के कारण कार्य सावयव होते हैं, इस प्रकार सावयव पृथिवी को ही अनित्य कहा गया है। अनित्य पृथिवी की उत्पत्ति और विनाश होता है।

अन्नम्भट्ट ने एक अन्य प्रकार से भी पृथिवी का विभाजन किया है। शरीर, इन्द्रिय एवं विषय की दृष्टि से यह पृथिवी त्रिविध है। इस त्रिविध विभाजन को **अन्नम्भट्ट** के अतिरिक्त सारे **वैशेषिकाचार्यों** ने अनित्या का भेद माना है। **प्रशस्तपाद** ने **त्रिविधं चास्य कार्यम्** कहकर इसे स्पष्ट रूप से कार्यरूपा पृथिवी जो अनित्य है, का भेद निर्दिष्ट किया है। किन्तु **अन्नम्भट्ट** इससे सहमत प्रतीत नहीं होते। उन्होंने **तर्कसंग्रह** के मूल में **पुनस्त्रिविधा** कहकर प्रयुक्त **सा द्विविधा** के साथ ही इसका मेल दिखाया है। **पुनस्त्रिविधा** से यही संकेत मिलता है कि उस पृथिवी के अन्यथा तीन भेद हैं। इस प्रकार इस प्रसंग में न तो इसका सम्बन्ध नित्या पृथिवी से है, जैसा कि **व्योमशिवाचार्य** स्वीकार करते हैं, न ही अनित्या पृथिवी से। **अन्नम्भट्ट** का

---

1. यहाँ नित्य से तात्पर्य है, जो तीनों कालों में सत् तथा कारणहीन हो- त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नत्वम्। दीपिका में अन्नम्भट्ट ने नित्यत्व एवं अनित्यत्व के मध्य विभाजक रेखा खींचते हुए इसे क्रमशः 'ध्वंस का प्रतियोगी न होना' ध्वंसाप्रतियोगित्वम् तथा ध्वंस का प्रतियोगी होना- ध्वंसप्रतियोगित्वम् बताया है। 'तर्कसंग्रह' की ही एक अन्य टीका पदकृत्य में भी इसी बिन्दु पर विचार करते हुए नित्य एवं अनित्य को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- जो ध्वंस से भिन्न होता हुआ भी ध्वंस का प्रतियोगी नहीं है, वह नित्य है- ध्वंसभिन्नत्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्' जबकि जो ध्वंस का प्रतियोगी अथ वा प्रागभाव का प्रतियोगी है, वह अनित्य है- ध्वंसप्रतियोगित्वं प्रागभावप्रतियोगित्वं वेति।

Scanned with CamScanner

यह पूर्वाग्रह इतना प्रवल है कि **दीपिका** में भी इसे स्पष्ट करते हुए वे **प्रकारान्तरेण** विभजते कहते हैं अर्थात् एक अन्य प्रकार से पृथिवी का विभाजन किया जा रहा है।

पृथिवी विभाजन के इस क्रम में **अन्नम्भट्ट** ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। उनकी यह व्यावहारिकता जल, तेज एवं वायु के क्रम में भी अक्षुण्ण रही है।

पृथिवी के उक्त तीनों भेदों का विवेचन इस प्रकार है-

शरीर

प्रतिक्षण क्षीण होते रहने के कारण शरीर को शरीर कहा जाता है- **शीर्यते इति प्रतिक्षणं क्षीयमाणं देहं शरीरम्। दीपिका** में शरीर को आत्मा के भोग का आयतन कहा गया है- **आत्मनो भोगायतनम्।** अवच्छिन्न आत्मा में जो भोग उत्पन्न होता है, वही भोगायतन है। यहाँ भोग का अर्थ है- सुख एवं दुःख का साक्षात्कार। यद्यपि आत्मा विभु है, इसलिये सारे मूर्त्त द्रव्यों के साथ उसका संयोग होता है, पुनरपि शरीरावच्छेद से ही आत्मा में भोग होता है। यही कारण है कि शरीर को आत्मा के भोग का आयतन कहा जाता है। **लक्षणावली** में भी **उदयनाचार्य** ने शरीर की परिभाषा में कहा है कि यह वह अन्तिम अवयवी है जिसमें अवच्छिन्न होकर आत्मा सुख-दुःख का भोग करता है। शरीर का एक अन्य लक्षण भी प्राप्त होता है, वह यह कि जो स्वतन्त्र चेष्टा का आश्रय हो तथा जो अन्तिम अवयवी हो- **अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयत्वम्।** हित की प्राप्ति तथा अहित के निवारण के लिये की जाने वाली क्रिया चेष्टा है- **हिताहितपरिहारार्थः स्पन्दः।** जैसे- हस्त पादादि का चालन। इस क्रम में अन्तिम अवयवी को भी समझना आवश्यक है। जो स्वयं अवयवों से मिलकर बना हो किन्तु स्वयं किसी अवयवी का जनक नहीं हो, वह अवयवी कहलाता है- **अवयवजन्यत्वे सत्यवयव्यजनकत्वम्।** हस्त, पादादि शरीर के अवयव हैं जो चेष्टाएँ करती हैं। वे अन्तिम अवयवी नहीं हो सकते इसलिये अन्तिम अवयवी शरीर को ही मानना पड़ेगा क्योंकि वही चेष्टा का आश्रय भी है।

पृथिवी द्रव्य से निर्मित शरीर दो प्रकार के होते हैं- योनिज और अयोनिज। शुक्र एवं शोणित के मेल को योनि कहा जाता है तथा योनि से उत्पन्न शरीर योनिज एवं इस योनि से उत्पन्न न होने वाला शरीर अयोनिज है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनिज हैं। साथ ही शुक्र शोणित की अपेक्षा न कर धर्मविशेष के सम्बन्ध से पार्थिव परमाणुओं से ही अयोनिज शरीर बनता है।

Scanned with CamScanner

जैसे मनु इत्यादि सिद्ध पुरुष।[1] यहाँ योनिज शरीर प्रत्यक्षादि से सिद्ध होते हैं जबकि अयोनिज शरीर में आप्तवाक्य प्रमाण हैं।[2] पुनः योनिज शरीर के दो भेद प्राप्त होते हैं- जरायुज एवं अण्डज।[3] इसके साथ ही **विश्वनाथ** ने अयोनिज के भी दो भेद माने हैं- स्वेदज तथा उद्भिज्ज। कीड़े और दंश वाले जूँ, खटमल आदि स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले) हैं, पेड़, लता आदि जो भूमि को तोड़कर उत्पन्न होते हैं, उद्भिज्ज कहलाते हैं।[4]

इन्द्रिय

यहाँ इन्द्रिय से तात्पर्य है शरीर से संयुक्त ज्ञान का करण। **तर्कसंग्रह** में **अन्नम्भट्ट** ने इन्द्रिय का कोई लक्षण नहीं दिया है बल्कि सामान्यतया उन्होंने कहा है कि गन्ध का ग्राहक, इन्द्रिय है तथा घ्राणेन्द्रिय नासिका के अग्रभाग में रहती है। किन्तु **दीपिका** में उन्होंने इसके दो लक्षण दिये हैं- शब्द से अतिरिक्त किसी अन्य विशेष गुण का आश्रय न होना तथा ज्ञान के कारण मन के संयोग का आश्रय होना- **शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयम्**। यहाँ इस समस्त ज्ञान प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। **न्याय-वैशेषिक** के अनुसार सर्वप्रथम आत्मा का मन से संयोग होता है, पुनः मन का इन्द्रिय से, तदनन्तर ज्ञानेन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होता है- **आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, इन्द्रियाणां स्वसम्बद्धवस्तुप्रकाशकारित्वम्**। इस प्रकार आत्मा में विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे भोग का साधन भी कहा जाता है- **भोगसाधनानि इन्द्रियाणि**। ये इन्द्रिय मुख्यतः दो हैं- ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय। ये दोनों पाँच-पाँच हैं। घ्राण, रसना, श्रोत्र, चक्षुः तथा त्वक् ज्ञानेन्द्रिय हैं तथा हाथ, पैर, उपस्थ, वाक् एवं पायु कर्मेन्द्रिय हैं। उक्त ज्ञानेन्द्रिय में घ्राणादि को भी समझना आवश्यक है। यहाँ दिखने वाली नासिका घ्राणेन्द्रिय नहीं है बल्कि नासिका के अग्रभाग में रहने वाली तथा गन्ध को ग्रहण करनेवाली अतीन्द्रिय इन्द्रिय ही घ्राण है।

घ्राणेन्द्रिय को पृथिवी से ही उत्पन्न माना गया है। वस्तुतः इन्द्रियों की उत्पत्ति ही पञ्चमहाभूत द्रव्यों से मानी गयी है। ये पञ्चमहाभूत द्रव्य सामान्य तथा विशेष

---

1. प्र०पा०भा०, पृ. 17.
2. वै०सू० 4.2.8-9,11.
3. प्र०पा०भा०, पृ. 33.
4. न्या०सि०मु०, पृ.. 136.

Scanned with CamScanner

गुणों के आश्रय होते हैं। भूत से उत्पन्न होने के कारण ये इन्द्रियाँ किसी एक विशेष गुण का आश्रय अवश्य ही होती हैं। पृथिवी से उत्पन्न होने के कारण घ्राणेन्द्रिय विशिष्ट गुण गन्ध का आश्रय है। दूसरी ओर यह नियम है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। इस दृष्टि से गन्ध एक कार्य है जिसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए और यह कारण ही घ्राणेन्द्रिय है।[1]

ये इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं- बाह्य और आभ्यन्तर। मन के अतिरिक्त सारी इन्द्रियाँ बाह्य के अन्तर्गत आती हैं। इन इन्द्रियों में घ्राण, रसना, श्रोत्र केवल विशेष गुण के ग्राहक हैं जबकि चक्षु और त्वक्, रूप तथा गुण दोनों को ग्रहण करते हैं।

विषय

शरीर और इन्द्रिय से भिन्न पृथिवी के जितने भेदोपभेद हैं सब पार्थिव विषय हैं। **विषिणोति बध्नाति इन्द्रियाणीति विषयः**- इस निर्वचन के आधार पर विषय वह है, जो इन्द्रिय आदि को बाँधता है। एक यह भी लक्षण किया जाता है कि जिस वस्तु से सुख दुःख का उपभोग होता है वह विषय है। अपने स्वरूप के कारण विश्व में अनन्त निर्जीव पार्थिव विषय हैं। **प्रशस्तपाद** एवं **विश्वनाथ** ने तो यहाँ तक कह डाला कि द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त की सारी वस्तुएँ विषय हैं।[2] दूसरे शब्दों में, शरीर एवं इन्द्रिय को छोड़कर पृथ्वी से बने अन्य सभी कार्यद्रव्य पार्थिव विषय ही हैं। **अन्नम्भट्ट** ने किसी प्रकार के भोगोपभोग का उल्लेख किये बिना इसे शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्न कहा है- **शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः** (त०दी०)। यहाँ विषय से तात्पर्य है वे पदार्थ जो हर स्थिति में विषय ही बने रहते हैं कभी विषयी नहीं बन सकते।

विषय शब्द का अर्थ सामान्यतया समस्त ज्ञेय पदार्थ किया जाता है किन्तु ज्ञेय इस विषय का प्रयोग सीमित अर्थ में किया गया है क्योंकि ज्ञेय पदार्थ मान लेने पर शरीर एवं इन्द्रिय विषय में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। **मुक्तावलीकार** ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि यद्यपि शरीर और इन्द्रिय भी विषय हैं तथापि उनका दूसरे प्रकार से कथन शिष्य की बुद्धि को स्फुट करने के लिये किया गया है।[3] इसी आधार पर **सिद्धान्तचन्द्रोदय** में कहा गया है कि यद्यपि शरीर एवं इन्द्रिय भी विषय ही हैं, किन्तु शिष्यों

---

1. किरण०, पृ. 41-42.
2. प्र०पा०भा०, पृ. 19.
3. न्या०सि०मु०, पृ. 140.

Scanned with CamScanner

अथ वा बालकों के बुद्धिवैशद्य के लिये ही उनका पृथक् निरूपण किया गया है- **वस्तुतस्तु शरीरादिकमपि विषय एव। भेदेन कीर्तनं तु बालधीवैशद्याय।**

व्योमशिवाचार्य ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि विषय वे हैं जो हमारे सुख एवं दुःख की अनुभूति में सहायक होते हैं तथा जिन्हें बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है।[1] **श्रीधराचार्य** की दृष्टि में शरीर तथा इन्द्रिय से पृथक् आत्मा के उपभोग का साधन विषय है।[2] अस्तु, इस विषय के तीन भेद प्राप्त होते हैं- मृत्, पाषाण तथा स्थावर। मृत् विषय के अन्तर्गत ईंट, भवन आदि पार्थिवविषयों का संग्रह होता है। पाषाण के अन्तर्गत हीरा, वज्र प्रभृति विभिन्न प्रकार के पत्थर आते हैं, जबकि स्थावर के अन्तर्गत तृण, औषधि, फल-फूल वाले वृक्ष, लता, वनस्पति आदि आते हैं।

पृथिवी के सामान्य वर्गीकरण को निम्न विशिष्ट तालिका से समझा जा सकता है-
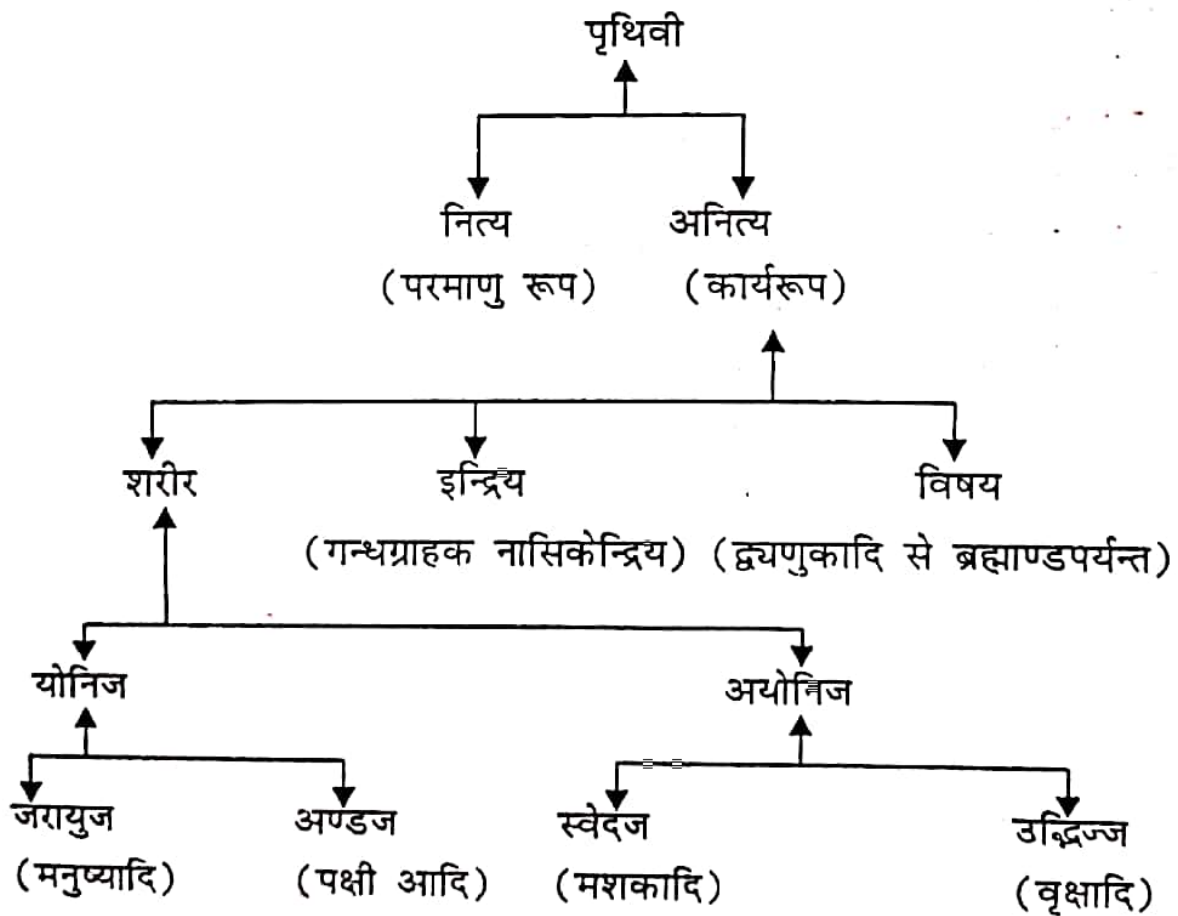
1. व्योम० पृ. 234.
2. न्या० कं०, पृ.82.

Scanned with CamScanner

शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधाः- नित्या अनित्याश्च। नित्या परमाणुरूपाः, अनित्याः कार्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।

शीतल स्पर्श से युक्त जल है। वह दो प्रकार का है- नित्य एवं अनित्य। नित्य (जल) परमाणुरूप है। अनित्य कार्यरूप है। पुनः शरीर, इन्द्रिय तथा विषय भेद से जल तीन प्रकार का है। वरुणलोक में (जलीय)शरीर है। इन्द्रिय रस को ग्रहण करने वाली, रसना (जिह्वा) के अग्रभाग पर स्थित रसनेन्द्रिय है। विषय नदी, समुद्र आदि है।

तन्वी व्याख्या- पृथिवी के बाद द्वितीय द्रव्य जल है! **कणाद** के अनुसार रूप, रस, स्पर्श द्रवत्व तथा स्नेह से युक्त द्रव्य जल है- **रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः।**[1] **अन्नम्भट्ट** ने जल को शीतस्पर्श से युक्त कहा है। अर्थात् जिस द्रव्य में शीतस्पर्श समवाय सम्बन्ध से रहता है, वह जल है। पृथिवी के गन्ध की तरह ही रस जल का विशिष्ट गुण है। इसमें अभास्वर शुक्लरूप पाया जाता है।

दीपिका में **अन्नम्भट्ट** ने एक शंका उत्पन्न की है कि शिलातल में शीतलता की प्रतीति कैसे होती है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि शिलातल में जो हमें शीतलता का अनुभव होता है, वह उसमें जलीय तत्त्व की उपस्थिति के कारण ही है। इसी तरह हिम आदि जल का ही ठोस रूप है।

जल के गुण

जल में रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार ये चौदह गुण पाये जाते हैं। इसमें रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व तथा स्नेह जल के वैसे गुण हैं जो अन्य द्रव्यों के व्यवच्छेदक हैं।

जल के भेद

पृथिवी की तरह जल भी नित्य एवं अनित्य दो प्रकार का है। परमाणुरूप जल नित्य होता है। अविभाज्य सूक्ष्मतम जलकण परमाणुजल

---

1. **वै०सू० 2.1.2.**

कहलाता है। कार्यरूप जल अनित्य और अपने-अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले हैं- **परमाणुरूपं नित्यं द्व्यणुकादिकं सर्वमनित्यमवयवसमवेतं च।**

अन्नम्भट्ट ने जल के भी तीन भेद किये हैं- शरीर, इन्द्रिय एवं विषय। इनकी विशिष्ट व्याख्या पृथिवी क्रम में किये गये विवेचन के अनुसार समझ ली जानी चाहिए।

शरीर

जलीय शरीर वरुण लोक में पाये जाते हैं- ऐसा **वैशेषिकाचार्यों** का अभिमत है। किन्तु किसी ने भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि यह वरुण लोक क्या है तथा यह कहाँ स्थित है? डॉ० **धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री** ने इस सन्दर्भ में **वैशेषिकाचार्यों** के ऊपर कठोर व्यंग्य करते हुए कहा है कि **दर्शनशास्त्र** में, जो कि बुद्धिवाद पर निर्भर है ऐसी कल्पनाएँ नहीं होनी चाहिएँ।[1] परन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्राचीन आचार्य अपनी समकालीन सृष्टि दृष्टि से प्रेरित होकर समग्र ब्रह्माण्ड की व्याख्या करने का प्रयास कर रहे थे।

इन्द्रिय

यह जलीय इन्द्रिय रसना है। **अन्नम्भट्ट** ने रस को ग्रहण करने वाली तथा जिह्वा के अग्रभाग में स्थित इन्द्रिय को रसनेन्द्रिय कहा है।

विषय

प्रशस्तपाद के अनुसार सरिता, समुद्र, हिम, ओला आदि जलीय विषय हैं। **अन्नम्भट्ट** ने भी इसी मत की पुनरावृत्ति की है।

------

1. न्या० सि० मु०, पृ. 147.

उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधम्- नित्यमनित्यञ्च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधम्- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधो भौमदिव्यौदर्याकरज-भेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

तेज उष्ण स्पर्श से युक्त होता है। वह दो प्रकार का है- नित्य एवं अनित्य। नित्य परमाणुरूप है तथा अनित्य कार्यरूप है। पुनः (वह तेज) तीन प्रकार का है- शरीर, इन्द्रिय एवं विषय। शरीर आदित्य लोक में है। काली तारिका (पुतली) के अग्रभाग में रहने वाली तथा रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुः इन्द्रिय है। विषय चार प्रकार का है- भौम, दिव्य, औदर्य तथा आकरज। वह्नि (अग्नि) आदि भौम है। जलरूपी इन्धन वाली विद्युत् दिव्य है। खाये हुए (पदार्थ) के पाचन का कारण (जलीय विषय) औदर्य है। सुवर्ण आदि आकरज है।

तन्वी व्याख्या- जिससे किसी भी पदार्थ का परिपाक हो वह 'तेज' द्रव्य कहलाता है। **अन्नम्भट्ट** ने **तर्कसंग्रह** में इसे उष्ण स्पर्श वाला कहा है। अर्थात् 'उष्ण स्पर्श' ऐसा विशेष गुण है, जो केवल तेज में ही रहता है। इससे पूर्व **कणाद** ने रूप तथा स्पर्श द्रव्य को तेज कहा था- **तेजोयुक्तः स्पर्शवत्।** इस सन्दर्भ में **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** में यह तर्क दिया है कि जल में तेज की अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि उसमें प्रतीत होने वाली उष्णता तेज संसर्ग के कारण होती है।

तेज के गुण

तर्कसंग्रह अथ वा **दीपिका** में यद्यपि तेज के गुणों का उल्लेख नहीं मिलता तथापि अन्य **वैशेषिकाचार्यों** ने इनके कई गुणों का उल्लेख किया है। **प्रशस्तपाद** ने इसमें ग्यारह गुणों का परिगणन किया है। ये हैं- रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार। इनमें रूप तथा स्पर्श ही केवल तेज के विशेष गुण हैं। इसका रूप भास्वर शुक्ल होता है तथा स्पर्श उष्ण। इसके वर्णों की विविधता इसमें उपस्थित पार्थिव एवं जलीय द्रव्यों के कारण पायी जाती है।

इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह एकदम हल्का होता है, गुरुत्व अर्थात् भार उसमें नहीं होता है। यही कारण है कि निम्नाभिमुख करने पर भी दीपशिखा ऊपर की ओर ही जाती है।

तेज के भेदोपभेद

तेज का वर्गीकरण दो रूपों में किया गया है- नित्य एवं अनित्य। नित्य परमाणुरूप तथा अनित्य कार्यरूप है। प्रकारान्तर से इसके भी शरीर, इन्द्रिय एवं विषय रूप में तीन भेद हैं। **शंकर मिश्र** ने उपस्कार में तेज के निम्न चार भेदों का उल्लेख किया है-,

(क) जिनमें रूप एवं स्पर्श दोनों हैं, जैसे सूर्य आदि,

(ख) जिनमें रूप है किन्तु स्पर्श अव्यक्त है, यथा चन्द्रमा,

(ग) जिनमें रूप तथा स्पर्श अनुस्यूत है, जैसे नेत्रज्योतिः तथा

(घ) जिनमें रूप अनुस्यूत है किन्तु स्पर्श उद्भूत है, जैसे लाल गर्म घट।

शरीर

तैजसशरीर आदित्य लोक में होता है। यहाँ आदित्य लोक का तात्पर्य सूर्य लोक से है। यह शरीर केवल अयोनिज होता है क्योंकि योनिज के लिये आवश्यक शुक्र, शोणितादि सम्बन्ध केवल पृथिवी में ही है। तेज के अतिरिक्त जल एवं वायु के भी अयोनिज शरीर नहीं होते। **शंकर मिश्र** के अनुसार **आप्यं तैजसं वायवीयञ्चायोनिजमेव, शुक्रशोणितयोर्नियमेन पार्थिवत्वात्।**

डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार तैजस शरीर सूर्यलोक में होते हैं। परन्तु आधुनिक विज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सूर्य में इतनी प्रचण्ड गर्मी है कि वहाँ कोई जीवधारी शरीर हो, यह संभव नहीं।

इन्द्रिय

तैजस इन्द्रिय वह है जो प्राणिमात्र को रूप का ज्ञान कराती है तथा पार्थिव आदि द्रव्यों के अवयवों से न मिले हुए केवल तैजस अवयव से उत्पन्न होता है। यह इन्द्रिय रूप की ग्राहिका होती है। **अन्नम्भट्ट** ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह आँख के कृष्णतारक के अग्रभाग में रहती है।

यहाँ शंका उठायी गयी है कि चक्षु प्राप्यकारी इन्द्रिय है अर्थात् किसी

वस्तु को देखते समय दृग् इन्द्रिय आँख से बाहर दृश्य पदार्थ तक जाकर उसका प्रत्यक्ष करती है।[1] **अथल्ये-बोडास** ने चक्षुरिन्द्रिय का आश्रय **रैटिना** को माना है।

विषय

तैजस विषय चार प्रकार के हैं- भौम, दिव्य, औदर्य तथा आकरज।

(क) **भौम-** यह पार्थिव इन्धन से उत्पन्न होने वाला है, यही कारण है कि यह अन्य तैजस विषयों से भिन्न होता है। यथा- काष्ठप्रभृति इन्धन से उत्पन्न वह्नि आदि।

(ख) **दिव्य-** दिव्य का अर्थ है- अन्तरिक्ष में होने वाला- **दिव्यं दिवि भवम्।**[2] यह जलीय इन्धन से उत्पन्न होता है। जैसे- विद्युत् आदि।

(ग) **औदर्य-** खाये हुए को पचाने वाला औदर्य है। इसे लोक में जठराग्नि नाम से भी जाना जाता है। इनका इन्धन दोनों प्रकार का होता है। जैसे- भौम एवं दिव्य।

(घ) **आकरज-** आकर अथ वा खाने से उत्पन्न होने वाला तेज आकरज है। यथा- सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि।

विषय विवेचन के क्रम में **अन्नभट्ट** ने मीमांसक के मतों का उल्लेख किया है कि गुरुत्व एवं पीतत्व इन दोनों गुणों का अधिकरण होने से हरिद्रा आदि की भाँति सुवर्ण भी पार्थिव ही है। वह तेज इसलिये भी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें न तो उष्ण स्पर्श होता है और न ही भास्वरशुक्ल रूप। अतः सुवर्ण पार्थिव ही सिद्ध होता है।

अन्नम्भट्ट की दृष्टि में सुवर्ण भी तेज ही है। इसकी उष्णता पार्थिव पदार्थों के आधिक्य से छिप जाती है। उन्होंने दो प्रकार से सुवर्ण के तैजस्त्व की सिद्धि की है। प्रथमतः उनकी युक्ति यह है कि अत्यन्त अनल संयोग होने पर घृतादि पार्थिव वस्तु के द्रवत्व का नाश हो जाता है किन्तु जल के मध्य स्थित घृत के द्रवत्व का नाश अत्यन्त अग्नि संयोग में भी नहीं होता है। जब तक घृत जल में स्थित रहेगा, जल का ही द्रवत्व नष्ट होता रहेगा, घृत का नहीं, क्योंकि जल घृतप्रभृति पार्थिव वस्तु के नाश का प्रतिबन्धक है। प्रतिबन्धक के अभाव में तीव्र अनल संयोग से पार्थिव वस्तु का द्रवत्व

---

1. **वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपण, पृ. 100**
2. **किरण०, पृ.52**

नष्ट हो जाता है। किन्तु अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर भी सुवर्ण का द्रवत्व नष्ट नहीं होता। द्वितीयतः सुवर्ण को न जल, न वायु ही माना जा सकता है क्योंकि जल के न होने में प्रमाण यह है कि इसकी तरलता स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत औपाधिक है। यह वायु भी नहीं हो सकता क्योंकि इसका रूप है। इसलिये सुवर्ण तैजस ही हो सकता है।

किन्तु **आधुनिक विज्ञान** की धरा पर **अन्नम्भट्ट** अथ वा **वैशेषिकाचार्यों** का उक्त सिद्धान्त खरा नहीं उतरता। इस विषय पर **डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री** ने यह टिप्पणी की है कि सुवर्ण चाँदी आदि को तैजस या आग्नेय मानना आधुनिक विज्ञान के विरुद्ध है क्योंकि पहली बात तो यह है कि सुवर्ण, चाँदी आदि मूल तत्त्व है दूसरी यह कि जो यहाँ युक्ति दी गयी है वह भी नहीं ठहरती क्योंकि बहुत अधिक ताप देने से जल और घृत आदि के समान सुवर्ण या चाँदी आदि भी भाप बन कर उड़ जाते हैं, अर्थात् उनका द्रवत्व नष्ट हो जाता है। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन समय में कदाचिद् इतना ताप उत्पन्न नहीं किया जा सका था, जिससे सुवर्ण आदि भाप हो सके। परन्तु कुछ खान से उत्पन्न होने वाली धातु जैसे जस्ता आदि बहुत कम ताप पर अर्थात् जितने ताप पर सुवर्ण गलता है, उससे भी कम ताप पर भाप हो जाते हैं। उनके विषय में प्रचीनों ने क्या सोचा होगा, यह नहीं पता। जो कुछ भी हो प्राचीनों के इन विचारों का इस समय केवल ऐतिहासिक मूल्य है।[1]

1. न्या०सि०मु० (प्रत्यक्षखण्ड), पृ. 154

रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः- नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसञ्ज्ञां लभते।

रूपरहित स्पर्श (गुण) से युक्त वायु कहलाता है, वह दो प्रकार का है- नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्यरूप है। पुनः वह वायु तीन प्रकार का है- शरीर, इन्द्रिय एवं विषय। शरीर वायुलोक में है। स्पर्श को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय, त्वक् (त्वचा) है जो सारे शरीर में विद्यमान है। वृक्ष आदि के कम्पन का हेतु विषय है। शरीर के अन्दर संचरणशील वायु प्राण है। एक होने पर भी उपाधि भेद के कारण प्राण, अपान आदि संज्ञा (नाम) को प्राप्त करते हैं।

तन्वी व्याख्या- द्रव्यों की परम्परा में वायु चतुर्थ द्रव्य है। यह रूपरहित और स्पर्श गुण से युक्त होता है। 'रूपरहित होता हुआ स्पर्शवान् होना'- यह वायु का लक्षण है। **न्यायबोधिनी** में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है- **रूपरहितत्वे सति स्पर्शवत्त्वं वायोर्लक्षणम्।** यहाँ 'रूपरहितत्व' विशेषण है तथा स्पर्शवत्त्व विशेष्य। विशेष्य विशेषण से युक्त होकर विशिष्ट कहलाता है। इस प्रकार वायु का लक्षण होगा- **रूपरहितत्वविशिष्टस्पर्शवत्त्व।** यद्यपि पृथिवी, जल, एवं तैजस द्रव्य स्पर्शवान् हैं तथापि रूपरहित नहीं है, किन्तु वायु रूपरहित है। इस प्रकार वायु की सामान्य विशेषता निम्न हो सकती है-

(क) वायु स्पर्शगुणों से युक्त होता है तथा

(ख) यह रूपरहित होता है।

वायु के प्रकार

पृथिवी, जल एवं तेज की भाँति इसके नित्य एवं अनित्य दो प्रकार हैं। प्रकारान्तर से **शरीर, इन्द्रिय** एवं **विषय**, इसके तीन भेद हैं। वायवीय शरीर अयोनिज होता है। यह वायुलोक में प्राप्त होता है। जो द्रव्य पदार्थ के स्पर्श प्रत्यक्ष का अनुभव जीवात्मा को कराता है, वह त्वक् इन्द्रिय है। शरीर की अन्य समस्त इन्द्रियाँ इस त्वगिन्द्रिय से ढँकी होती हैं। साथ ही वृक्षादि कम्पन का जो हेतु है, वह विषय ही वायु है।

उक्त तीनों विभाजन के अतिरिक्त वायु की एक अतिरिक्त विधा का भी संकेत है- **प्राण**। शरीर के भीतर संचरण करने वाली वायु प्राण है। यह वायु का ही भेद है या उससे पृथक्, इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। **दीपिका** में भी **प्राणस्य कुत्र अन्तर्भावः** कह कर प्रश्न उपस्थित किया गया है किन्तु उसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है। **प्रशस्तपाद** ने स्पष्ट रूप से इसे वायु का चौथा प्रकार माना है- **तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः, शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण** इति। इस प्रकार यह शरीर, इन्द्रिय एवं विषय से भिन्न प्रतीत होता है। **मुक्तावलीकार** ने प्राण को चतुर्थ भेद स्वीकार न करके विषय रूप वायु के अन्तर्गत रखा है तथा अनित्य वायु के तीन भेद ही बतलाये हैं।

अन्नम्भट्ट के उक्त वाक्यांश से एक विशेष बात यह ध्वनित होती है कि वे इस विषय के ऊपर कुछ मौलिक विचार रखते थे किन्तु सम्प्रदायगत विवादों से ऊपर उठकर इसे प्रश्न ही बना रहने दिया। प्राण के विषय में इनका यही मन्तव्य है कि यह अपान, व्यान, समान तथा उदान के रूप में एक ही है। शरीर के विभिन्न भागों में संचरण होने तथा विभिन्न क्रियाओं में सहायक होने से इनके नामों में विभिन्नता पाई जाती है। प्राणों के इन पाँचों सामूहिक नामों को इस प्रकार जाना जा सकता है-

प्राण वह है जो मुख एवं नासिका से प्रवेश तथा प्रस्थान करता है।

अपान गुदा में स्थित होकर मल आदि को शरीर से बाहर निकालता है।

समान वह है जो अन्तः अग्नि को अन्नादि के पाचन हेतु स्थानान्तरित करता है, यह नाभि प्रदेश में स्थित रहता है।

उदान वस्तु को ऊपर की ओर भेजने वाली वायु है।

व्यान शरीर की प्रत्येक नाड़ियों से भुक्त आहार के रस को सर्वत्र फैलाने का कार्य करता है।

अन्नम्भट्ट ने उक्त पञ्चविधता का आधार उपाधि अर्थात् स्थान भेद को बनाया है- **स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसञ्ज्ञां लभते**। जबकि **प्रशस्तपाद** ने प्राण को एक मानकर उसके पाँच भेद केवल क्रियाजन्य माने हैं। **विश्वनाथ** ने भी स्थानभेद को ही आधार बनाया है।

इसके साथ ही **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** में एक शंका उपस्थित की है कि क्या वायु प्रत्यक्षगम्य है? इस शंका का निराकरण करते हुए उन्होंने स्वयं

कहा है कि वायु प्रत्यक्षगम्य नहीं है। प्रत्यक्षगम्य होने के लिये किसी भी वस्तु का रूपवान् होना आवश्यक है जबकि वायु रूपरहित है।

कणाद ने किसी द्रव्य के प्रत्यक्षार्थ तीन अनिवार्य स्थितियाँ बतायी है-

(क) महत्परिमाणवत्त्व

(ख) एक से अधिक द्रव्यों से निर्मित तथा

(ग) रूपवान् होना।[1]

इस दृष्टि से भी वायु प्रत्यक्षगम्य नहीं है ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु **नैयायिकों** में यहाँ पर्याप्त मतभेद हैं। प्राचीन नैयायिक इसे प्रत्यक्षगम्य न मानकर अनुमेय मानते हैं, जबकि **नव्यनैयायिक** इसे प्रत्यक्षगम्य मानते हैं। **व्योमशिवाचार्य** के अनुसार रूप के बिना भी वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता ही है- **रूपं विनापि वायोः स्पार्शनेन प्रत्यक्षत्वात्। जैनसम्प्रदाय** में वायु को रूपादिमान् सिद्ध किया गया है- **वायू रूपादिमान् स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। ननु चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावात् रूपाद्यभाव इति चेत् न परमाण्वादिष्वतिप्रसङ्गात्।**[2]

इस विवाद को यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो यह प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष शब्द का विवेचन ही इस विवाद का मूल है। वायु को अनुमेय माननेवाले **दर्शनाचार्यों** ने चक्षुरिन्द्रिय से प्राप्त होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना है। इस चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये उद्भूतरूप होना अनिवार्य है। वायु में उद्भूतरूप नहीं होता। इसीलिए ऐसे **दर्शनाचार्यों** ने वायु को प्रत्यक्षगम्य न मानकर अनुमेय माना।

किन्तु इसके विपरीत कुछ **दार्शनिकों** ने पञ्चबाह्येन्द्रियों सहित अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा प्राप्त होने वाले स्व-स्व वैषयिक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना है। इन **दार्शनिकों** ने 'अक्ष' का अर्थ 'इन्द्रियमात्र' ग्रहण किया है। इसी आधार पर **जयन्तभट्ट** ने **न्यायमंजरी** में प्रत्यक्ष को षड्विध माना है- चाक्षुष, रासन, घ्राणज, श्रावण, स्पार्शन तथा मानस।[3] इस आधार पर स्पार्शन प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण वायु प्रत्यक्षगम्य है।

---

1. **महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात्, रूपाच्चोपलब्धिः- वै०सू० 4.1.6**
2. **राजवार्तिक, पृ. 96**
3. **प्रकारान्तरेणा लौकिकं प्रत्यक्षं षड्विधम्- घ्राणजं रासनं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं मानसश्चेति।- न्या० मं० भाग- 1. पृ.3**

किन्तु **अन्नम्भट्ट** ने पूर्णतया वैशेषिक **सिद्धान्त** का ही परिपालन किया है। इस सन्दर्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि **वैशेषिकाचार्यों** का एक वर्ग केवल चाक्षुष को ही प्रत्यक्ष मान रहा था।

वायु के गुण

वायु के नौ गुण हैं- स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा संस्कार। इनमें स्पर्श के भेदों में अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श वायु में रहता है। संस्कार के भेदों में वेग नामक संस्कार रहता है।

अथ सृष्टिप्रलयनिरूपणम्

पृथिवी, जल, तेज, तथा वायु ये चार कार्यरूप द्रव्य हैं, इसीलिये इनमें से अन्तिम कार्य द्रव्य के विवेचनक्रम में **अन्नम्भट्ट** ने यहाँ इन द्रव्यों की उत्पत्ति एवं विनाश प्रक्रिया को समझाया है। (इस सृष्टि संहार प्रक्रिया का विस्तार पूर्वक प्रथम प्रतिपादन **प्रशस्तपाद** ने किया था।) **दीपिकाकार** के अनुसार सृष्टि के विविध द्रव्य परमाणुओं के संघात हैं। **ईश्वर** की इच्छा से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् दो परमाणुओं में संयोग होता है। फलस्वरूप द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार क्रमशः तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्रसरेणु तथा चार त्रसरेणुओं के संयोग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार, चतुरणुकादिक्रम से महती पृथिवी, महाजल, महातेज, तथा महावायु की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार पुनः जब उत्पन्न हुए कार्यद्रव्यों के विनाश की ईश्वर की इच्छा होती है तब इसी क्रम से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया में पहले द्व्यणुक का नाश होता है, तब द्व्यणुकों में क्रिया होने से त्र्यणुक का नाश होता है और पुनः चतुरणुक का नाश। इस प्रकार सभी कार्य द्रव्यों का अपने कारण के नाश से विनाश हो जाता है। प्राचीनों के अनुसार इस कार्यविनाश के दो प्रकार हैं- समवायिकारण से कार्य का नाश तथा असमवायिकारण से कार्य का नाश। यहाँ असमवायिकारण (परमाणुद्वयसंयोग) के नाश से द्व्यणुक का नाश होता है तथा समवायिकारण के नाश से त्र्यणुक का नाश होता है। किन्तु, नवीन नैयायिकों का यह मानना है कि सर्वत्र असमवायिकारण के नाश से ही कार्यद्रव्यों का नाश होता है।

अस्तु, इस विनाश प्रक्रिया की निरन्तरता से एक समय समग्र कार्यद्रव्यों का नाश हो जाता है। किन्तु परमाणुमात्र अवशिष्ट ही रहते हैं- ऐसी दशा

को **प्रलय** कहते हैं। प्रलयकाल की समाप्ति पर पुनः सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तथा एक नवीन सृष्टि का उदय होता है। इस प्रकार, इस सृष्टि प्रक्रिया का न आदि है न अन्त। अर्थात् सृष्टि-प्रलय-प्रक्रिया अनादि एवं अनन्त है। **अन्नम्भट्ट** ने दो प्रकार के प्रलय का उल्लेख किया है- **अवान्तरप्रलय एवं महाप्रलय**। जब सारे कार्यद्रव्यों का नाश हो जाता है तब **अवान्तरप्रलय** होता है। इसे **खण्डप्रलय** भी कहा जाता है। इस प्रलय के बाद भी परमाणुओं में गुणों का नाश नहीं होता है क्योंकि पुनः सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ होनी होती है।

सारे भाव कार्यों के ध्वंस के अनन्तर **महाप्रलय** होता है। यहाँ भाव कार्य से तात्पर्य है परमाणुगत गुणों का धर्म, अधर्म तथा आत्मा में रहने वाले भावना नामक संस्कार। ऐसी स्थिति में परमाणु भी निष्क्रिय एवं जन्यगुण रहित हो जाते हैं। महाप्रलय का स्वरूप तभी युक्तियुक्त होगा जब यह माना जाये कि इसके अनन्तर पुनः सृष्टि न मानी जाये। जब कि ऐसा होता नहीं, सृष्टि निरन्तर चलती रहती है।

शंकराचार्य ने **ब्रह्मसूत्र** में इस क्रम के विपरीत सृष्टि प्रक्रिया दर्शायी है। वहाँ उन्होंने अन्तिम कार्य को नाश के समय सर्वप्रथम नष्ट होने वाला बताया है। इसके पश्चात् उसके अंश का नाश होता है और इस प्रकार हम अन्तिम कारण को प्राप्त करते हैं।[1] **मीमांसक** इस सृष्टिसंहारप्रक्रिया को स्वीकार ही नहीं करते। उन्होंने अपनी युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रलय संभव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक दिन के बाद रात एवं रात के बाद दिन आता है। अतीत एवं भविष्य में भी यह शृंखला इसी प्रकार निर्बाध गति से चलती रही है तथा चलती रहेगी। इसके विराम की कोई संभावना दिखाई नहीं देती। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति आजीवन कर्म करता हुआ दिखाई देता है, उसकी क्रिया कभी विरत नहीं दिखाई देती एवं प्रत्येक कर्म का फल भी अवश्य भोगना होता है, यह सर्वमान्य है। अतः जब किसी एक व्यक्ति के विषय में भी यह नहीं सोचा जा सकता कि उसके सम्पूर्ण कर्मों एवं उनके फलों का नाश हो जाएगा, तब सभी जीवों की वृत्तियों एवं उनके अदृष्टों की विश्रान्ति की कल्पना भी कैसे की जा सकती है? अतः **मीमांसकों** के अनुसार प्रलय एवं अवान्तर सृष्टि नहीं होती।

---

1. **ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य**, 2.3.14

यहाँ ध्यातव्य है कि वैशेषिक का सृष्टि एवं प्रलयसम्बन्धी सिद्धान्त अनित्य द्रव्यों की ही सृष्टि एवं प्रलय का उल्लेख करता है नित्य की नहीं। सृष्टि के क्रम में चर्चित पृथिवी, जल, तेजस् एवं वायु के अतिरिक्त सारे द्रव्य नित्य हैं। दिक्, काल, आत्मा और मन के **परमाणुओं** की न तो सृष्टि होती है न विनाश ही होता है।

दीपिका में इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत वैशेषिकों के अतिमहत्त्वपूर्ण सिद्धान्त **परमाणुकारणवाद** अथ वा **परमाणुवाद** की व्याख्या निहित है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-

परमाणुकारणवाद

वैशेषिक दर्शन विश्व की निर्मिति परमाणुओं के द्वारा मानते हैं। ये परमाणु चार प्रकार के हैं-- पृथिवी, जल, तेज, एवं वायु के परमाणु। चूँकि विश्व का निर्माण इन्हीं चार परमाणुओं से हुआ है, इसलिये वैशेषिक का सृष्टिसम्बन्धी सिद्धान्त **परमाणुवाद** (Theory of Atomism) कहलाता है।

इससे पूर्व यह स्पष्ट किया गया था कि परमाणुओं के संयुक्त होने से विभिन्न वस्तुओं (कार्य द्रव्यों) का निर्माण होता है तथा इनके विच्छेद से वस्तुओं का नाश होता है। यह एक प्रक्रिया है- दो परमाणुओं के संयोग से एक द्व्यणुक का निर्माण होता है। दोनों परमाणु उस द्व्यणुक के समवायिकारण होते हैं। इन दोनों परमाणुओं का संयोग असमवायिकारण तथा अदृष्ट आदि निमित्त कारण होते हैं। तत्पश्चात् तीन द्व्यणुकों के संयोग से एक त्र्यणुक का निर्माण होता है। इसी प्रकार चार त्र्यणुकों के संयोग से चतुरणुक का निर्माण होता है। इस प्रकार क्रमशः एक सृष्टि होती है। पृथिवी, जल, तेज एवं वायु इसी चतुरणुक के संयोग से पृथिवी आदि कार्य में रहने वाले रूप आदि गुण अपने रूपादि के आश्रयभूत द्व्यणुकादि के समवायिकारण परमाणु आदि में रहने वाले रूप आदि गुणों से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि नियम यही है कि 'कारण के गुण कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं'- **कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते।**

वैशेषिक ने इस परमाणु को निरवयव एवं निष्क्रिय माना है। ऐसी स्थिति में यह शंका उत्पन्न होती है कि इन परमाणुओं में संयोग कैसे होता है? इसके समाधानार्थ एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण का उदय हुआ। **वैशेषिकाचार्यों** ने इसके लिये एक अदृष्ट की कल्पना की। यह अदृष्ट ही

उक्त कार्य को सम्पन्न करता है। **दीपिकाकार** ने इसे अत्यधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि **ईश्वरस्य चिकीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया जायते।**

परमाणुवाद के इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अणु को सृष्टि का उपादान कारण कहा गया है। **गौतम** ने **परं वा त्रुटेः** कहकर इसकी परिभाषा की है। अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण जिसे तोड़ा न जा सके तथा जो सर्वथा अविभाज्य एवं अविच्छेद्य हो, वह परमाणु है। **न्यायकन्दलीकार** ने इस विषय में यह तर्क दिया है कि अणुपरिमाण का किसी एक विन्दु पर न्यूनतम भाव मानना पड़ेगा, जहाँ उस ज्ञान की समाप्ति होगी, वही परमाणु है। उस न्यूनतम परिमाण से किसी दूसरे परिमाण का आरम्भ नहीं होता।[1]

दीपिका के अनुसार खिड़की से आनेवाली सूर्य की किरणों में स्थित जो सूक्ष्मतम द्रव्य दिखायी पड़ता है, वह सावयव होता है। त्र्यणुक का अवयव भी सावयव होता है जो द्व्यणुक का अवयव है वही परमाणु है। अन्यत्र भी कहा गया है कि खिड़की की जाली से आनेवाली धूप में दिखायी पड़नेवाले सूक्ष्मतम कण को **त्रसरेणु** तथा उसके छठे भाग को **परमाणु** कहा जाता है-

जालसूर्यमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते।।

यहाँ आधुनिक विज्ञान यह कहता है कि परमाणु का विभाजन **इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन** तथा **प्रोटॉन** के रूप में किया जा सकता है। **डॉ० महेश भारतीय** ने इसके समर्थन में यहाँ तक कह दिया है कि **वैज्ञानिक** ने परमाणु को सावयव सिद्ध कर दिया है इसलिये वैशेषिकों का परमाणु अब इतिहास की वस्तुमात्र रह गयी है।[2]

किन्तु यह तर्क सहज अनुगम्य नहीं है। क्योंकि वैशेषिकाचार्य के अनुसार त्रुटि अथ वा टूटने की अवस्था परमाणु की हो ही नहीं सकती। दूसरे शब्दों में, जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता वही परमाणु है। **गौतम** ने तो टूटने के बाद की परम (सूक्ष्मतम) अवस्था को परमाणु कहा है। परमाणु के टूटने से अनवस्था दोष आ जाएगा। यही कारण है कि परमाणु तक ही क्रम पहुँच पाता है। ऐसी स्थिति में **वैज्ञानिकों** द्वारा (वर्णित इलेक्ट्रॉन आदि को ही) परमाणु कहा जाना चाहिए।

---

1. न्या० कं०, पृ. 79
2. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, पृ. 36

द्रव्यों के परिमाण भेद की व्याख्या के लिये परमाणु की कल्पना की गयी है। एतदर्थ यह दृष्टान्त भी दिया जाता है कि मेरुपर्वत एवं सर्षप (सरसों) के परिमाण में भेद का कारण उसके परमाणु ही हैं। इनके परमाणुओं की संख्या में भिन्नता के कारण ही आकार में भेद देखा जाता है। परमाणुओं की संख्या में भेद न होने की स्थिति में पर्वत एवं सर्षप में कोई भेद ही नहीं रह जाएगा।

इसके साथ ही अन्य **दार्शनिक** सम्प्रदायों में भी **परमाणुवाद** का विवेचन मिलता है। **जैनमत** भी परमाणुवाद का पूर्ण विवेचन करता है। **डॉ0 देवराज नन्दकिशोर** ने तो इस वाद का प्रवर्त्तक **जैनाचार्यों** को ही माना है। **जैनमत** में परमाणु पुद्गल द्रव्यस्वरूप है। इसके अच्छेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य तथा निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। इस अच्छेद्य परमाणुसमुदाय के आधार पर स्कन्ध का निर्माण होता है। दो परमाणुओं से एक द्व्यणुक उत्पन्न होता है तथा तीन परमाणुओं से एक त्र्यणुक एवं चार से चतुरणुक तथा पाँच से पञ्चाणु एवं छः से षष्ठक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर इनसे **महास्कन्ध** उत्पन्न होता है। इस क्रम से ये परमाणु सृष्टिक्रम के आरम्भक माने जाते हैं।

वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्त से समानता प्रदर्शित करते हुए **प्रमेयकमलमार्त्तण्ड** में **प्रभाचन्द्र** ने यद्यपि कहा है कि परमाणु की वास्तविकता के विषय में **जैन** एवं **वैशेषिक** सम्प्रदाय में कोई मतभेद नहीं है तथापि परमाणुओं में परस्पर भेद की सिद्धि के लिये **वैशेषिकों** ने विशेष नामक पदार्थ को स्वीकार किया है जब कि जैनियों ने परमाणुओं को तत्त्वतः समरूप (Identical) ही माना है।

पुनश्च **वैशेषिकों** ने नित्य परमाणुओं में प्राप्त होने वाले गुणों को भी नित्य माना है किन्तु **जैनाचार्यों** के अनुसार ये गुण परिवर्तनशील हैं। **वैशेषिक दर्शन** में, परमाणुओं में प्रथम क्रिया को उत्पन्न करने वाले ईश्वर को स्वीकार किया गया है। जबकि **जैन** निरीश्वरवादी हैं, वे परमाणुओं का नियन्ता किसी चेतन कर्ता को नहीं मानते।

इस सन्दर्भ में, परमाणु के विषय में निम्न तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए–

(क) परमाणु केवल चार भूतों– पृथिवी, जल, तेज और वायु के हैं।

(ख) ये नित्य तथा अविभाज्य हैं।

(ग) पृथिवी परमाणु के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तेज के संयोग से बदल जाते हैं।

(घ) पृथिवी परमाणु के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के अतिरिक्त सभी परमाणुओं के सभी गुण नित्य हैं।

(ङ) इनका जनसाधारण को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, किन्तु त्र्यणुंक के अवयवों के रूप में, द्व्यणुकों की और इसके अवयवों के रूप में परमाणुओं की अनुमिति होती है। योगियों को परमाणुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान भी होता है।

(च) ये इस समस्त जगत् के मूल उपादान कारण हैं।

(छ) ये 'अन्त्य विशेष' के कारण परस्पर भिन्न हैं।

(ज) परमाणु में नित्य-प्रकृष्ट-अणु परिमाण भी है। इसके परमाणु को परिमण्डल एवं पारिमाण्डल्य परिमाण भी कहते हैं। पारिमाण्डल्य का अर्थ यद्यपि गोलाकार होता है, तथापि इसे मात्र परम-अणु-परिमाण का पर्याय मान लेना पर्याप्त है।

(झ) ईश्वर की इच्छा तथा जीवात्मा के अदृष्ट आदि के प्रभाव से ये गतिमान् भी होते हैं।

शब्दगुणकमाकाशम् तच्चैकं विभु नित्यञ्च।

जिसमें शब्द गुण रहता है वह आकाश कहलाता है तथा वह विभु (सर्वव्यापक) एवं नित्य है।

तन्वी व्याख्या- आकाश शब्दमात्र के उच्चारण से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि को धारण करनेवाले स्थान का बोध होता है। यह प्रयोग लोकव्यवहारमात्र के लिये है। वस्तुत: आकाश पञ्चभूतों में एक है। यहाँ भूत से तात्पर्य है ऐसा विशेष गुण जिसका ग्रहण बाह्य इन्द्रिय से हो सके- **भूतत्वं नाम बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्।**

अन्नम्भट्ट ने आकाश को शब्द **गुण** का आश्रय कहा है। यहाँ **गुण** शब्द के प्रयोग का निहितार्थ यह है कि शब्द नामक गुण आकाश के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में नहीं रहता। इसमें **मीमांसकों** की आलोचना भी छिपी है। **मीमांसकों** ने शब्द को पदार्थ माना है जब कि **वैशेषिक** ऐसा नहीं मानते।

शब्द आकाश का गुण है। यह किसी अन्य द्रव्य का गुण नहीं हो सकता क्योंकि गुण, गुणी के आश्रित होता है- **गुणश्च गुण्याश्रित एव** (त०भा०)। शब्द एक गुण है तथा इसका कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आत्मा इसके गुणी नहीं हैं। क्योंकि शब्द श्रोत्रग्राह्य है। पृथिवी आदि के गुण श्रोत्र से ग्रहण नहीं होते। यह दिक्, काल तथा मन का भी गुण नहीं है क्योंकि उनमें रहने वाले गुण सामान्य गुण हैं, जब कि शब्द विशेष गुण है। इसलिये इन द्रव्यों से अतिरिक्त गुणी आकाश ही है जिसमें शब्द रहता है।

दीपिका में स्पष्ट किया गया है कि पृथिवी आदि नित्य द्रव्य की तरह आकाश नाना नहीं है। क्योंकि इसके भेद में कोई प्रमाण नहीं मिलता। घटाकाश, मठाकाश आदि इसकी औपाधिक प्रतीति है। एक होने के कारण ही शब्द सर्वत्र उपलब्ध होता है। यह आकाश विभु है। यहाँ **विभु** का लक्षण है- **सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्।** अर्थात् सारे मूर्त द्रव्यों का संयोगी होना। जो सीमित परिमाण या क्रियावाला होता है वह मूर्त है। आकाश विभु होने के कारण अतीन्द्रिय है। इसलिये इसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं माना जा सकता। इसका ज्ञान अनुमान से ही संभव है। **दीपिका** के अनुसार विभु होने के कारण ही आकाश नित्य है- **विभुत्वादेवात्मवन्नित्यमाह नित्यं चेति।**

न्यायकेन्दलीकार ने आकाश को सर्वगत तथा सूक्ष्म कहा है। यहाँ सर्वगत से तात्पर्य वायु के **समान** सर्वत्र गमन नहीं है प्रत्युत सभी मूर्तद्रव्यों के साथ संयोग सर्वगतत्व है। आकाश निष्क्रिय है इसलिये यह गमन नहीं कर सकता। सूक्ष्मत्व से तात्पर्य है- बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहण योग्यता का अभाव तथा निरवयवत्व।

वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में भी आकाश का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु इनमें पर्याप्त वैभिन्य है। **सांख्यदर्शन** में आकाश को शब्द तन्मात्र से उत्पन्न एक महाभूत के रूप में स्वीकार किया गया है। **मीमांसकों** में प्रभाकर सम्प्रदाय का मत वैशेषिक के अनुकूल ही है। किन्तु **भाट्टमीमांसक** आकाश को तो द्रव्य मानते ही हैं, शब्द को भी एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। उनके अनुसार आकाश प्रत्यक्षगम्य है।

अद्वैत वेदान्त में आकाश को भी ब्रह्म ही कहा गया है- **तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति सिद्धम्।** **जैन** दर्शन के अनुसार, जो इस लोक में समस्त जीवों तथा धर्म, अधर्म, काल द्रव्यों और पुद्‌गलों को अवकाश देता है, वह आकाश द्रव्य है।

अंग्रेजी में आकाश के लिये **ईथर** (Ether) शब्द का प्रयोग किया जाता है। **आधुनिक वैज्ञानिक** आकाश को केवल शून्य मानते हैं।

अस्तु उक्त विवेचन के आधार पर आकाश की निम्न विशेषताएँ प्रकट होती हैं:-

(क) शब्दगुणाश्रयी द्रव्य ही आकाश है।

(ख) आकाश अनुमान प्रमाण का विषय है।

(ग) आकाश नित्य एवं विभु है।

(घ) आकाश रूपरहित है।

आकाश के रूप के विषय में सदैव यह शंका रहती है कि इसका वर्ण नील है। यह एक भ्रान्ति है। यद्यपि **वैशेषिकाचार्यों** ने यह तर्क दिया है कि आकाश की नीलिमा, सुमेरु पर्वत पर स्थित इन्द्रनीलमणि की कान्ति है। किन्तु तार्किक दृष्टि में इन्द्रनीलमणि आदि में ऐसी क्षमता नहीं है कि दोनों गोलार्द्धों के आकाश को वह नीला कर दे। **आधुनिक वैज्ञानिकों** की दृष्टि में, प्रकाश के सात रंगों में नीले रंग का तरंगदैर्घ्य सबसे कम होता है। कम तरंगदैर्घ्य होने के कारण नीले रंग का प्रसार सर्वाधिक है। शेष रंगों की तरंगें

वायुकणों के द्वारा अवशोषित कर ली जाती हैं। फलस्वरूप आकाश में नीलत्व की प्रतीति होती है।

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।

अतीत आदि व्यवहार का हेतु काल है। वह एक, विभु तथा नित्य है।

तन्वी व्याख्या- सामान्यतः काल का अर्थ समय से लिया जाता है। अंग्रेजी में इसे **Time** कहा जाता है। यद्यपि दर्शन, विज्ञान एवं साहित्य में इसका पर्याप्त विवेचन किया गया है तथापि इसे किसी स्वरूप या लक्षण से नहीं समझा जा सकता है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये इसकी उपाधियों यथा- घण्टा, मिनट, सेकण्ड, पल, क्षण, लव आदि का आश्रय लिया जाता है।

अन्नम्भट्ट ने काल को लक्षित करते हुए कहा है कि अतीतादि के व्यवहार का हेतु ही काल है। यहाँ व्यवहार शब्द भाषा व्यवहार के लिये प्रयोग में लाया जाने वाला शब्द विशेष है। इस प्रकार इसका भाव यह बनता है कि दैनिक जीवन में भूत, भविष्य, वर्तमान आदि उपाधि जिसे परिलक्षित करके प्रयोग में लाये जाते हैं, वही काल है। काल की सत्ता में प्रमाण के लिये **वैशेषिक** यह कहते हैं कि हम दैनन्दिन वाक्यों में किसी घटना के लिये भूत, भविष्य या वर्तमान का प्रयोग करते हैं। यह प्रयोग असंगत नहीं होता बल्कि इन प्रयोगों का एक वास्तविक आधार होता है। यह वास्तविक आधार ही काल है। न्याय की भाषा में अतीतादि व्यवहारों का असाधारण कारण जो द्रव्य है, वह काल है।

प्रशस्तपाद ने काल की सिद्धि-हेतु निम्न तीन लिङ्ग दिये हैं।[1]

(क) पर, अपर, युगपत्, चिर, क्षिप्र आदि प्रतीतियों का हेतु काल है।

(ख) सम्पूर्ण कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु काल है।

(ग) क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, याम आदि प्रत्ययों का हेतु काल है।

आकाश की तरह ही यह काल एक, विभु एवं नित्य है। दीपिका में इसे

---

1. प्र० पा० भा०, पृ. 41-43.

सर्वाधार कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जगत् की समस्त क्रिया अथवा उन क्रियाओं की उत्पत्ति इसी काल में होती है। यही कारण है कि इसे सारे कार्यों का निमित्तकारण कहा जाता है। ध्यातव्य है कि उत्पन्न होने वाले सारे कार्यों के पूर्व काल नियतरूप से विद्यमान रहता है। मुक्तावली में भी कहा गया है- **जन्यानां जनकः कालः जगतामाश्रयो मतः।**[1]

योगिजन इसे बौद्धिक धारणा मात्र मानते हैं जबकि **शैव**, **शाक्त** एवं **आगमों** में काल को ईश्वर से सम्पृक्त शक्ति विशेष माना गया है। **अरस्तू** ने काल की अस्पष्ट स्थिति मानी है। इस पर टिप्पणी करते हुए **प्रो० भादुड़ी** ने कहा है कि कुछ विशेष गुणों का आश्रय होने से काल एक बाह्यतः सत् द्रव्य के रूप में अवस्थित है तथा जागतिक प्रक्रिया में इसका अपना एक विशेष प्रयोजन है, केवल अस्पष्ट स्थिति नहीं है, जैसी कि **अरस्तू** मानते हैं।[1]

किन्तु पाश्चात्य **दार्शनिक** काल के उक्त प्रतीतिजन्य लक्षण से सहमत नहीं है। काण्ट ने इस प्रकार कहा है कि केवल प्रतीति के आधार पर काल और दिशा की वास्तविकता को स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रतीति तभी सम्भव है जबकि उसके सम्बन्ध में पूर्व से ही कोई भावना विद्यमान हो।[2]

अन्य द्रव्यों की भाँति काल के भी कुछ गुण हैं। **प्रशस्तपाद** ने काल में केवल पाँच गुणों को ही माना है। ये हैं- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग। ये इसके सामान्य गुण हैं क्योंकि **न्याय-वैशेषिक** दर्शन में काल के विशेष गुण होते ही नहीं जिसका बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो सके।

काल के उक्त विवेचन के आधार पर इसकी निम्न विशेषताएँ प्रकट होती हैं-

(क) काल एक सत् द्रव्य है।

(ख) काल नित्य है

(ग) काल विभु (सर्वव्यापी) द्रव्य है।

(घ) काल निष्क्रिय है क्योंकि विभु द्रव्यों में कोई क्रिया नहीं होती।

---

1. भा० प०, पृ. 45.
1. SNVM, p. 183.
2. **न्यायदर्शनः एक परिचय**, पृ. 55.

(ङ) काल में पाँच सामान्य गुण होते हैं- सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग।

(च) काल के आकाशादि की तरह विशेष गुण नहीं होते।

(छ) काल प्रत्येक क्रिया की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का हेतु है।

(ज) काल भूत, भविष्य, वर्तमान आदि उपाधियों से अभिव्यक्त होता है।

(झ) काल सर्वाधार है।

दैनन्दिन प्रयोग में इस काल के कुछ गणितीय भेद प्राप्त होते हैं। छात्रों के ज्ञानवर्धन के लिये इसे निम्न तालिका में प्रस्तुत किया जा रहा है-

2 क्षण	1 लव
2 लव	1 निमेष
18 निमेष	1 काष्ठा
30 काष्ठा	1 कला
30 कला	1 मुहूर्त्त
30 मुहूर्त्त	1 अहोरात्र (24 घण्टे)
15 अहोरात्र	1 पक्ष
2 पक्ष	1 मास
2 मास	1 ऋतु
3 ऋतु	1 अयन
2 अयन	1 संवत्सर (वर्ष)
1 संवत्सर	1 दिव्य अहोरात्र
360 दिव्य अहोरात्र	1 दिव्य वर्ष
12000 दिव्य वर्ष	4 युग
1000 चतुर्युग	1 ब्राह्म दिन
1000 चतुर्युग	1 ब्राह्म रात्र
(2000 चतुर्युग	1 ब्राह्म अहोरात्र)
360 ब्राह्म अहोरात्र	1 ब्राह्म वर्ष
100 ब्राह्म वर्ष	1 सृष्टि की अवधि
100 ब्राह्म वर्ष	1 प्रलय की अवधि

(43,20,00,000 मानवीय वर्ष ब्रह्मा के एक दिन का मान है)

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका विभ्वी नित्या च।

प्राची (पूर्व) आदि के व्यवहार के कारण को दिक् कहते हैं। वह एक, सर्वव्यापक एवं नित्य है।

तन्वी व्याख्या- द्रव्य परम्परा का सातवाँ द्रव्य 'दिक्' (दिशा) है। इसी के कारण हमें दूर अथ वा समीपार्थक ज्ञान होता है। **अन्नम्भट्ट** ने प्राची आदि के व्यवहार के हेतु को दिशा का लक्षण कहा है। यहाँ 'आदि' पद से प्रतीची, उदीची, अवाची आदि समस्त दिशाओं का उपलक्षण किया गया है। व्यवहारहेतु से तात्पर्य है वाक्यसौविध्य अथ वा भाषा व्यवहार के लिये प्रयोग में लाया जाने वाला शब्द विशेष। यदि कोई पदार्थ नहीं होगा तो उसका बोध भी नहीं होगा। पूर्व-पश्चिमादि शब्दों का भी व्यवहार हम करते हैं- या लोकव्यवहार इस बात का प्रमाण है कि दिशा नामक कोई पदार्थ है। सूत्रकार **कणाद** के अनुसार दो समकालीन वस्तुओं में आगे पीछे या दूर-निकट होने का ज्ञान हमें दिशा से ही प्राप्त होता है।[1]

वैशेषिक दर्शन में दिक् को प्रत्यक्ष का विषय न मानकर अनुमान का विषय माना गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त यह मानस प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं बन पाता क्योंकि यह कोई आध्यात्मिक पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार, **वैशेषिक** काल की तरह दिक् को भी समस्त कार्यों के प्रति निमित्तकारण मानता है। **दीपिका** में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक कार्य किसी विशिष्ट समय में तथा दिक् के किसी विशेष प्रदेश में उत्पन्न होता है। अतः दिक् और काल को प्रत्येक कार्य का निमित्त कारण माना गया है।[2]

गुणाश्रयो द्रव्यम्- इस आधार पर इस दिशा के भी कतिपय गुण हैं। काल की तरह दिशा के भी विशेष गुण न होकर सामान्य गुण ही हैं। **प्रशस्तपाद** ने इन पाँचों गुणों को इस प्रकार कहा है- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग।[3]

वैशेषिकाचार्यों ने यद्यपि दिशा को एक कहा है पुनरपि इसके दस औपाधिक भेदों का विवरण **प्रशस्तपाद** ने प्रस्तुत किया है। सूर्य के उदय

1. वै०सू० 2.2.10.
2. न्या० मं०, पृ..66.
3. प्र०पा०भा० 46.

होने की दिशा पूर्व है। ऐसा मानकर भेदों को निश्चित किया गया है। यही कारण है कि कालान्तर में परदेश जाने पर यदि दिशाभ्रम हो जाता था तो सूर्योदय को प्रमाण मानकर ही मनुष्य दिशा निश्चित कर लेता था।

इस प्रसंग में व्यावहारिक दृष्टि से **प्रशस्तपाद** के अनुसार दिशाओं की सूची छात्रों की सुविधामात्र के लिये प्रस्तुत की जा रही है-

माहेन्द्री (इन्द्र की)	-	पूर्व
वैश्वानरी (अग्नि की)	-	दक्षिण-पूर्व
याम्या (यम की)	-	दक्षिण
नैर्ऋति (नैर्ऋत राक्षस की)	-	दक्षिण-पश्चिम
वारुणी (वरुण की)	-	पश्चिम
वायव्या (वायु की)	-	उत्तर-पश्चिम
कौबेरी (कुबेर की)	-	उत्तर
ऐशानी (ईशान की)	-	उत्तर पूर्व
ब्राह्मी (ब्रह्मा की)	-	ऊर्ध्व
नागी (नाग, सर्पों की)	-	अधः

ध्यातव्य है कि **भाष्यकार** ने प्रत्येक दिशा को एक-एक देवता से अधिष्ठित मानकर क्रमशः दस संज्ञाएँ दी हैं।

किन्तु उक्त दश दिशाओं के अतिरिक्त कुछ **वैशेषिकाचार्यों** ने एक-एक पृथक् दिशाओं का भी उल्लेख किया है। **पद्मनाभ मिश्र** ने प्राची और अवाची के मध्यस्थ एक ग्यारहवीं दिशा मानी है। **शिवादित्य** ने उक्त कल्पना का समर्थन किया तथा उसे **रौद्री** नाम दिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैशेषिक **दर्शन** में संख्या की दृष्टि से एक दिशा के औपाधिक दस या ग्यारह भेद बतलाये गये हैं। तार्किक दृष्टि से भी यह सिद्ध हो जाता है कि एक से अधिक दिशा की परिकल्पना नहीं की जा सकती है, इससे अधिक की परिकल्पना करने पर सर्वत्र अव्यवस्था दोष हो जाएगा।

आकाश, काल एवं दिक् में वैषम्य

वैशेषिक दर्शन में जिस प्रकार से आकाश, काल, एवं दिक् का विवरण उपस्थित किया गया है, उसमें परस्पर, साम्य होते हुए भी वैषम्य है। **प्रशस्तपाद** ने द्रव्यों के गुणनिरूपण प्रसंग, में आकाश, काल एवं दिशा में परममहत्त्व परिमाणत्व, सर्वगतत्व तथा सर्वसंयोगिसमानदेशत्व साधर्म्य बताया है। इस दृष्टि से, इन द्रव्यों के मध्य समानताएँ और विषमताएँ दोनों प्राप्त होती हैं, ताकि इनके द्रव्यत्व की सिद्धि हो सके।

काल एवं दिक्– इन दोनों द्रव्यों में अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। काल कालिकपरत्व का कारण है तथा दिक् दैशिकपरत्व का। काल की उपाधि किसी क्रिया अथ वा किसी जन्यपदार्थ से संयुक्त होती है जबकि दिक् की उपाधि मूर्त पदार्थों से सम्बद्ध है। नियत उपाधि का उन्नायक काल है तथा अनियत उपाधि की उन्नायिका दिशा है। काल के सम्बन्ध निरन्तर होते हैं किन्तु दिक् के सम्बन्ध में कुछ भेद है। इस प्रसंग में यदि एक समय में दिशा एक पदार्थ के पूर्व में है तो द्वितीय समय में वह दिशा उस पदार्थ के पश्चिम में भी हो सकती है।

आकाश एवं दिक्– न्याय–वैशेषिक में आकाश एवं दिशा को पृथक् द्रव्य स्वीकार किया गया है। दोनों में सूक्ष्म अन्तर होने के कारण भी यह स्पष्ट है। आकाश भूत है जबकि दिक् भूत नहीं है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में निम्न विभेद देखा जा सकता है–

(क) आकाश शब्द का समवायिकारण है, दिक् किसी का समवायिकारण नहीं होता।

(ख) आकाश का विशेष गुण शब्द है, दिक् का कोई विशेष गुण नहीं होता।

(ग) दिक् प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का साधारण कारण है, आकाश किसी पदार्थ का साधारण कारण नहीं है।

(घ) आकाश का सम्बन्ध भूत से है, दिक् का सम्बन्ध मन से।

(ङ) आकाश शब्द के कारण विषय की भाँति प्रतीत होता है जबकि दिशा की केवल आत्मगत अनुभूति होती है।

(च) आकाश की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, दिक् प्रमाता के अनुभव पर आधारित है।[1]

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः– जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

ज्ञान का अधिकरण (आधार) आत्मा है। वह दो प्रकार का है– जीवात्मा एवं परमात्मा। इनमें परमात्मा एक है, ईश्वर एवं सर्वज्ञ है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न, विभु एवं नित्य है।

तन्वी व्याख्या– आत्मा एक द्रव्य है क्योंकि वह गुणों का आश्रय है– **गुणाश्रयो द्रव्यम्**। अधिकांश भारतीय दार्शनिक परम्परा में आत्मा की सत्ता स्वीकार की गयी है। **वैशेषिक दर्शन** में यह नित्य द्रव्य के रूप में स्वीकृत है, यह समस्त चैतन्य का आधार है।

आत्मा के लक्षण करने में प्रायः समस्त **वैशेषिकाचार्यों** ने इसे इन्द्रिय और उनके विषय से प्राप्त होने वाले ज्ञान का आश्रय कहा है। **विश्वनाथ** ने इन्द्रिय, शरीर आदि के अधिष्ठाता को आत्मा कहा है।[2] क्योंकि शरीरादि कारण हैं और कोई उपकरण बिना कर्ता के व्यापार नहीं कर सकता। **न्याय–वैशेषिक** आत्मा को वस्तुतः जड मानते हैं। उनकी दृष्टि में जब तक जन्म बन्धन है तब तक आत्मा में ज्ञान, सुखादि गुण उत्पन्न होते हैं, बन्धन से मुक्त होते ही आत्मा जड हो जाती है।

तर्कसंग्रह में आत्मा को ज्ञान का आधार कहा गया है। अर्थात् आत्मा समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आधार है। चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अनुमान आदि के द्वारा अनुमिति रूप ज्ञान होता है, उन सभी ज्ञानों का केन्द्र आत्मा ही है।

चौबीस गुणों में से चौदह गुण इस आत्मा में रहते हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग– ये आत्मा के चौदह गुण हैं। इनमें कुछ गुण अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। इनमें प्रथम नौ आत्मा के विशेष गुण हैं। शेष पाँच सामान्य

---

1. Notes on T.S., Athalye. Bodas, p. 133-134.
2. आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्– भा.प., पृ. 47.

गुण हैं। उक्त प्रथम नौ गुण आत्मा से भिन्न द्रव्यों में नहीं पाये जाते। इसलिये ये इसके विशेष गुण हैं।

इस आत्मा के दो भेद हैं–

(क) जीवात्मा (Individual Soul) तथा

(ख) परमात्मा (Supreme Soul)

अन्नम्भट्ट ने कहा है कि जीवात्मा प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक्, विभु तथा नित्य है। जीवात्मा अनेक हैं क्योंकि यह प्रतिशरीर भिन्न है। परमात्मा सर्वज्ञ एवं एक है। यद्यपि अन्नम्भट्ट ने भेदक्रम में जीवात्मा को पहले रखा है तथापि लक्षणक्रम में उन्होंने परमात्मा को पहले रखा। यहाँ लक्षणक्रम से ही इन भेदों की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है–

परमात्मा

परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है। दीपिका में इसका लक्षण करते हुए अन्नम्भट्ट ने ईश्वर को नित्यज्ञान का अधिकरण कहा है- **नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम्**। इस विषय में पदकृत्य में कहा गया है कि समवायसंबंध से नित्यज्ञानवान् ईश्वर है- **समवायसम्बन्धेन नित्यज्ञानवानीश्वरः**। क्योंकि ज्ञान समवाय संबंध से अन्यत्र नहीं रहता, वह केवल आत्मा में ही रहता है। यह जगन्नियन्ता तथा जीवकृतकर्मों के फलों का दाता भी माना गया है।

दीपिका में **अन्नम्भट्ट** ने **ईश्वर** की सत्ता को प्रमाणित किया है। उन्होंने पहले निम्न पूर्वपक्ष को उपस्थित किया है–

(क) यह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

(ख) लिङ्गाभाव के कारण यह अनुमान का भी विषय नहीं हो सकता तथा

(ग) ईश्वरविषयक आगम का अभाव होने के कारण यह आगम प्रमाण का भी विषय नहीं हो सकता।

यह सामान्य अनुभव का विषय है कि ईश्वर अथ वा परमात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः प्रथम तर्क के विषय में दीपिकाकार मौन हैं। किन्तु वे स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर अनुमान एवं आगम प्रमाण का विषय है। एतदर्थ उनकी युक्तियाँ इस प्रकार है–

ईश्वर अनुमान का विषय है क्योंकि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्ता होता है। जैसे- घट एक कार्य है उसका कर्ता कुम्भकार है। इसी प्रकार जगत् एक कार्य है इसका कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए वही कर्ता अथ वा रचयिता परमेश्वर, परमात्मा तथा ईश्वर है।

इसे निम्न युक्तियों से समझा जा सकता है-

(क) प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है।

(ख) कोई चेतन तत्त्व ही इस कार्य का कर्ता हो सकता है।

(ग) यह जगत् भी एक कार्य है।

(घ) इस कार्य का कर्ता चेतन परमात्मा है।

दीपिकाकार का उक्त तर्क पूर्णतया **व्योमवती**, **न्यायकन्दली**, **कणादरहस्य** तथा **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** से प्रभावित है।

ईश्वर **आगम प्रमाण** का भी विषय है। क्योंकि **यः सर्वज्ञः यः सर्ववित्**' श्रुति प्रमाण है। चूँकि परमाणु प्रभृति सारे सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों के ज्ञाता ये ईश्वर हैं, इसलिये इसमें सर्वज्ञत्व भी है। **विश्वनाथ** ने भी श्रुति को उद्धृत करते हुए कहा है कि यह ईश्वर ही इस चराचर विश्व का रचयिता है और वही पालन तथा संहारकर्ता है- **द्यावाभूमी जनयन्देव एकः विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता**'।[1]

जीवात्मा

मूल में **जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च** द्वारा जीव का स्वरूप वर्णित किया गया है। यह जीवात्मा ही सुख, दुःख आदि का अधिष्ठान है जब कि ईश्वर सुख दुःख आदि का अनाश्रय है। इसी को दीपिका में **सुखाद्याश्रयत्वं जीवलक्षणम्** कहा गया है। पदकृत्य में जीवात्मा को सुख-दुःखादि का समवायिकारण कहा गया है- **सुखदुःखादिसमवायिकारणं जीवः**। इस जीवात्मा के विषय में **दीपिकाकार** ने पूर्वपक्ष में चार्वाकीय मत का उल्लेख किया है-

(क) शरीर ही आत्मा है तथा

(ख) इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

इसका खण्डन करते हुए **दीपिकाकार** ने कहा है कि शरीर को आत्मा

---

1. न्या. सि. मु., पृ. 9.

नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में शरीर के अवयव हाथ, पैर आदि के नाश होने से आत्मा का भी नाश हो जाता है। अतः शरीर से भिन्न ही आत्मा को मानना पड़ेगा।

इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हो सकती। क्योंकि प्रथमतः इससे एक ही शरीर में जितनी इन्द्रियाँ हैं उतनी आत्माएँ हो जाएँगी। द्वितीयतः देखी हुई वस्तु की भी स्मृति नहीं हो पाएगी। क्योंकि देखने वाली इन्द्रिय भिन्न है तथा स्पर्श करने वाली इन्द्रिय भिन्न। इस प्रकार, देह और इन्द्रिय से भिन्न यह जीवात्मा है।

प्रतिशरीर भिन्न होने से यह जीवात्मा अनेक है। यहाँ जानने योग्य बात यह है कि एक के अनुभव से दूसरे को प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। इसलिये देह तथा इन्द्रिय से भिन्न जीव सुख-दुःख आदि की विचित्रता के कारण प्रत्येक शरीर में भिन्न है।

यह आत्मा विभु परिमाण का है। एतदर्थ **अन्नम्भट्ट** का कहना है कि यह न तो परमाणु परिमाण है न ही मध्यम परिमाण। परमाणु परिमाण मानने से समस्त शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में होने वाले सुख और दुःख का अनुभव वह नहीं कर सकेगी। मध्यम परिमाणवाला भी इसे नहीं माना जा सकता। क्योंकि मध्यम परिमाणवाले सारे तत्त्व अनित्य होते हैं। इस आत्मा के अनित्य होने पर **कृतहान** तथा **अकृताभ्यागम** दोष उत्पन्न हो जाएँगे। यहाँ **कृतहान** का अर्थ है किये गये कर्मों का नाश अर्थात् उन कर्मों के फल का प्राप्त न होना। **अकृताभ्यागम** (अकृत + अभ्यागम) का अर्थ है न किये गये कर्मों के फलों की प्राप्ति। जब कि कर्म सिद्धान्त यह कहता है कि किये गये कर्मों का ही फल आवश्यकरूपेण इहलोक अथ वा परलोक में प्राप्त होता है। यहाँ आत्मा को अनित्य मानने पर कर्म सिद्धान्त का परिपालन नहीं हो पाएगा। इसलिये आत्मा का विभु परिमाण ही मानना पड़ेगा। इसे शरीर परिमाण भी नहीं मान सकते।

जैन दार्शनिकों का यह विश्वास है कि आत्मा शरीरपरिमाणी है। इसे शरीरपरिमाणी मानने से सबसे बड़ा दोष यह है कि एक शिशु से युवक की अवस्था में परिणत होने तक आत्मा में वृद्धि एवं ह्रास की परिकल्पना करनी पड़ेगी। साथ ही, उसी युवक को अगले जन्म में यदि चींटी बनना पड़ा तो उस आत्मा में पुनः ह्रास देखा जाएगा। फलस्वरूप, इस आत्मा को **नैयायिक** एवं **वैशेषिक** ने विभु कहा है।

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यञ्च।

सुख दुःख आदि की उपलब्धि की साधन इन्द्रिय मन है। वह प्रत्येक आत्मा (जीव) में नियत होने के कारण अनन्त, परमाणुरूप तथा नित्य है।

तन्वी व्याख्या- मन वैशेषिक की नवद्रव्यपरम्परा का अन्तिम द्रव्य है। यह आत्मा और इन्द्रिय के मध्य सम्पर्क की एक कड़ी है। वाह्येन्द्रियों के द्वारा होने वाली अनुभूति के साथ-साथ आन्तरिक अनुभूति को ग्रहण करने में भी यह सहायक होता है। यही कारण है कि इसे अन्तरिन्द्रिय भी कहा जाता है। सामान्यतः,इसका निर्वचन मन्यते **ज्ञायतेऽनेनेति तन्मनः** किया जाता है।

अन्नम्भट्ट ने मन को सुख-दुःखादि की प्राप्ति की साधन इन्द्रिय कहा है। यहाँ सुख-दुःखादि से तात्पर्य आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले समस्त गुण समझना चाहिए। मन स्वयं एक इन्द्रिय है, अन्य इन्द्रियों का सहायक है तथा साक्षात् आन्तरिक ज्ञान का कारण भी है। मन के संयोग से ही अन्य इन्द्रियाँ अपने अर्थ को ग्रहण करती हैं। इस प्रकार मन ही कार्य करता है-

(i) वह बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान में सहायक होता है तथा

(ii) आन्तरिक प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रधान कारण होता है।

महर्षि कणाद ने स्पष्ट किया है कि आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष होने पर ज्ञान का भाव एवं अभाव होना मन का लक्षण है।[1] इस पर टिप्पणी करते हुए **श्रीनारायण मिश्र** ने कहा है कि यह मानना होगा कि आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षमात्र ही ज्ञान के प्रति कारण नहीं है अपि तु कुछ और भी तत्त्व हैं जिसके सत्त्व में ज्ञान होता है तथा असत्त्व में ज्ञान नहीं होता है। यही तत्त्व मन है।[2] इसीलिये **चरक-संहिता** में कहा गया है कि आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन तीनों के होने पर भी यदि मन न हो तो ज्ञान भी नहीं होता तथा इन तीनों के साथ यदि मन हो तो ज्ञान हो जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मन के सान्निध्य से ज्ञान होना और मन के अभाव से ज्ञान नहीं होना मन की सत्ता को सूचित करते हैं, यही मन का लक्षण है-

---

1. वै.सू. 3.2.1.
2. वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ. 80.

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते। 1.18

न्यायसूत्र में मन का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- **युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्** अर्थात् एक साथ दो ज्ञानों की उत्पत्ति न होना ही मन का लक्षण है।

अन्नम्भट्ट ने मन को अनन्त तथा प्रत्येक आत्मा के साथ एक-एक मन को 'नियत' माना है तथा सुखादि के ज्ञान के साधन के रूप वाली इन्द्रिय को मन कहा है। **वाक्यवृत्तिकार मेरुशास्त्री** ने इसमें प्रयुक्त शब्द पर अत्यन्त सुन्दर टिप्पणी की है, यथा-

(क) सुखादि का अर्थ आत्मा में समवाय में सम्बद्ध से रहने वाले समस्त गुण हैं।

(ख) मन, उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समवाय सम्बन्ध है तथा उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समवाय सम्बन्ध नहीं है, समान रूप से बोध कराता है- सम्भवतः यही नियत शब्द का अर्थ है- **अत्र समवेतकारणत्वे सत्यसमवेतभोगकारणत्वं नियतत्वशब्दार्थः।**

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि मूल में **अन्नम्भट्ट** ने इन्द्रिय शब्द को क्यों रखा? इसका समाधान इस प्रकार दिया जा सकता है कि आत्मा और आत्मा एवं मन का संयोग भी सुखादि के ज्ञान में साधन हैं और उनमें अतिव्याप्ति न हो, इसलिये यहाँ इन्द्रिय शब्द दिया गया है। किन्तु इस अतिव्याप्ति का समाधान 'साधन' पद से भी हो सकता था, क्योंकि साधन का अर्थ करण है और आत्ममनःसंयोग व्यापार है, करण नहीं तथा आत्मा भी करण नहीं प्रत्युत प्रमाता मात्र है। सम्भव है कि यहाँ इन्द्रिय शब्द का प्रयोग उन लोगों का खण्डन करने के लिए किया गया हो, जो मन को इन्द्रिय नहीं मानते।

मीमांसक मन को विभु मानते हैं। एतदर्थ वे यह तर्क देते हैं कि यह आकाश की तरह स्पर्शरहित द्रव्य है। **दीपिकाकार** ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि मन विभु नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर आत्मा एवं मन के संयोगरूप असमवायिकारण का ही अभाव हो जाने से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो पाएगी। यदि पूर्वपक्षी पुनरपि आत्मा और मन दोनों विभुद्रव्यों

का संयोग मानने का दुराग्रह करे, तो वह संयोग नित्य ही मानना पड़ेगा तथा ऐसी स्थिति में ज्ञान सदैव बना रहेगा। था सुषुप्ति संभव नहीं हो पाएगी।

इस प्रसंग में अन्य नैयायिकों की भाँति **दीपिकाकार** ने भी मन में अणुत्व परिमाण माना है। एतदर्थ इनका तर्क है कि **पुरीतत्**[1] में प्रवेश से पूर्व आत्मा एवं मन का संयोग बना ही रहता है तथा ज्ञान होता है, किन्तु पुरीतत् में प्रवेश के उपरान्त मन का आत्मा से संयोग टूट जाता है, तदनन्तर ज्ञान नहीं हो पाता। (यहीं निद्रा की अवस्था है)। इस नाड़ी में प्रवेश करने के उपरान्त सुषुप्ति होती है तथा उससे निकलने के बाद ज्ञान भी होता है। अणु होने के कारण ही मन का एक साथ दो इन्द्रियों से संयोग नहीं होता तथा एक बार में एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है। यह मन परमाणुरूप है, इसलिए नित्य है। यदि यह परमाणुरूप नहीं होता तो मध्यमपरिमाण होने के कारण अनित्य हो जाता।

---

1. ऐसा माना जाता है कि पुरीतत् हृदय के निकट स्थित एक नाड़ी है। जहाँ निद्रा के समय मन आत्मा से संयोग तोड़कर चला जाता है। दिनकर भट्ट ने इस प्रक्रिया को इन शब्दों में कहा है- प्रथम सुषुप्त्यनुकूलमनः क्रियया मनसाऽऽत्मनो विभागः तत आत्ममनः संयोगनाशः, ततः पुरीतदात्मकोत्तरदेशेन मनसः संयोग उत्पद्यते, सैव सुषुप्तिः। (दिनकरी व्याख्या, पृ. 1840 नैयायिकों का यह पुरीतत् का सिद्धान्त बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न शब्दों में प्राप्त होता है-अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न तस्य च वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते (बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.19) इस श्रुति में यह कहा गया है कि शरीर की 72000 नाड़ियों में से होकर वह उसमें प्रविष्ट होकर सोता है। यहाँ 'वह' का अर्थ वेदान्ती जीव लगाते हैं और नैयायिक मन। वेदान्ती और योगी पुरीतत् को सुषुम्ना नाड़ी भी कहते हैं जो ब्रह्मरन्ध्र के मस्तिष्क के ऊपरी भाग में जाकर खुलती है और जिसके माध्यम से ज्ञानी की आत्मा शरीर को छोड़ती है। (शा. भा. ब्र. सू. 3.1.7) किन्तु नैयायिकों ने यहाँ जीव के स्थान पर मन को मान लिया क्योंकि उनके सिद्धान्त के यही अनूकल पड़ता था। सम्भवतः निद्रा के समय शरीर की नाड़ियों में रक्त का प्रवाह शिथिल पड़ जाना और निद्रा के समय हृदय की गति का अपेक्षाकृत धीमा पड़ जाना इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में काम कर रहा होगा कि मन, निद्रा के समय पुरीतत् में प्रविष्ट हो जाता है। (तर्कसंग्रह, दयानन्द भार्गव पृ. 57-58 पर उद्धृत)।

गुणलक्षणप्रकरणम्

चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तच्च शुक्ल-नील-पीत-रक्त-हरित-कपिश-चित्रभेदात्सप्तविधम्। पृथिवी-जलतेजोवृत्ति। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वरशुक्लं जले। भास्वरशुक्लं तेजसि।

नेत्रमात्र से ग्रहण किया किया जाने वाला गुण रूप है और वह (रूप) शुक्ल, नील (नीला), पीत (पीला), रक्त (लाल), हरित (हरा), कपिश (भूरा) तथा चित्र (चितकबरा) भेद से सात प्रकार का है। (यह रूप) पृथिवी, जल तथा तेज में रहता है। इनमें पृथिवी में सातों प्रकार (के रूप) रहते हैं। जल में अभास्वर (नहीं चमकने वाला) शुक्ल रहता है। तेज में भास्वर (चमकने वाला) शुक्ल होता है।

तन्वी व्याख्या- 'गुण' चौबीस प्रकार के हैं। 'चतुर्विंशति गुणाः' इस आधार पर गुणपदार्थ विवेचन के क्रम में इसका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। उक्त चौबीस गुणों में सर्वप्रथम रूप का उल्लेख किया गया है। यह तेजस् नामक द्रव्य का विशिष्ट गुण है। सभी वस्तुओं के प्रत्यक्ष में यह अवश्य ही निमित्त होता है, यही कारण है कि गुणों में सर्वप्रथम इसका निरूपण किया गया है- **सर्वपदार्थानामभिव्यक्तिनिमित्तत्वादादौ रूपं निरूपयति** (न्या० कं०)

अन्नम्भट्ट ने रूप का लक्षण करते हुए कहा है कि केवल चक्षु से ग्रहण किया जाने वाला गुण रूप है। तात्पर्य यह है कि रूप केवल चक्षु के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है तथा चक्षु के द्वारा केवल रूप ही ग्रहण किया जा सकता है, रस, गन्ध आदि नहीं। लक्षण को स्पष्ट करते हुए दीपिका में अन्नम्भट्ट ने मात्र तथा गुण शब्द के प्रयोग की व्याख्या की है-

लक्षण में चक्षु शब्द का प्रयोग केवल इसलिये किया गया है कि रस में अतिव्याप्ति न हो। रस रसना से ग्राह्य है, चक्षु से ग्राह्य नहीं है। 'मात्र' शब्द के प्रयोग का मूल कारण संख्या में होने वाली अतिव्याप्ति का निषेध करना है। क्योंकि संख्या चक्षु से भी ग्राह्य है तथा त्वगिन्द्रिय से भी ग्राह्य है। चूँकि संख्या केवल चक्षु से ही ग्राह्य नहीं है इसलिये संख्या की रूप में गणना नहीं की जा सकती।

इस प्रकार **चक्षुर्मात्रग्राह्य** का अर्थ यह हो जाता है कि जो केवल चक्षु से ही ग्रहण करने योग्य है। चक्षुमात्र से ही प्रभाभित्तिसंयोग भी होता है, इस दृष्टि से प्रभाभित्तिसंयोग में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी। **दीपिकाकार** ने इसीलिये रूप के लक्षण में 'केवल चक्षु से ही ग्राह्य रूप जाति से युक्त' कहा है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रभाभित्तिसंयोग केवल प्रभाभित्ति में ही होता है, इसलिये यह विशेष है जबकि जाति सामान्य होती है। इसलिये **चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वं वाच्यम्** रूप का लक्षण है।

प्रशस्तपाद, **उदयन**, **श्रीधर**, **शिवादित्य** आदि ने रूप के अनेक भेद बतलाये, किन्तु **अन्नम्भट्ट** ने इस रूप के सात भेदों का उल्लेख किया है। सात रूपों का परिगणन करते हुए **विश्वनाथ** ने भी रूप के अनेक प्रकार माने हैं- **तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशकर्बुरादिभेदादनेकप्रकारं भवति।** इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल **अन्नम्भट्ट** ने ही रूप के सात भेदों को गिनाया है। ये हैं- शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र। यहाँ **सप्तविध** कहकर यह स्पष्ट किया गया है कि रूप की संख्या न तो सात से अधिक न ही सात से कम हो सकती है।

व्यवहार में चित्र कई वर्णों का सम्मिश्रण है अतः इसका पृथक् रूप सन्दिग्ध है। आधुनिक विज्ञान भी इससे सहमत है। व्यावहारिक दृष्टि से भी चित्र (चितकबरा) रूप सारे रूपों (रंगों) का मिश्रण ही होता है। इसी प्रकार आधुनिक विज्ञान रक्त, पीत, तथा नील को ही केवल मूल रंग मानता है। संख्या की दृष्टि से इन्द्रधनुष में सात रंग होते हैं किन्तु रक्त, पीत तथा नील के अतिरिक्त शेष चारों रूप इन्हीं रंगों के मिश्रण से बनाये जा सकते हैं। शुक्ल वर्ण भी बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नांरगी तथा लाल वर्णों के मिश्रण से बनता है। इस प्रकार **तर्कसंग्रहकार** का शुक्ल वर्ण भी चित्ररूप ही हो जाता है। शुक्ल वर्ण के सातों रंगों को प्रिज़्म के माध्यम से देखा जा सकता है।

उक्त सातों रूप पृथिवी में पाये जाते हैं, जब कि जल और तेज में क्रमशः अभास्वरशुक्ल (चमकरहित) तथा भास्वरशुक्ल (चमकयुक्त) वर्ण पाये जाते हैं। इस प्रकार ये शुक्ल भी दो प्रकार के हो जाते हैं- भास्वर एवं अभास्वर।

भाषा की दृष्टि से इस रूप नामक गुण को रंग या वर्ण भी कहा जाता है। रूप में **वैशेषिकाचार्यों** ने वस्तु के आकार का समावेश नहीं किया है,

क्योंकि वृत्ताकार, गोलाकार, चौकोर आदि आकार का ग्रहण त्वगिन्द्रिय से भी हो जाता है।

उक्त विवेचन के आधार पर रूप की निम्नांकित विशेषताएँ हैं-

(क) यह विशेष गुण पृथिवी जल एवं तेज में रहता है, किसी अन्य द्रव्य में नहीं।

(ख) इसका ज्ञान केवल नेत्रेन्द्रिय के द्वारा होता है।

(ग) यह नेत्र का सहकारी है।

(घ) यह द्रव्य में व्याप्यवृत्ति होकर रहता है।

(ङ) यह पृथिवी, जल और तेज के प्रत्यक्ष में कारण होता है।

(च) जल का रस शुद्ध मधुर होता है।

(छ) रस केवल पर्थिव वस्तुओं में पाये जाते हैं।

(ज) पार्थिव वस्तुओं का रूप पाकज होता है। जल और तेज में रूप अपाकज होता है।

(झ) पाकज होने के कारण पार्थिव रूप अनित्य होता है। जल और तेज के परमाणुओं का रूप अपाकज होने के कारण नित्य है।

रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्त- भेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव।

रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण रस है। और वह मधुर (मीठा), अम्ल, (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), कषाय (कसैला) तथा तिक्त (तीता) भेद से छः प्रकार का है। पृथिवी तथा जल में रस रहता है। पृथिवी में छः प्रकार के रस होते हैं। जल में (केवल) मधुर ही है।

तन्वी व्याख्या- सामान्यतया स्वाद को रस कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि रसना के द्वारा वस्तुओं के प्राप्त किये जाने वाले विभिन्न गुणों यथा- खट्टा, मीठा आदि को रस कहा जाता है। रूप की तरह इसे भी इस प्रकार समझना चाहिए कि जिस प्रकार चक्षुमात्र से ही रूप का ग्रहण होता है उसी प्रकार रस का ग्रहण केवल रसना से ही हो सकता है तथा रसना से रस के अतिरिक्त किसी अन्य विषय का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यहाँ रसना का अर्थ जिह्वा नहीं ग्रहण करना चाहिए बल्कि जिह्वाग्रवर्ती विशिष्ट रसना है जिससे समस्त रस को ग्रहण किया जाता है।

रस छः प्रकार के हैं- मधुर (मीठा), अम्ल, (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), कषाय (कसैला) तथा तिक्त (तीता)। इन रसों का आश्रय पृथिवी है जबकि जल में केवल मीठा रस ही पाया जाता है। इस विषय में **उदयनाचार्य** ने यह स्पष्ट किया है कि पृथिवी में केवल पाँच ही रस पाये जाते हैं क्योंकि माधुर्य पृथिवी का विशेष गुण नहीं हो सकता है। माधुर्य जल का विशेष गुण है।[1] **शिवादित्य** ने चित्र नामक सातवें रस की भी परिकल्पना की है। उनकी दृष्टि में कुछ वस्तुओं का स्वाद ऐसा विचित्र होता है जो उक्त षड्रसों से सर्वथा भिन्न होता है। उस विचित्र स्वाद वाले को चित्र समझना चाहिए।

जल में केवल मधुर रस ही समवाय सम्बन्ध से रहता है। अन्य प्रतीत होने वाले रस उनमें स्थित पार्थिव कणों के कारण प्रतीत होते हैं। ये जल के स्वाभाविक गुण न होकर औपाधिक गुण माने जाते हैं। किन्तु आधुनिक विज्ञान ने जल को नीरस माना है। **वैशेषिक दर्शन** इसे स्वीकार नहीं करते। **वैशेषिकाचार्यों** का यह मानना है कि जल में माधुर्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि मुख में स्थित प्रतिकूल पार्थिव कण उनके स्वाद को हर लेता है। किन्तु आँवला नामक फल भक्षण के अनन्तर मुख शुद्ध हो जाता है तथा जल की मधुरता स्पष्ट प्रतीत होने लगती है।

वैशेषिकाचार्यों के इस तर्क को सही नहीं ठहराया जा सकता कि पार्थिव कणों के संयोग से मधुरता नहीं आती। दूसरे शब्दों में, यह भी तो कहा जा सकता है कि आँवला नामक फल के कणों के भौतिक संयोग से जल में माधुर्य उत्पन्न हो जाता है। वैसे भी आँवले में एक साथ कई रस देखे जाते हैं।

उक्त विवेचन के आधार पर रस की निम्नांकित विशेषताएँ हैं-

(क) यह विशेष गुण पृथिवी एवं जल में रहता है, किसी अन्य द्रव्य में नहीं।

(ख) इसका ज्ञान केवल रसना के द्वारा होता है।

(ग) यह रसना का सहकारी है।

(घ) यह द्रव्य में व्याप्यवृत्ति होकर रहता है।

(ङ) यह स्वप्रत्यक्ष में कारण होता है।

---

1. किरण. पृ. 153.

(च) जल का रस शुद्ध मधुर होता है।
(छ) रस केवल पर्थिव वस्तुओं में पाये जाते हैं।
(ज) पार्थिव वस्तुओं का रस पाकज और जल का रस अपाकज होता है।
(झ) केवल जल परमाणु का रस नित्य है, शेष अनित्य।

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स च द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः।

घ्राणेन्द्रिय (नासिका) से ग्रहण किया जाने वाला गुण गन्ध है। और वह दो प्रकार का है- सुरभि (सुगन्ध) तथा असुरभि (दुर्गन्ध)। यह केवल पृथिवी में ही रहता है।

तन्वी व्याख्या- सूँघने की क्रिया में प्राप्त गुण को सामान्यतया गन्ध कहते हैं। गन्ध घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका से ग्रहण किया जाता है। परिभाषा में घ्राण शब्द के प्रयोग के औचित्य को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि परमाणुरूप गन्ध अतिसूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है, अतः परमाणुरूप गन्ध में अव्याप्ति निवारण हेतु घ्राण शब्द का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार गन्धत्व में अतिव्याप्ति के वारण के लिये गुण पद प्रयुक्त है। यहाँ नियम यह है कि जो गुण जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होता है, तद्गत जाति भी उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होती है। यहाँ गन्धत्व जाति है, गन्ध गुण है तथा घ्राण इन्द्रिय है।

गन्ध गुण केवल दो प्रकार का होता है- सुरभि तथा असुरभि। यहाँ सुरभि का तात्पर्य मन को आनन्द देने वाला गन्ध (खुशबू) है जबकि असुरभि मन को व्यथित करने वाला गन्ध (बदबू) है। यहाँ असुरभि यद्यपि सुरभि के विपरीत अभिव्यक्त हो रहा है किन्तु ऐसा है नहीं। असुरभि सर्वथा भिन्न एक वास्तविक गन्ध है। सुरभि की तरह ही इसकी स्वतन्त्र सत्ता है।

गन्ध केवल पृथिवी तथा पार्थिव पदार्थों में ही पाया जाता है। यही कारण है कि पृथिवी के लक्षण में **गन्धवती पृथिवी** कहा गया है। अन्वय एवं व्यतिरेक सम्बन्ध के आधार पर इसकी सत्ता को अत्यधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यथा- **यत्र-यत्र गन्धः तत्र-तत्र पृथिवी** अर्थात् जहाँ-जहाँ गन्ध है, वहाँ-वहाँ पृथिवी है जैसे- पुष्प, वृक्ष आदि। **यत्र-यत्र गन्धः नास्ति**

तत्र-तत्र पृथिव्यपि नास्ति अर्थात् जहाँ जहाँ गन्ध नहीं है वहाँ-वहाँ पृथिवी भी नहीं है, जैसे- जल।

यह शंका हो सकती है कि यदा-कदा जल, अग्नि आदि में भी गन्ध की प्रतीति होती है। इसका एकमात्र समाधान यह है कि जब-जब उन जल, अग्नि आदि में पार्थिव तत्त्व विद्यमान होते हैं तभी तक गन्ध की प्रतीति होती है। यथा अग्नि में जब तक पदार्थ जल रहा होता है तब तक तो गन्ध प्राप्त होता है किन्तु उस पदार्थ के भस्म होते ही गन्ध विलुप्त हो जाता है।

गन्ध की निम्नांकित विशेषताएँ हैं-

(क) यह विशेष गुण केवल पृथिवी में रहता है, किसी अन्य द्रव्य में नहीं।

(ख) इसका ज्ञान केवल घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है।

(ग) यह घ्राणेन्द्रिय का सहकारी है।

(घ) यह पार्थिव द्रव्यों में व्याप्यवृत्ति होकर रहता है।

(ङ) यह स्वप्रत्यक्ष में कारण होता है।

(च) इसके दो भेद हैं- सुरभि एवं असुरभि।

(छ) पाकज होने के कारण यह अनित्य है।

त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः- शीत-उष्ण-अनुष्णाशीतभेदात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि। अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः।

त्वगिन्द्रिय मात्र (त्वचा) से ग्रहण किया जाने वाला गुण स्पर्श है। वह तीन प्रकार का है- शीत(ठण्डा), उष्ण (गर्म) तथा अनुष्णाशीत (न गर्म न ठण्डा)। पृथिवी, जल, तेज एवं वायु में यह (स्पर्श) रहता है। उसमें भी जल में शीत, तेज में गर्म तथा पृथिवी एवं वायु में अनुष्णाशीत होता है।

तन्वी व्याख्या- सामान्यतया किसी वस्तु को छूना अथ वा किसी वस्तु का शरीर से सम्पर्क हो जाना स्पर्श कहलाता है। ऐसी क्रिया एवं प्रक्रिया में त्वचा ही प्रमुख भूमिका निभाती है। **अन्नम्भट्ट** ने त्वगिन्द्रिय (त्वचा) मात्र से ग्रहण किये जाने वाले गुण को स्पर्श कहा है। उन्होंने रूप की भाँति ही स्पर्श लक्षण में भी मात्र शब्द का प्रयोग किया है। वह इसलिये कि त्वगिन्द्रिय स्पर्श के अतिरिक्त संख्या, संयोग इत्यादि को भी ग्रहण करती है।

इसी प्रकार स्पर्शजाति में अतिव्याप्ति वारण के लिये गुण पद प्रयुक्त है।

स्पर्श के तीन प्रकार हैं- शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत। इनमें शीत जल का असाधारण धर्म है, उष्ण तेज का जबकि अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी तथा वायु दोनों का असाधारण धर्म है। इस प्रकार पृथिवी, जल, तेज तथा वायु-ये चारों स्पर्श के आश्रय द्रव्य हैं।

कौण्डभट्ट ने **पदार्थदीपिका** में कोमल, कठिन, चित्र आदि भेद से स्पर्श के अनेक भेदों का परिगणन किया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये चारों गुण केवल अपनी-अपनी इन्द्रियों से ही ग्रहण किये जाते हैं अथ वा ग्रहण किये जाने योग्य है। इसलिये समस्त लक्षण में मात्र शब्द का प्रयोग समझा जाना चाहिए।

उक्त विवेचन के आधार पर स्पर्श की निम्नांकित विशेषताएँ हैं-

(क) यह विशेष गुण पृथिवी, जल, तेज एवं वायु में रहता है।

(ख) इसका ज्ञान केवल त्वचा के द्वारा होता है।

(ग) यह त्वचा का सहकारी है।

(घ) यह द्रव्य में व्याप्यवृत्ति होकर रहता है।

(ङ) यह स्वप्रत्यक्ष में कारण होता है।

(च) इसके तीन भेद हैं- शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत। जल में शीत, तेज में उष्ण और वायु तथा पृथिवी में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है।

(छ) रस केवल पर्थिव वस्तुओं में पाये जाते हैं।

(ज) पृथिवी का स्पर्श पाकज और वायु का स्पर्श अपाकज होता है।

(झ) जल, तेज और वायु के परमाणुओं का स्पर्श नित्य होता है। पार्थिव परमाणुओं का स्पर्श पाकज होने के कारण अनित्य होता है।

पाक प्रक्रिया

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम्।

रूप आदि (रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श) चार गुण पृथिवी में पाक द्वारा उत्पन्न तथा अनित्य होते हैं। अन्यत्र (जल, तेज और वायु में) अपाकज तथा नित्य एवं अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। नित्य (पदार्थ) में नित्य तथा अनित्य में अनित्य होते हैं।

तन्वी व्याख्या- गुणों की व्याख्या के क्रम में आये प्रथम चार गुणों की सामान्य विशेषता एवं परिभाषा बताने के बाद **अन्नम्भट्ट** यहाँ इन गुणों की कुछ भिन्न विशेषता का उल्लेख करते हैं। उन्होंने इन गुणों के दो भेद बताये हैं- पाकज एवं अपाकज। गुणों में कहाँ पाकज और कहाँ अपाकज होता है- इस जिज्ञासा के समाधानार्थ रूपादिचतुष्टय कहा है। चूँकि ये उत्पद्यमान हैं इसलिये ये नित्य होते हैं। इससे भिन्न अपाकज नित्य एवं अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। नित्य जलादि में रहने वाले अपाकज नित्य तथा अनित्य जलादि मे रहने वाले अपाकज अनित्य होते हैं।

यहाँ सर्वप्रथम 'पाकज' शब्द को समझना चाहिए- पाकज का अर्थ होता है तेज के संयोग से उत्पन्न होने वाला। **अन्नम्भट्ट** ने **तेजःसंयोग** को पाक कहा है तथा इस पाक से उत्पन्न पाकज कहलाता है। पाक प्रक्रिया को इस रूप में समझा जा सकता है- जब कच्चे घड़े को आग की भट्ठी में डाला जाता है तब वह श्याम वर्ण का होता है किन्तु आग की भट्ठी में पक जाने के बाद वह लाल हो जाता है। घट-रूप के परिवर्तन की यह प्रक्रिया ही 'पाकज' कहलाती है। इससे भिन्न अपाकज होता है। **न्यायबोधिनी** में विजातीय या विलक्षण तेज के संयोग को पाक कहा गया है- **पाको नाम विलक्षणतेजःसंयोगः**।

पृथिवी में रहने वाले चारों गुण रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श पाकज हैं। ये पाकज होने के साथ ही अनित्य भी हैं। चूँकि ये पाकज हैं इसलिये उत्पन्न होने के कारण ये अनित्य हैं। इस प्रकार गन्ध जो कि पृथिवी का विशेष गुण है, भी अनित्य ही है।

पृथिवी से भिन्न द्रव्य में अपाकज नित्य एवं अनित्य होता है। अपाकज गुण केवल तीन हैं- रूप, रस तथा स्पर्श। गन्ध केवल पृथिवी में ही होता है। ये गुण नित्य परमाणु में नित्य तथा अनित्य कार्य में अनित्य हैं।

इस पाक प्रक्रिया के प्रसंग में न्याय एवं **वैशेषिक** प्रस्थान एकमत नहीं हैं। वैशेषिक में इसे **पीलुपाक** तथा **न्याय** में **पिठरपाक** कहा जाता है। इस सन्दर्भ में सिद्धान्त यह है कि पाक प्रक्रिया से न केवल रूप अपि तु रस, गन्ध एवं स्पर्श भी परिवर्तित हो जाते हैं। यथा- कच्चे आम का रूप 'हरित', रस 'अम्ल', गन्ध 'असुरभि' तथा स्पर्श 'कठिन' होता है। किन्तु सूर्य अथ वा किसी भिन्न तत्त्व (गैस) आदि के पाक से उस आम का रूप 'लाल' रस 'मधुर' गन्ध 'सुरभि' तथा स्पर्श 'कोमल' हो जाता है। इस

परिवर्तनविषयक सिद्धान्त में दोनों सहमत हैं किन्तु प्रक्रियाविषयक सिद्धान्त में दोनों में भेद देखा जाता है। इनके सिद्धान्तों की व्याख्या अग्राङ्कित है-

पीलुपाक- **वैशेषिक** 'पीलुपाक' की प्रकल्पना को स्वीकार करता है। 'पीलु'/'पीलू' शब्द का अर्थ है परमाणु। इस प्रकार **पीलुपाक** का अर्थ होता है पीलुओं अर्थात् परमाणुओं का पाक। इसके अनुसार पाक क्रिया परमाणुओं में होती है, अवयवी में नहीं, क्योंकि अवयवी में पाक होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।[1] कच्चे घड़े के परमाणुओं में श्याम रूप का नाश होकर

रक्त वर्ण की उत्पत्ति हो सके, इसके लिये प्रत्येक परमाणु के मध्य अग्नि का प्रवेश आवश्यक है। अत एव वैशेषिक की इस प्रक्रिया में पाककाल में घट परमाणुओं के घटारम्भक संयोग का नाश होकर उसके परमाणु पृथक् हो जाते हैं। तदनन्तर उन पृथक् परमाणुओं में श्यामवर्ण का नाश होकर नये रक्त वर्ण की उत्पत्ति होती हैं। वे रक्त परमाणु एकत्रित होकर घट का पुनः निर्माण करते हैं। **वैशेषिक** का मत है कि इस पूरी प्रक्रिया में घट का भी विनाश हो जाता है। पुनः उन विभक्त परमाणुओं में 'पाकज' रक्त वर्ण की उत्पत्ति होने के अनन्तर प्राणियों के अदृष्ट के द्वारा उक्त रक्त परमाणुओं के संयोग से रक्त घट अर्थात् पाकज क्रिया सम्पन्न घट की उत्पत्ति होती है।

माधवाचार्य ने **सर्वदर्शनसंग्रह** में बताया है कि यह सब जटिल प्रक्रिया चक्षु का विषय नहीं है, क्योंकि यह अत्यन्त द्रुत गति से केवल नौ क्षणों के ही व्यवधान में सम्पन्न हो जाती है।

विश्वनाथ ने इन नौ क्षणों का विवरण इस प्रकार दिया है-

1. वह्निसंयोगात्कर्म। ततः परमाण्वन्तरेण विभागः। तत आरम्भकसंयोगनाशः। ततो द्व्यणुकनाशः।
2. ततः परमाणौ श्यामादिनाशः।
3. ततो रक्ताद्युत्पत्तिः।
4. ततो द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया।
5. ततो विभागः।

---

1. पीलु पाकवादो वैशेषिकाणाम्। पाकः परमाणुष्वेव जायते, नावयविनि, मानाभावात्।

प.दि.च., पृ. 35.

6. ततः पूर्वसंयोगनाशः।

7. तत आरम्भकसंयोगः।

8. ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः।

9. ततो रक्ताद्युत्पत्तिरिति।

इस प्रकार वैशेषिक के मत में सर्वप्रथम रूप का नाश होता है तत्पश्चात् दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है। ये दोनों बातें पृथिवी के अणुओं में ही होती है, न कि कार्य द्रव्य 'घट' में। **वैशेषिक** के इस मन्तव्य को ही **पीलुपाकवाद** कहा जाता है।

इस समस्त पाकज प्रक्रिया के सम्पादन में कुछ लोग 9 पल, कुछ 10 तथा कुछ 11 पल आवश्यक मानते हैं जबकि कुछ 5 पल ही आवश्यक मानते हैं।

पिठरपाक– पाकज प्रक्रिया के सन्दर्भ में नैयायिक **'पिठरपाक'** प्रकल्पना को पुष्ट करता है। इनके अनुसार पाक परमाणुओं का नहीं, अपितु कार्यकारण समुदाय का होता है। यहाँ **पिठर** का अर्थ है **पिण्ड**। नैयायिकों की दृष्टि में, सम्पूर्ण घट पिण्ड में ही पाक प्रक्रिया होती है। भाव यह है कि घट आदि के आरम्भक परमाणु परस्पर बिल्कुल मिले नहीं होते। वे छिद्रयुक्त होते हैं। उनके मध्य अन्तर होता है। इसलिये अग्नि के सूक्ष्म अंश उनके मध्य प्रविष्ट हो जाते हैं तथा परमाणुओं के विभक्त या पृथक् हुए बिना ही घट आदि में रक्तिमा की उत्पत्ति हो जाती है।

इन दोनों में दृष्टि भेद यही है कि वैशेषिक यह मानते हैं कि घटादि परमाणुओं के मध्य अग्नि के प्रवेश से उसका संयोग नष्ट हो जाता है तथा कार्यद्रव्य घटादि का नाश हो जाता है। जबकि **नैयायिकों** का कहना है कि अग्नि में प्रवेश होने पर घट के आरम्भक परमाणुओं के संयोग का नाश नहीं होता तथा इस स्थिति में घटनाश नहीं कहा जा सकता।

इस क्रम में **नैयायिक**, **वैशेषिक** की प्रकल्पना पर निम्न आधार पर आक्षेप करता है–

यदि पहला घड़ा नष्ट हो गया तथा उसके स्थान पर सर्वथा नया घड़ा उत्पन्न हुआ तो हम दूसरे घड़े को पुराने घड़े के रूप में कैसे पहचान सकते हैं? हम उसी घड़े को देखते हैं जिसे पहले देखते थे, भेद केवल रंग का है। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि वैशेषिक के मत में, पृथिवी के

परमाणुओं का गुण, गंध आदि भी अनित्य है। यह तथ्य कि इन्द्रियगम्य पदार्थों पर ताप का प्रभाव होता है, यह दर्शाता है कि वे सर्वथा ठोस नहीं हैं अपि तु छिद्रवाले हैं।[1]

पीलुपाक एवं पिठरपाक मानने वाले इन दोनों सम्प्रदायों के मध्य उठे विवाद की सूक्ष्मता को लेकर यह कारिका तक प्रचलित हो गयी-

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः।।

एकत्वादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव।

एक, दो, तीन आदि व्यवहार (प्रयोग) के कारण को संख्या कहते हैं। वह नौ द्रव्यों में रहती हैं। एक से लेकर परार्ध तक (इसकी सीमा) है। एकत्व नित्य और अनित्य है। नित्य (द्रव्य) में नित्य तथा अनित्य में अनित्य है। द्वित्वादि (संख्याएँ) सब जगह अनित्य ही है।

तन्वी व्याख्या- संख्या एक सामान्य गुण है। **अन्नम्भट्ट** ने **प्रशास्तपाद** द्वारा दी गयी संख्या की परिभाषा का यहाँ अक्षरशः प्रयोग किया है। उनके शब्दों में एकत्व आदि व्यवहार का हेतु संख्या है। कई व्याख्याकारों ने यहाँ प्रयुक्त 'हेतु' शब्द का प्रयोग अतिव्याप्तिवारणार्थ माना है क्योंकि संख्येय पदार्थ भी एकत्वादि व्यवहार का हेतु है। इसलिये हेतु का अर्थ यहाँ असाधारण कारण मानना चाहिए। इसे स्पष्ट करने के लिये संयोग पर **दीपिका** में **अन्नम्भट्ट** ने लिखा है- **सङ्ख्यादिलक्षणेषु सर्वत्र दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणाय असाधारणं पदं देयम्।**

कई आलोचकों ने संख्या को भी द्रव्य मानने का प्रयास किया है। संख्या द्रव्य नहीं हो सकती क्योंकि यह एक गणनात्मक गुण है, जो सभी द्रव्यों में पृथक् रूप से विद्यमान रहता है। प्रत्येक द्रव्य एक इकाई है, उसे एकत्व आदि के द्वारा बतलाया जाता है। यही कारण है कि संख्या को नवद्रव्यवृत्ति कहा गया है।

1. न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका, पृ. 355. न्या.मं. पृ. 438. (भारतीय दर्शन भाग-2, राधाकृष्णन, पृ. 168-169 पर उद्धृत)

एकत्व संख्या के दो भेद हैं- नित्य एवं अनित्य। तात्पर्य यह है कि जब एकत्व नित्य द्रव्यों में पाया जाता है तब तो वह नित्य होता और जब अनित्य द्रव्यों में पाया जाता है तब वह अनित्य होता है। द्वित्व से लेकर परार्ध पर्यन्त अनेक द्रव्य संख्या अनित्य होती है। इस नित्य एवं अनित्य को इस प्रकार समझा जा सकता है- आकाश कालादि में रहने वाला एकत्व नित्य है, जबकि दण्ड, बाँस आदि में अनित्य होता है क्योंकि इसके टूटने से उसका एकत्व भी टूट जाता है।

श्रीधराचार्य एवं शंकर ने एकत्व, द्वित्व आदि की तरह बहुत्व को भी संख्या मानने का तर्क दिया है। किन्तु **उदयनाचार्य** ने इसका निषेध किया है। उनकी दृष्टि में सेना, वृक्ष आदि कई हो सकते हैं किन्तु परिस्थितिवश उसकी संख्या ज्ञात नहीं हो पाती, इसलिये भावरूप में उसे बहुत्व कह दिया जाता है। व्यवहार में भी अनुमान के आधार पर यह कहा जाता है कि वहाँ बहुत लोग थे। इसका तात्पर्य, संख्या का समुच्चय है।

अन्नम्भट्ट ने नवद्रव्य में रहने वाली संख्या एक से परार्द्ध तक मानी है। **उदयनाचार्य** ने इससे आगे की संख्या का निषेध किया है।

भारतवर्ष में संख्या का सबसे प्राचीन प्रयोग **ऋग्वेद** (1.35.6, 1.35.9, 9.90.1) में प्राप्त होता है। **यजुर्वेद संहिता** में संख्या की प्रस्तुत सूची प्राप्त होती है- एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्द्ध। (XV. II.2)

संस्कृत साहित्य में संख्या के 18 प्रकार माने गये हैं।[2] ये हैं-

1 एक

10 दश

100 शत

1000 सहस्र

10,000 अयुत

1,00,000 लक्ष

10,00,000, नियुत

1,00,00,000, कोटि

---

2. एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च। वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शंखः पद्मश्च सागरः अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम्।।

10,00,00,000, अर्बुद

1,00,00,00,000, वृन्द

10,00,00,00,000, खर्व

1,00,00,00,00,000, निखर्व

10,00,00,00,00,000, शंख

1,00,00,00,00,00, 000, पद्म

10,00,00,00,00,00, 000, सागर

1,00,00,00,00,00,00, 000, अन्त्य

10,00,00,00,00,00,00, 000, मध्य

1,00,00,00,00,00,00,00,000, परार्द्ध

मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम्। नवद्रव्यवृत्ति। तच्चतुर्विधम्– अणु, महत्, दीर्घं ह्रस्वञ्चेति।

मान (माप) व्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते हैं। यह नौ द्रव्यों में रहता है। यह चार प्रकार का है– अणु, महत्, दीर्घ तथा ह्रस्व।

तन्वी व्याख्या– परिमाण भी सामान्य गुण है। इसकी परिभाषा में मान अर्थात् माप, तौल के व्यवहार के असाधारण कारण को ही परिमाण कहा गया है। यह परिभाषा भी पूर्णतया प्रशस्तपाद के द्वारा दी गयी परिभाषा की अनुकृति है। यह सारे नौ द्रव्यों में प्राप्त होता है।

यहाँ परिमाण के चार भेद दर्शाये गये हैं– अणु, महत्, दीर्घ तथा ह्रस्व। सूक्ष्म या सूक्ष्मतम बड़ा, लम्बा तथा छोटा (वामनादि) क्रमशः इनका व्यावहारिक अर्थ है। **वैशेषिक दर्शन** में इन भेदों के भी दो भेद माने गये हैं– नित्य एवं अनित्य। अणु परिमाण को ही **पारिमाण्डल्य** भी कहा जाता है। **न्यायकन्दली** में सबसे छोटे परिमाण को **पारिमाण्डल्य** कहा गया है। इसमें महत्त्व का सर्वथा अभाव होता है। यह सबसे छोटी किन्तु वास्तविक मात्रा या परिमाण का आश्रय है तथा केवल परमाणुओं में रहता है।

डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने परिमाण के भेदों पर आक्षेप करते हुए कहा है कि व्यावहारिक दृष्टि से परिमाण के दो भेद ही हो सकते हैं– अणुत्व तथा महत्त्व। यह उपयुक्त भी है। उनकी दृष्टि में महत्त्व, दीर्घत्व तथा अणुत्व एवं ह्रस्वत्व में दर्शाया गया भेद सर्वथा सतही है।[1]

---

1. Critique of Indian Realism. p.296.

पृथग्व्यवहारकारणं पृथक्त्वं सर्वद्रव्यवृत्ति।

पृथक् (अलग) व्यवहार के कारण को पृथक्त्व कहते हैं, वह सब द्रव्यों में रहता है।

तन्वी व्याख्या- पृथक्त्व सातवाँ गुण है। इसके विषय में **अन्नम्भट्ट** ने दो द्रव्यों में परस्पर भिन्नता को स्पष्ट करने वाले को पृथक्त्व गुण कहा है। **दीपिका** में एतदर्थ **इदमस्मात् पृथगिति** अर्थात् यह इससे भिन्न है का प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में, जिससे यह प्रतीत हो कि यह इससे पृथक् है वह भाव पृथक्त्व नामक गुण है।

अन्नम्भट्ट ने पृथक्त्व के किसी भेद का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु **वैशेषिक दर्शन** में 'एकद्रव्य' तथा 'अनेकद्रव्य' संख्या की भाँति ही इसके दो भेद किये गये हैं- एक पृथक्त्व तथा अनेक पृथक्त्व। यहाँ संख्या एवं पृथक्त्व में भेद है। वह यह कि संख्या के द्वारा ही पृथक्त्व अन्य से भिन्न माना जाता है क्योंकि प्रायः पृथक्त्व का व्यवहार संख्या से युक्त होकर ही देखा जाता है।

पृथक्त्व सारे द्रव्यों में रहता है। यही कारण है कि संख्या एवं परिमाण की तरह ही यह भी सामान्य गुण माना जाता है। यह भिन्नता की प्रतीति का असाधारण कारण है।

संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

संयुक्त (जुड़े होने के) व्यवहार का हेतु (कारण) संयोग है। यह सभी द्रव्यों में पाया जाता है।

तन्वी व्याख्या- संयोग दो वस्तुओं का बाह्य सम्बन्ध है। व्यावहारिक जीवन में संयोग शब्द का प्रचुर प्रयोग होता है। संयोग का भाव दो द्रव्यों का परस्पर स्पर्श होता है। दूसरे शब्दों में, वे दो द्रव्य जो कभी अलग थे, उनका साथ-साथ मिलना ही संयोग है। इसके लिए दो पदार्थों का होना आवश्यक है। **वैशेषिक दर्शन** में इसे गुण माना गया है। यह सदैव अनित्य होता है। **न्यायवैशेषिक** की **कारणमीमांसा** में इसकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसके बिना कोई कार्य हो ही नहीं सकता। दो तन्तुओं के संयोग से ही पट रूप कार्य सम्पन्न होता है।

दीपिका में संयोग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि- ये दोनों संयुक्त हैं इस व्यवहार का कारण ही संयोग है। **प्रशस्तपाद** ने इसका

अत्यन्त सरल लक्षण दिया है- **अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः** अर्थात् पहले से न मिले हुए दो द्रव्यों का परस्पर मिलना ही संयोग है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दो पृथक् द्रव्यों का परस्पर इतना समीप आ जाना कि वायु का भी व्यवधान न रहे, संयोग है।

सर्वद्रव्यवृत्तिः से तात्पर्य संयोग का सारे द्रव्यों में रहना है। सारे द्रव्यों में रहने के कारण यह 'सामान्य गुण' है। यह अपने आश्रय द्रव्य को पूरी तरह व्याप्त किये बिना उसमें अंशतः स्थित रहता है। इसे ऐसा भी माना जाना चाहिए कि संयोग द्रव्यों में ही होता है।

कणाद, प्रशस्तपाद आदि ने संयोग के तीन प्रकार माने हैं- अन्यतर कर्मज, उभयकर्मज तथा संयोगज। किन्तु **दीपिकाकार** ने इसके दो ही भेदों का उल्लेख किया है- कर्मज एवं संयोगज। हाथ की क्रिया से पुस्तक अथ वा किसी वस्तु से होने वाला संयोग कर्मज है। यहाँ कर्मज का अर्थ गतिज समझना चाहिए। तदनन्तर पुस्तक का शरीर से संयोग होना संयोगज है।

यहाँ संयोगज अपने आप में भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि हाथ से संयोग होने का तात्पर्य ही समस्त शरीर से संयोग समझा जाना चाहिए। वस्तुतः संयोग त्वचा और वस्तु का होता है। इसलिये **वैशेषिकों** का यह भेद सन्देहयुक्त है।

संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

संयोग का नाशक गुण विभाग है। वह सारे द्रव्यों में रहता है।

तन्वी व्याख्या- इससे पूर्व संयोग को अनित्य कहा गया था; इस सन्दर्भ में उस संयोग का विनाश विभाग के द्वारा होता है। व्यवहार में विभाग को संयोग के विपरीत माना जाता है, क्योंकि जिस प्रकार दो भिन्न द्रव्यों का परस्पर जुड़ना संयोग है उसी प्रकार परस्पर संयुक्त दो द्रव्यों का विच्छेद विभाग है। किन्तु **वैशेषिक दर्शन** ऐसा नहीं मानता। उसकी दृष्टि में यद्यपि संयोग का अभाव विभाग है पुनरपि इसकी वास्तविक सत्ता है। दोनों में एक समानता यह भी है कि ये अव्याप्यवृत्ति हैं।

अन्नम्भट्ट ने संयोग नामक गुण के विनाशक गुण को विभाग कहा है। **प्रशस्तपाद** ने इसे और अधिक सरल बनाते हुए कहा है कि पहले से प्राप्त (संयुक्त) दो वस्तुओं का अप्राप्त हो जाना ही विभाग है- **प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः**। इसके भी आश्रय सारे द्रव्य हैं, फलतः यह भी सामान्य गुण है।

दीपिका में संयोग की भाँति ही इसके भी दो भेद किये गये हैं- कर्मज एवं विभागज। जहाँ पुस्तक से संयुक्त हाथ का हट जाना अथ वा पुस्तक से हाथ का सम्पर्क टूट जाना कर्मज नामक विभाग है। इसी प्रकार हाथ एवं पुस्तक के विश्लेष (अलगाव) से शरीर और पुस्तक का अलग हो जाना विभागज विभाग है। **वैशेषिक दर्शन** के अन्य आचार्यों ने इस विभाग के तीन भेद बतलाये है- अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज तथा विभागज। **न्यायदर्शन** इस विभागंज विभाग को स्वीकार नहीं करता। संयोगज के समान ही विभागज को भी तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

व्यवहार में पृथक्त्व एवं विभाग समान प्रतीत होते हैं किन्तु वैशेषिक दृष्टि इसे भिन्न मानती है। इन दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि पृथक्त्व दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों की पृथक् स्थिति का द्योतक है जबकि विभाग दो संयुक्त द्रव्यों को अलग करने वाला गुण है। उदाहरणतया एक ही टोकरी में रखे नारंगी, सेव, आम आदि परस्पर संयुक्त होते हैं। वहाँ उन फलों में पृथक्त्व उनके रूप आदि हैं किन्तु उन्हीं फलों को टोकरी से निकालकर अलग-अलग रख दिये जाएँ तो वह विभाग गुणयुक्त कहलाएगा।

संयोग एवं विभाग के स्मरणीय बिन्दु नित्य हैं-

(क) ये दोनों सामान्य गुण हैं अर्थात् सारे द्रव्यों में रहने वाले हैं।

(ख) दोनों कर्मज हैं, अर्थात् कर्म के द्वारा दोनों की उत्पत्ति होती है।

(ग) दोनों अव्याप्यवृत्ति धर्म हैं अर्थात् अपने आधार के सर्वाङ्ग में व्याप्त नहीं रहते।

(घ) ये समवाय सम्बन्ध से रहते हैं तथा इनका प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय से होता है।

(ङ) इनका ज्ञान नेत्र और त्वक् के द्वारा होता है।

(च) कार्यद्रव्यों के भेद से ये अनन्त होते हैं।

(छ) कर्मज होने के कारण ये अनित्य हैं।

पराऽपरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिनी। ते द्विविधे- दिक्कृते कालकृते च। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।

पर (दूर) तथा अपर (निकट) इस व्यवहार के असाधारण कारण को (क्रमशः) परत्व एवं अपरत्व कहते हैं। ये पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन में रहते हैं। वे दो प्रकार के हैं- दिक्कृत तथा कालकृत। दूरस्थ में दिक्कृत परत्व तथा समीपस्थ में दिक्कृत अपरत्व है। (इसी प्रकार) ज्येष्ठ में कालकृत परत्व तथा कनिष्ठ में कालकृत अपरत्व है।

तन्वी व्याख्या- देशतः दूर या पास, कालतः बड़ा या छोटा- ये सभी द्रव्यों के गुण हैं। ये मात्र 'मानसिक अवधारणा' ही नहीं है अपि तु अस्तित्व, ज्ञेयत्व व अभिधेयत्व से युक्त 'पदार्थ' है व्यवहार में परत्व एवं अपरत्व को पूर्ववर्तिता एवं परवर्तिता तो कहा जाता ही है। 'यह दूर है' अथ वा 'यह निकट है' इस प्रकार के असाधारण कारण को **वैशेषिक** की भाषा में क्रमशः परत्व एवं अप्रत्व नामक गुण कहा गया है। कोई पदार्थ किसी अन्य की अपेक्षा दूर अथ वा पास है, यह अनुभव सिद्ध करता है कि उसमें परत्व अथ वा अपरत्व नामक गुण होता है।

इन दोनों के दो भेद हैं- दिक्कृत (Spatial) तथा कालकृत (Temporal)। इनमें से दिक्कृत परत्वापरत्व दिशाओं की विशिष्टताओं को समझाते हैं तथा कालकृत परत्वापरत्व वस्तुओं की आयु के भेद को समझाते हैं। **तर्कसंग्रह** के अनुसार दूरस्थ पदार्थों में दिक्कृत परत्व होता है। जबकि ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ में क्रमशः कालकृत परत्व तथा अपरत्व होते हैं।

ये दोनों गुण केवल प्रथम चार द्रव्यों पृथिवी, जल, तेज एवं वायु में ही पाये जाते हैं। क्योंकि ये चारों मूर्त एवं अनित्य द्रव्य हैं। मनस् भी मूर्त द्रव्य है, अतः उसमें भी परत्व अपरत्व रहते हैं। लेकिन मन में ये दैशिक (दिक्कृत) होते हैं कालिक नहीं। क्योंकि सभी मन नित्य होते हैं- कोई मन किसी अन्य मन की तुलना में ज्येष्ठ या कनिष्ठ नहीं होता। शेष चारों द्रव्य अमूर्त एवं नित्य हैं इसलिये उनमें ये दोनों गुण नहीं पाये जाते।

संयोग एवं विभाग के स्मरणीय बिन्दु नित्य हैं-

(क) ये गुण दूरत्व (दिक्कृत वा कालकृत) तथा सामीप्य (दिक्कृत वा कालकृत) की प्रतीति के असाधारण कारण हैं।

(ख) दिक्कृत परत्व और अपरत्व का ज्ञान नेत्र और त्वचा के द्वारा होता है। किन्तु कालकृत परत्व और अपरत्व अतीन्द्रिय है।

(ग) ये मूर्त्त द्रव्यों के गुण हैं।

(घ) ये समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और संयुक्त समवाय के द्वारा जाने जाते हैं।

(ङ) ये अपाकज और अकर्मज हैं।

(च) ये नित्यगत नित्य और अनित्यगत अनित्य हैं।

आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीजलवृत्ति।

प्रथम पतन का असमवायिकारण गुरुत्व है। यह पृथिवी तथा जल में रहता है।

तन्वी व्याख्या- गुरुत्व शब्द का सामान्य अर्थ भारीपन होता है। इसी भारीपन के कारण फल आदि पृथिवी पर गिरते हैं। **कणाद** ने गुरुत्व को 'पतन का हेतु' कहा है। किन्तु **अन्नम्भट्ट** तथा **उदयनाचार्य (लक्षणावली)** ने इसे प्रथम पतन का असमवायिकारण कहा है जहाँ पतन का अर्थ नीचे की ओर गिरना है। यहाँ आद्य शब्द की सार्थकता पर टिप्पणी करते हुए **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** में कहा है कि वेग में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये इसका प्रयोग किया गया है क्योंकि डण्डे आदि का ऊपर से आद्यपतन गुरुत्व का कारण होता है तथा द्वितीयादि पतन वेग नामक गुण का कारण होता है। उस आद्य अर्थात् प्रथम पतन से गिरते हुए द्रव्य में वेग नामक संस्कार उत्पन्न हो जाता है। यही वेगाख्य संस्कार द्वितीय, तृतीय एवं अन्य पतनों का असमवायिकारण माना जाता है।

स्मरणीय है कि **न्यायवैशेषिक** मत में पतन एक जन्य कर्म है। यहाँ पतन का तात्पर्य है- **अधोदेशसंयोगानुकूलो व्यापारः**। पतन से युक्त द्रव्य उस पतन क्रिया का समवायिकारण होता है क्योंकि वह क्रिया उस द्रव्य में समवेत होकर ही उत्पन्न होती है तथा पतन क्रिया के समवायिकारणभूत उस द्रव्य में समवेत वेग द्वितीयादि पतन का असमवायिकारण माना जाता है। गुरुत्व अनुमेय है।

गुरुत्व के विषय में **पं० आनन्द झा** ने एक शंका उठाई है कि प्राचीन पदार्थशास्त्री केवल पृथिवीगत आकर्षण शक्ति से ही किसी भी वस्तु का पतन नहीं मानते। वे कहते हैं कि गुरुत्व अर्थात् भारीपन पतन के लिये

अपेक्षित हैं। अन्यथा दीपशिखा पृथिवी से आकृष्ट होकर निम्नाभिमुख क्यों नहीं होती?[1]

यह मत निर्मूल है क्योंकि **आधुनिक विज्ञान** स्पष्ट रूप से पदार्थ में द्रव्यमान का होना गुरुत्वाकर्षण के लिये आवश्यक मानते हैं। दीपशिखा का द्रव्यमान शून्य होने के कारण उस पर गुरुत्व बल प्रभावकारी नहीं हो पाता। यही कारण है कि तारकोल वाली आग नीचे की ओर गिर जाती है।

यहाँ ध्यातव्य है कि **गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त** का प्रतिपादन करने वाले **न्यूटन** को इसकी प्रेरणा जहाँ से मिली हो किन्तु हमारे भारतीय मनीषी ने स्पष्ट शब्दों में इसका प्रतिपादन ईसा से पूर्व कर दिया था। दोनों कथनोपकथन में कितनी ही भिन्नता क्यों न हो, दोनों में एक समानता अवश्य है कि इन्होंने पृथिवी में गुरुत्व होने की बात स्वीकार की है। आधुनिक **गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त, वैशेषिक** के ही गुरुत्वसिद्धान्त का परिष्कृत रूप है।

आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्ति। तद् द्विविधम्- सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकं जले, नैमित्तिकं पृथिवीतेजसो:। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजन्यं द्रवत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ।

प्रथम स्यन्दन (बहना) का असमवायिकारण द्रवत्व है। यह पृथिवी, जल और तेज में रहता है। वह दो प्रकार का होता है- सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक। सांसिद्धिक, जल में तथा नैमित्तिक, पृथिवी एवं तेज में होता है। घी आदि पृथिवी में अग्नि के संयोग से द्रवत्व होता है। सुवर्ण आदि तेज में भी अग्नि के संयोग से ही द्रवत्व उत्पन्न होता है।

तन्वी व्याख्या- पदार्थों में पायी जाने वाली तरलता ही द्रवत्व नामक गुण है। यह द्रवत्व बहने की प्रक्रिया के द्वारा जाना जाता है। **अन्नम्भट्ट** ने इसे प्रारम्भिक स्यन्दन का असमवायिकारण माना है। यहाँ असमवायिकारण से स्यन्दन के समवायिकारण द्रव्य का निषेध किया गया है। प्रारम्भिक स्यन्दन के बाद होने वाला स्यन्दन, वेग के कारण होता है इसलिये केवल 'आद्य स्यन्दन' को ही द्रवत्व कहा गया है। वेग में द्रवत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'आद्य' पद रख गया है। स्यन्दन क्रिया का समवायिकारण वह द्रव्य होता है, जिसमें बहने की क्रिया होती है।

---

1. प्र. पा.भा., पृ.124.

स्यन्दन एक विशिष्ट क्रिया है जिसमें द्रवीभूत वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान तक द्रवरूप में गमन करती है। यह क्रिया तभी तक होगी जब तक द्रव्य द्रव की स्थिति में है। इस प्रकार स्यन्दन के लिये द्रवत्व अपेक्षित है इसके अन्त होने पर उसका स्यन्दन समाप्त हो जाता है। जैसे- सुवर्ण जब तक द्रव होता है तब तक स्यन्दन क्रिया के द्वारा उसे विभिन्न रूपों में ढाला जा सकता है। किन्तु ठोस अवस्था में वह कठोर हो जाता है। उसमें गति रहेगी लेकिन स्यन्दन नहीं होगा।

यह द्रवत्व दो प्रकार का है- सांसिद्धिक एवं नैमित्तिक। जल में स्वाभाविक द्रवत्व है। पृथिवी एवं तेज में नैमित्तिक द्रवत्व होता है। यह कृत्रिम होता है। पार्थिव एवं तैजस द्रव्यों में अग्नि के सम्पर्क से द्रवत्व उत्पन्न होता है। जैसे पार्थिव घृत को गर्म किये जाने पर द्रवत्व गुण के कारण वह पिघल जाता है। इसी प्रकार, तैजस सुवर्ण भी अग्नि के संयोग से एक निश्चित तापमान पर पिघलता है। सांसिद्धिक द्रवत्व जल का विशेष गुण है जब कि नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी एवं तेज का सामान्य गुण है।

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः।

चूर्ण आदि को पिण्ड बना देने वाले गुण को स्नेह कहते हैं। वह केवल जल में रहता है।

तन्वी व्याख्या- सामान्यतः स्नेह शब्द तैलीय चिकनाई को कहते हैं। इसी गुण के कारण दो द्रव्य परस्पर चिपकते हैं। यही कारण है कि चूर्ण पदार्थ को पिण्ड बनाने का हेतु स्नेह कहलाता है। स्नेह **वह गुण है जिसके कारण पृथक्-पृथक् विद्यमान कण एक पिण्ड में हो जाता है।**

यह स्नेह जल का विशेष गुण है। इसलिये इसे जलमात्र वृत्ति कहा गया है। नित्य जल में स्नेह नित्य होता है तथा अनित्य जल में अनित्य। घृत, तैल आदि में भी जलीय स्नेह ही हैं।

लक्षण में प्रयुक्त पिण्डीभाव शब्द भाषा की दृष्टि से अग्राह्य नहीं है। पुनरपि इसे एक घनिष्ठ संयोग समझा जाना चाहिए जो चूर्ण हुई वस्तु के कणों का पारस्परिक आकर्षण है। ध्यातव्य है कि इस विलक्षण संयोग के प्रति स्नेह ही असाधारण कारण है न कि जल आदि में रहने वाला द्रवत्व। अन्यथा पिघले हुए सुवर्ण आदि के संयोग से भी चूर्ण का पिण्डीभाव हो जाता। इसलिये इस पिण्डीभवन प्रक्रिया में स्नेह ही असाधारण कारण है।

कणाद ने इस स्नेह नामक गुण का उल्लेख नहीं किया है। प्रशस्तपाद के द्वारा जोड़े गये सात गुणों में से यह एक है। बाद में सारे आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः- ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।

श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला गुण शब्द है। यह केवल आकाश में रहता है। यह दो प्रकार का है- ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक। भेरी आदि में ध्वन्यात्मक शब्द है। संस्कृतभाषादि रूप वर्णात्मक शब्द है।

तन्वी व्याख्या- आकाश द्रव्य के विवेचन के क्रम में शब्द का उल्लेख किया गया था। वहीं शब्द को आकाश का गुण कहा गया था। यह शब्द श्रोत्र (कान) इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला पन्द्रहवाँ गुण है। **वैशेषिक दर्शन** मात्र में ही शब्द को गुण माना गया है। अन्यत्र **न्याय, सांख्य, योग, वेदान्त** तथा **मीमांसा** में इसे एक पृथक् प्रमाण ही माना गया है। वैशेषिक इसे प्रमाण नहीं मानता। **कणाद** ने इसको प्रमाण न मानने के पीछे यही तर्क दिया है कि शाब्दबोध से उत्पन्न ज्ञान अनुमान के ही अन्तर्गत आ जाता है।

यहाँ **अन्नम्भट्ट** ने आकाशमात्रवृत्ति कहकर यह प्रतिपादित किया है कि यह गुण केवल आकाश में ही रहता है। इसीलिये इसे विशेष गुण माना जाता है। शब्द को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय श्रोत्र है। यह संयोग, विभाग तथा शब्दान्तर से उत्पन्न एवं क्षणिक होता है, किन्तु मीमांसा, व्याकरण आदि में शब्द को नित्य माना गया है।

वैशेषिकदर्शन में शब्द के दो भेद माने गये हैं- ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक। यहाँ ध्वन्यात्मक से तात्पर्य है, जिस शब्द में केवल ध्वनि होती है किन्तु कथ्य (वर्ण) अस्पष्ट होता है, जैसे- भेरी, बाँसुरी आदि। मानव के मुख से निःसृत संस्कृत, प्राकृत आदि वर्णात्मक शब्द हैं।

दीपिका में **अन्नम्भट्ट** ने उत्पत्ति के आधार पर इसके तीन भेद बताये हैं- संयोगज, विभागज तथा शब्दज। यहाँ भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न होने वाली ध्वनि संयोगज है। बाँस के चीरते समय उससे निकलने वाले चटचट शब्द विभागज हैं तथा शब्द के उत्पत्तिस्थल से लेकर कर्णविवरपर्यन्त एक शब्द से उत्पन्न होने वाले द्वितीयादि शब्द शब्दज है। शब्दज को प्रतिध्वनि (Echo) भी कहते हैं।

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा- स्मृतिरनुभवश्च।

सब प्रकार के व्यवहार का हेतु गुण ज्ञान या बुद्धि है। वह दो प्रकार की है- स्मृति तथा अनुभव।

तन्वी व्याख्या- बोलचाल की भाषा में बुद्धि को ज्ञान कहा जाता है। शब्दकल्पद्रुम में इसके अठारह अर्थ दिये गये हैं- मनीषा, धिषणा, धी, प्रज्ञा, शेमुषी, मति, उपलब्धि, चित्, सञ्चित्, प्रतिपत्ति, ज्ञप्ति, चेतना, धारण, मेधा, मनन, बोध, प्रतिभा। न्यायसूत्र में तो बुद्धि के पर्याय उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय बतलाये गये हैं।[1]

अन्नम्भट्ट ने सारे व्यवहार के कारण रूप गुण को बुद्धि माना है। अर्थात् इस लोकजीवन में पलक झपकाने से लेकर उठने-बैठने, बातचीत आदि सारी क्रियाओं का कारण ही बुद्धि है। इस दृष्टि से बाल-बुद्धि के लिये **'सर्वव्यवहारहेतु'** सहज गम्य लक्षण है। कई विद्वानों ने सर्वव्यवहार हेतु का अर्थ 'सब शब्द प्रयोगों का हेतु' कहा है। इस अर्थ से कथ्य की व्यापकता सीमित हो जाती है। शब्दप्रयोग प्रयोग प्रायः परार्थ है। स्वार्थ में शब्द प्रयोग नहीं देखा जाता। हमारी अपनी समझ, तदनुरूप व्यवहार का हेतु भी बुद्धि है।

अन्नम्भट्ट ने दीपिका में बुद्धि की व्याख्या करते हुए कहा है कि- **जानामीत्यनुव्यवसायगम्यं ज्ञानत्वमेव लक्षणमिति।** यहाँ विषय का ज्ञान (अयं घटः, अयं पटः आदि) व्यवसाय है तथा व्यवसाय का ज्ञान (घटमहं जानामि, पटमहं जानामि आदि) अनुव्यवसाय है। व्यवसाय एवं अनुव्यवसाय की सामान्य जाति है 'ज्ञानत्व'। यह ज्ञानत्व जिसमें हो, वही बुद्धि है।

बुद्धि के स्मरणीय बिन्दु नित्य हैं-

(क) बुद्धि आत्मा का विशेष गुण है।

(ख) यह विषय मात्र के प्रत्यक्ष में कारण है।

(ग) इसका समवायि कारण आत्मा है।

(घ) इसका असमवायिकारण है आत्ममनःसंयोग।

(ङ) निमित्त कारण है त्वङ्मनःसंयोग।

(च) साधारण कारण हैं काल, अदृष्ट, ईश्वरेच्छा, ईश्वरज्ञान और प्रयत्न।

---

1. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः- 1.1.15

(छ) यह जीवात्मा में अनित्य और परमात्मा में नित्य होती है।

अन्नम्भट्ट ने बुद्धि के दो भेद बतलाये हैं- स्मृति तथा अनुभव। किन्तु **विश्वनाथ** के अतिरिक्त अन्य सारे नैयायिकों ने इसे विद्या एवं अविद्या के रूप में दर्शाया है। गुणनिरूपणप्रसंग में **तर्कभाषाकार** ने नित्य एवं अनित्य रूप से बुद्धि के दो भेदों का कथन किया है। इन भेदों के लक्षण एवं वैभिन्न्य के कारणों के निर्देश अग्राङ्कित हैं।

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः- यथार्थोऽयथार्थश्च।

संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है। उस (स्मृति) से भिन्न ज्ञान अनुभव है। ये दो प्रकार के हैं- यथार्थ एवं अयथार्थ।

तन्वी व्याख्या- बुद्धि के दो भेदों में प्रथम स्मृति है। यह संस्कारमात्र से ही उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। पूर्व में अनुभूत किसी वस्तु के ज्ञान के पश्चात् जब किसी वस्तु का पुनः दर्शन होता है तो उससे प्राप्त ज्ञान के कारण हमारी आत्मा में एक संस्कार उत्पन्न होता है। उस क्षण बिना किसी बाह्येन्द्रिय की सहायता से उस वस्तु का पुनः ज्ञान होने लगता है। यही ज्ञान स्मृति है। इस प्रकार स्मृति सदा ज्ञात विषय की होती है। उस आधार पर **ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः** भी स्मृति का लक्षण किया जाता है। स्मृति के कारण संस्कार उद्‌बुद्ध होता है इसलिये **अन्नम्भट्ट** ने **संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः** यह स्मृति का लक्षण किया है।

यहाँ उल्लेख्य है कि स्मृति से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यभिज्ञा से भिन्न है। वह इस प्रकार कि प्रत्यभिज्ञा एक इन्द्रियजन्य ज्ञान है जिसमें संस्कार एक सहकारी कारण है, जब कि स्मृति में एकमात्र संस्कार ही प्रमुख कारण है, इसमें इन्द्रिय की कोई आवश्यकता नहीं होती। प्रत्यभिज्ञा में ज्ञान के लिये वस्तु का प्रत्यक्ष अनिवार्य है।

स्मृति से भिन्न अर्थात् स्मृति के अतिरिक्त सारे ज्ञान अनुभव हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि स्मृतिज्ञान केवल पूर्वानुभव के संस्कार से जन्य है जब कि अनुभव प्रमाण के अनन्तर अथ वा प्रमाण के द्वारा उत्पन्न होता है। अनुभव ज्ञान पुराना होता है किन्तु यथासमय उसका प्रकटीकरण नूतन होता है। इस अनुभव के दो भेद हैं- यथार्थ एवं अयथार्थ।

अन्नम्भट्ट का यह मौलिक विचार है, जिसमें उन्होंने प्राच्य परम्परा से भिन्न बुद्धि के दो भेदों का उल्लेख किया है। उनसे पूर्व के **वैशेषिकाचार्यों** ने विद्या

एवं अविद्या रूप इसके दो भेद किये हैं। ये विद्या एवं अविद्या भी चार-चार प्रकार के हैं। **प्रशस्तपाद** ने **अन्नम्भट्ट** निर्दिष्ट स्मृति को विद्या के भेद के अन्तर्गत गिनाया है। विद्या के भेद हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्षज्ञान। इसी प्रकार अविद्या के भेद हैं- संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न। **अन्नम्भट्ट** ने यथार्थ अनुभव के भेदों में प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्द का परिगणन किया है जब कि अयथार्थ अनुभव के अन्तर्गत संशय, विपर्यय एवं तर्क इन तीन भेदों को रखा है। इस प्रकार समानता की दृष्टि से **अन्नम्भट्ट** के यथार्थ एवं अयथार्थ ही **प्रशस्तपाद** की विद्या एवं अविद्या हैं।

किन्तु इन भेदोपभेदों में भी पूर्ण समानता नहीं है। विद्या एवं यथार्थ के भेदों में जहाँ **तर्कसंग्रह** में उपमिति एवं शाब्द दर्शाया गया है वहीं **भाष्यकार** ने स्मृति एवं आर्षज्ञान को रखा है। सूक्ष्म विवेचन से आर्षज्ञान एवं शाब्द समान ही प्रतीत होता है। अयथार्थ के तीन भेद हैं जबकि अविद्या के चार। यहाँ अनध्यवसाय एवं स्वप्न अतिरिक्त है जबकि **तर्कसंग्रह** में संशय एवं विपर्यय के अतिरिक्त तर्क को गिनाया गया है। भेदोपभेद के उक्त अन्तर को निम्न तालिका से समझा जा सकता है-

(क) **प्रशस्तपाद**
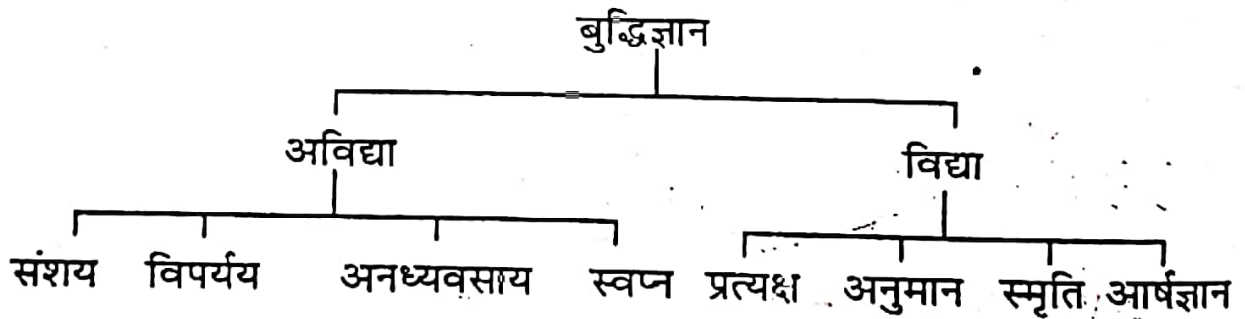
(ख) **अन्नम्भट्ट**
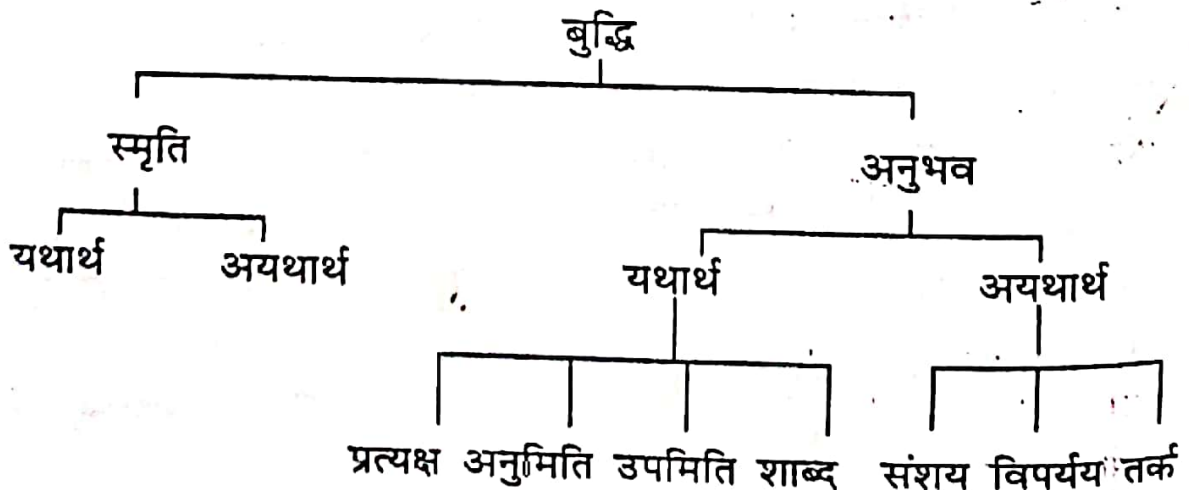
तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। (यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्)। सैव 'प्रमा' इत्युच्यते।

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। (यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्।) सैवाप्रमेत्युच्यते।

जो वस्तु जिस रूप में हो उसका उसी रूप में अनुभव यथार्थ है। जैसे- रजत (चाँदी) में 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान। वही प्रमा (प्रामाणिक ज्ञान) कहलाता है।

जो वस्तु जिस रूप में न हो उसे उस रूप में समझना अयथार्थ है। जैसे- शुक्ति (सीपी) में यह रजत है, ऐसा ज्ञान। वही अप्रमा (अप्रामाणिक ज्ञान) कहलाता है।

तन्वी व्याख्या- न्याय-वैशेषिक में ज्ञान की समस्त प्रक्रिया प्रमा-विश्लेषण पर आधारित है। इसलिये इसके लक्षण, प्रविधि एवं इसमें प्रयुक्त शब्दावली को समझना आवश्यक है।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार ज्ञान किसी विषय का ही होता है। बिना विषय के ज्ञान संभव नहीं है। इस ज्ञान में प्रकट होने वाले विषय तीन प्रकार के हैं-

(क) धर्म - विशेषण
(ख) धर्मी - विशेष्य
(ग) दोनों के सम्बन्ध - संसर्ग

यहाँ 'विशेष्य' वह वस्तु है जो किसी धर्म अथ वा विशेषण से अवच्छिन्न या विशिष्ट हो। यह धर्म ही विशेष्यरूप वस्तु का विशेषण है। विशेषण को ही 'प्रकार' कहते हैं। यही धर्मरूप विशेषण या प्रकार धर्मी या विशेष्य का भेदक होता है। यथा- 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि में दण्ड का संसर्ग पुरुष से है, इसीलिये दण्ड विशेषण है तथा पुरुष विशेष्य। यह विशेषण ही प्रकार है जिसका प्रयोग उपर्युक्त पाठ में दृष्ट है।

स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहा गया है- स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभवः। इस अनुभव के दो भेद हैं- यथार्थ एवं अयथार्थ। यथार्थ होने का सामान्य अर्थ है जैसा है वैसा होना अर्थात् जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है उसकी उसी रूप में प्रतीति यथार्थ है। जैसे- रजत में 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान होना। इसी को प्रमा भी कहा जाता है- तत्त्वानुभवः प्रमा। इसे ऐसा भी कहा जा

सकता है कि जहाँ जो वस्तु है उसे वहाँ जानना प्रमा है- **यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा।**

दूसरी ओर जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण की सत्ता रहे, वही ज्ञान प्रमा है या यही यथार्थ ज्ञान है। यथार्थ रजत में 'इदं रजतम्' का ज्ञान प्रमा है। क्योंकि ज्ञान का विशेष्य रजत में रजतत्व रूप विशेषण की सत्ता है, अतः उक्त ज्ञान प्रमा है।

उक्त लक्षण में 'तद्वति' मतुप् प्रत्ययान्त है जिसके तद्वत् शब्द से तदधिकरण विवक्षित न होकर तत्सम्बन्धी मात्र विवक्षित है। जैसे 'रजते रजतत्वम्' में रजतप्रकारकज्ञान रजतसम्बन्धिरजतत्वविशेष्यक होने से 'तद्वति तत्प्रकारक' हो गया। इस प्रकार 'जहाँ जिसका सम्बन्ध है वहाँ उसके सम्बन्ध का अनुभव यथार्थानुभव है' यह लक्षण होता है।

यदा-कदा विपरीत ज्ञान के कारण शुक्ति अथ वा सीपी में भी उसकी चमक के कारण रजत का ज्ञान होता है। इस प्रकार का ज्ञान अयथार्थ अनुभव कहलाता है। यह ज्ञान, जो वस्तु जैसा है उससे भिन्न प्रतीत होना, होता है। यह अप्रामाणिक ज्ञान अथ वा **अप्रमा** कहलाता है। यह भ्रम अथ वा विपर्यय भी कहलाता है।

यह एक प्रकार का आभास होता है। इसे भ्रान्त ज्ञान भी कहा जाता है। जैसे- मृगतृष्णा में जल की भ्रान्ति, शुक्ति (सीपी) में रजत (चाँदी)की भ्रान्ति आदि। मूल में इसका उदाहरण **शुक्तौ इदं रजतम्** दिया गया है। शुक्ति में 'इदं रजतम्' का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह **प्रमा** इसलिये नहीं है कि इस ज्ञान के विशेष्य 'शुक्ति' में रजतत्व का समवाय नहीं है। अतः शुक्ति में रजतत्व का ज्ञान प्रमा न होकर **अप्रमा** है। यहाँ यह भी ग्राह्य है कि जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण की सत्ता न रहे उस ज्ञान को ही अप्रमा कहते हैं।

इस प्रसंग में भी उक्त लक्षण में 'तदभाववति' में सप्तमी का अर्थ विशेष्यत्व होने के कारण **तदभाववद्विशेष्यक तत्प्रकारक** अनुभव, अयथार्थ अनुभव है।

संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि **यथार्थ** अनुभव अथ वा सत्य ज्ञान **प्रमा** तथा **अयथार्थ** अनुभव अथ वा मिथ्या ज्ञान **अप्रमा** है। तर्ककौमुदीकार का भी यही लक्षण देते हैं-

(प्रमाणजन्यः) यथार्थानुभवः प्रमा।
(प्रमाणाभासजन्यः) अयथार्थानुभवः अप्रमा।

प्रायः सारे भारतीय दर्शनों में प्रमाविषयक चिन्तन हुआ है, किन्तु इस चिन्तन में पर्याप्त मतभेद है। पुनरपि, छात्रों के लिये प्रमाविषयक उक्त चिन्तन का वैशिष्ट्य यहाँ इस प्रकार दिया जा रहा है-

(क) ज्ञान का प्रकार विषय के विशेषण के अनुरूप होना चाहिए।

(ख) यह ज्ञान स्मृति रूप में पूर्वतः प्राप्त नहीं होना चाहिए।

(ग) यह ज्ञान निश्चयात्मक होना चाहिए।

(घ) यह ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं होना चाहिए।

(ङ) हमें यह पता होना चाहिए कि हमारे ज्ञान के कारण (इन्द्रिय) दोषरहित हैं।

(च) यह ज्ञान अर्थक्रियाकारी होना चाहिए।

न्याय ने यथार्थता को प्रमा का मुख्य लक्षण माना है। वात्स्यायन के अनुसार **यदर्थविज्ञानं स प्रमिति** प्रमा का लक्षण है। पुनः बाद में **तस्मिंस्तदिति प्रत्यय** के द्वारा उन्होंने इस लक्षण को स्पष्ट किया है। इसका यहाँ यह आशय है कि यदि किसी वस्तु का ज्ञान इसी रूप में हो तो वह प्रमा है।

गंगेश ने यथार्थता को प्रमा के लक्षण के रूप में अस्वीकार किया है। उनके अनुसार यथार्थता को प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता। क्योंकि ज्ञान तथा विषय दो बिल्कुल भिन्न तत्त्व हैं तथा उनमें समानता नहीं हो सकती- **ज्ञाने घटत्वादिना यथा शब्दार्थसादृश्याभावात्।** **गंगेश** अपनी परिभाषा **तद्वति तत्प्रकारकत्व** के रूप में प्रस्तुत करते हैं (इसी का अनुसरण **अन्नम्भट्ट** ने भी किया है) तथा वे कहते हैं कि जहाँ जो है वहाँ उसी का अनुभव प्रमा है- **यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा।**

तद्वति तत्प्रकारत्व को अपनी भूमिका में स्पष्ट करते हुए **मोहन्ती** ने कहा है कि **तद्वति तत्प्रकारकत्व** में दो विभिन्न भाग दो विभिन्न प्रकार की सत्ताओं की ओर संकेत करते हैं। तद्वति अंश तात्त्विक स्थिति की ओर संकेत करता है जबकि तत्प्रकारकत्व ज्ञानात्मक स्थिति की ओर।[1] इस प्रकार इस परिभाषा का अर्थ हुआ कि जब ज्ञान का प्रकार तात्त्विक अथ वा वास्तविक स्थिति के अनुरूप हो तो वह ज्ञान प्रमा रूप होता है, किन्तु यदि इन दोनों में सामंजस्य न हो तो वह ज्ञान अप्रमा रूप होगा।

1. Gangesa Theories of truth P. 45.

इस क्रम में यह भी जान लेना आवश्यक है कि प्रमा अथ वा ज्ञान का अस्तित्व तीन वस्तुओं पर निर्भर करता है। ये हैं- प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण।

(क) प्रमाता (Subject of Cognition)- ज्ञान का सामान्य अर्थ है जानना, जो किसी चेतन व्यक्ति में ही हो सकती है। यही कारण है कि ज्ञान ज्ञातृसापेक्ष होता है। ज्ञाता के विना ज्ञान असम्भव है। ज्ञाता जो ज्ञान का विशेष आधार होता है, प्रमाता कहलाता है।

(ख) प्रमेय (Object of Cognition)- ज्ञान किसी विषय का होता है। निर्विषयक या शून्य ज्ञान असम्भव है। जिस विषय का ज्ञान होता है वह प्रमेय कहलाता है।

(ग) प्रमाण (Means of Cognition)- ज्ञाता एवं ज्ञेय दोनों उपस्थित हों, किन्तु जिसे जानना है या जो जाना जाने योग्य विषय है वही यदि न हो तो ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। इसलिये ज्ञाता के लिये ज्ञान-प्राप्ति का साधन होना आवश्यक है। यही साधन प्रमाण कहलाता है।

प्रमाण–मीमांसा

(Epistemology)

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः– प्रत्यक्षाऽनुमित्युपमितिशाब्दभेदात्।
तत्करणमपि चतुर्विधम्– प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

यथार्थानुभव चार प्रकार का है– प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्द। इसके करण भी चार प्रकार के हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द।

तन्वी व्याख्या– अनुभव के प्रकार विवेचन के अनन्तर यथार्थानुभव के चार भेद बतलाये गये हैं– प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द। तदनन्तर इसके करण भी चार बतलाये गये हैं– **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान** एवं **शब्द**। यहाँ करण से तात्पर्य ज्ञान का साधन है।

यहीं से **न्याय–वैशेषिक** की **प्रमाण–मीमांसा** प्रारम्भ होती है। यद्यपि वैशेषिक स्वतन्त्र रूप से दो ही प्रमाण, प्रत्यक्ष एवं अनुमान को मानते हैं किन्तु **अन्नम्भट्ट** ने यहाँ न्याय की प्रमाण परम्परा स्वीकार की है।

दीपिका में प्रमाण को प्रमाकरण अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन कहा गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द के यथार्थ ज्ञान के साधन क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द हैं। प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति **प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्** इस प्रकार की जाती है। **वात्स्यायन** ने प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार की है– **उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि** अर्थात् उपलब्धि अर्थात् ज्ञान के साधन प्रमाण हैं।

न्याय एवं **वैशेषिक** प्रमाण अथ वा ज्ञान की प्रामाणिकता के लिये किसी अन्य साधन पर निर्भर करते हैं, इसीलिये उन्हें परतः प्रमाणवादी कहा जाता है। **सांख्य, बौद्ध, मीमांसा** आदि स्वतः प्रमाणवादी हैं।

यहाँ इन प्रमाणों की क्रम व्यवस्था का **प्रशस्तपाद** ने अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है। उनके अनुसार इन चारों में सर्वप्रथम प्रत्यक्ष का निरूपण इसलिये किया गया है कि वह अन्य सभी ज्ञानों का कारण है। प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का निरूपण इसलिये किया गया है कि वह सीधे प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा केवल ज्ञात अर्थों की ही

'स्मृति' होती है, अतः इन दोनों के बाद स्मृति का निरूपण हुआ है। आर्षज्ञान तो केवल लोकोत्तर पुरुषों को ही प्राप्त होता है, अतः उसका वर्णन लौकिक प्रमाणों के निरूपण के पश्चात् किया गया है।[1]

ध्यातव्य है कि **प्रशस्तपाद** ने उपमान तथा शब्द प्रमाण के स्थान पर स्मृति एवं आर्षज्ञान का उल्लेख किया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि दार्शनिक विवेचना की मूलभित्ति प्रमाणविमर्श पर ही स्थिर है। वस्तुतः विभिन्न प्रमाणों के द्वारा प्राप्त परिणामों का ही सामान्य नाम दर्शन है।[2] अतः प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने दार्शनिक मन्तव्यों की सिद्धि के लिये अपने-अपने ढंग से प्रमाणों का विवेचन किया है। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा विवादास्पद विषय प्रमाणों की संख्या का निर्धारण है। सारे प्रमुख प्रस्थानों के प्रमाणों का संख्याविषयक दार्शनिक मन्तव्य निम्नलिखित है-

1. **चार्वाक**- प्रत्यक्ष।
2. **वैशेषिक** एवं **बौद्ध**- प्रत्यक्ष, अनुमान।
3. **जैन**- प्रत्यक्ष एवं परोक्ष।
4. **सांख्य** व **योग**- प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तवचन (शब्द)।
5. **न्याय**- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द।
6. **मीमांसक (प्रभाकर)**- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति।
7. **मीमांसक (भाट्ट)**- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि (अभाव)।

(**वेदान्त परिभाषाकार** भी इन छह प्रमाणों का निर्देश करते हैं)।

8. **पौराणिक**- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य।
9. **शंकर** तथा **शून्यवादी (बौद्ध)**- समस्त प्रमाणों की अस्वीकृति।

---

1. प्र.पा.भा., पृ. 153
2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम. हिरियन्ना, पृ. [illegible]

कारण प्रकरण

असाधारणं कारणं करणम्।

असाधारण कारण करण है।

कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्।

कार्य के पूर्व नियत रूप से रहने वाला कारण है।

कार्यं प्रागभावप्रतियोगि।

प्रागभाव का प्रतियोगी कार्य है।

तन्वी व्याख्या- यथार्थानुभव के भेद के क्रम में अन्नम्भट्ट ने इसके करण के भी चार भेदों का उल्लेख किया है तथा **दीपिका** में प्रमाण का लक्षण 'प्रमा का करण' कहा है। यहाँ सर्वथा नवीन पद 'करण' का अर्थज्ञान नहीं हो पाता है। इसीलिए इस पद के लक्षण में यहाँ 'असाधारण कारण' कहा गया है अर्थात् किसी भी कार्य की उत्पत्ति में जो साधारण कारण नहीं होता है, वह करण कहलाता है। उल्लेखनीय है कि कुछ कारण, सारे कार्यों के कारण होते हैं, इसीलिये वे साधारण कारण कहे जाते हैं, जैसे- ईश्वर, आकाश, काल, दिक् आदि। किन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे कारण होते हैं जो कार्य विशेष के प्रति ही कारण होते हैं, वे असाधारण कारण कहलाते हैं। **दीपिका** में असाधारण के विषय में कहा गया है कि साधारण कारण काल, दिशा आदि में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये इस पद का प्रयोग किया गया है। इस साधारण-असाधारण से एक और तथ्य उद्घाटित होता है कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति के क्षण चतुर्दिक् विद्यमान सारे दृश्य एवं अदृश्य तत्त्वों की गणना उसके कारणों में हो जाती है।

इस प्रकार, ये कारण दो होते हैं- साधारण एवं असाधारण। ईश्वर आदि साधारण कारण कहलाते हैं जबकि घटनिर्माण में तन्तु, वेमा आदि असाधारण कारण। साधारण कारण के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह कार्योत्पत्ति के क्षण से पूर्व प्रत्यक्षतः विद्यमान नहीं रहता। असाधारण कारण से तात्पर्य है जिसके न रहने की स्थिति में कार्य उत्पन्न ही न हो- **यद्विलम्बात् प्रकृतकार्यानुत्पादः तत्कारणत्वम्** (**नीलकण्ठ**)। **न्यायबोधिनी** में करण शब्द की एक परिभाषा है- **व्यापारवद् असाधारणं कारणं**

करणम्' अर्थात् व्यापार से युक्त असाधारण कारण करण है। यहाँ व्यापार शब्द का अर्थ है वह क्रिया जो करण के द्वारा उत्पन्न हो तथा जिससे फल की प्राप्ति हो- **तज्जन्यः तज्जन्यजनकश्च व्यापारः**। **सिद्धान्तचन्द्रोदय** में भी इसे इसी प्रकार कहा गया है- **द्रव्येतरत्वे सति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः** अर्थात् जो स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु द्रव्य का जन्य तथा जनक है। यथा- घटकार्य में करण है दण्ड एवं व्यापार है चक्रभ्रमण। इसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान में करण है चक्षुरिन्द्रिय तथा व्यापार है अर्थसन्निकर्ष।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने **पाणिनीय व्याकरण** के आधार पर ही करण का लक्षण किया है- **साधकतमं करणम्** अर्थात् कार्य के प्रकृष्ट कारण को करण कहते हैं। साधक में तमप् प्रत्यय कारण की श्रेष्ठता को बतलाता है। यहाँ 'साधकतमम्' की दूसरी व्याख्या यह भी है कि कार्योत्पत्ति के कई कारणों में जो सर्वथा विशिष्ट हो। यथा- लेखन कार्य के समय 'कलम' सर्वथा विशिष्ट है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि करण के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इसीलिये इस करण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा जाता है कि **फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्** अर्थात् जिसके होने पर फल की अप्राप्ति नहीं रहती वह कारण करण है।

कारण- करण के लक्षण में कारण शब्द का प्रयोग है। छात्रों की सुविधा के लिये तत्पश्चात् इसका लक्षण प्रस्तुत किया गया- **कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्** अर्थात् कार्य से पूर्व निश्चित रूप से रहने वाला कारण होता है। यहाँ 'पूर्ववृत्ति' से तात्पर्य है- कार्य से एकदम पूर्ववर्ती क्षण में रहना। साथ ही 'नियत' का अर्थ है अवश्यम्भावी या नियमपूर्वक होनेवाला।

दीपिका में कारण की परिभाषाक्रम में **अनन्यथासिद्धत्वे सति** के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि कारण को कार्य के साथ दूरवर्ती सम्बन्ध वाला नहीं होना चाहिए। यथा- कुम्भकार का पिता भी पूर्ववृत्तिता के कारण घट का कारण हो सकता है, किन्तु दूरवर्ती होने के कारण, साथ ही कार्य के समय नियत रूप से अविद्यमान होने के कारण वह उस कार्य का कारण नहीं हो पाता। इसलिये कारणत्व के लिये जिस अन्य वस्तु की अपेक्षा होती है, वह है अन्यथासिद्धत्व।

इस प्रकार कारण के निम्न तीन नियामक लक्षण हुए-

(क) पूर्ववर्तित्व (Antecedence)

(ख) नियतत्व (Invariability)

(ग) अनन्यथासिद्धत्व (Unconditionality)

तर्कभाषाकार के अनुसार जिसका कार्य से पहले होना नियत है और जो अन्यथासिद्ध नहीं होता वह कारण कहलाता है। इसी प्रकार **विश्वनाथ** ने भी इसे **'अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता'** कहा है। यहाँ अन्यथासिद्ध का अर्थ है जिसकी पूर्ववृत्तिता कार्य के प्रति स्वतः सिद्ध नहीं है अपि तु, कार्य के प्रति किसी अन्य प्रकार से सिद्ध है। जैसे- घट निर्माण में दण्डरूप, रासभ, कुलालजनक आदि।

इस प्रकार, प्रायः सारे आचार्यों ने कारण के लक्षण में अन्यथासिद्ध (Accidental factor) को मूल रूप से रखा है। **दीपिकाकार** ने तीन प्रकार के अन्यथासिद्ध का उल्लेख किया है-

(क) **जिसके साथ जिसका जिसके प्रति पूर्ववृत्तित्व अवगत होता है,** जैसे- पट के प्रति तन्तुत्व एवं तन्तुरूप की पूर्ववृत्तिता तन्तु की पूर्ववृत्तिता के साथ ही जानी जा सकती है। इस प्रकार, तन्तुरूप और तन्तुत्व तन्तु के साथ ही पट के पूर्ववृत्ति बनते हैं अपने आप में नहीं। अतः ये पट के प्रति अन्यथासिद्ध हैं।

(ख) **दूसरे के प्रति पूर्ववृत्तित्व ज्ञात होने पर जिसका जिसके प्रति पूर्ववृत्तित्व अवगत होता है।** यथा- शब्द के प्रति पूर्ववृत्तिता ज्ञात होने पर ही आकाश की घट के प्रति पूर्ववृत्तिता ज्ञात होती है, अतः घट के प्रति आकाश अन्यथासिद्ध है। ध्यातव्य है कि **नैयायिक** ने अपने द्रव्यशास्त्र में आकाश की सत्ता केवल और केवल शब्द के समवायिकारण के रूप में मानी है। अन्यत्र आकाश की कोई और भूमिका **न्यायवैशेषिक** दर्शन में नहीं है। अतः अन्य सभी कार्यों के प्रति आकाश की पूर्ववृत्तिता तभी जानी जा सकती है जब पहले शब्द के प्रति उसकी पूर्ववृत्तिता जान ली जाए।

(ग) **कारण के साथ समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त सम्बन्ध से रहने वाले पदार्थ।** इसे इस प्रकार समझा जा सकता है- जिस जिस से अन्य स्थलों पर कार्य उत्पन्न हो जाता है उसी को विवादित स्थलों पर भी कारण माना जाएगा, उसके साथ रहने

वाले अन्य पदार्थों को नहीं। उसके साथ रहनेवाले अन्य पदार्थ उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है। जैसे- जहाँ पाक से गन्ध और रूप दोनों उत्पन्न होते हैं, वहाँ गन्ध की उत्पत्ति से पहले गन्धाभाव और रूपाभाव दोनों होते हैं या हो सकते हैं, पुनरपि गन्ध के प्रति रूपप्रागभाव अन्यथासिद्ध है क्योंकि अन्यत्र गन्धोत्पत्ति स्थलों में गन्धाभाव मात्र से गन्ध की उत्पत्ति हो जाती है। उसके लिये रूपप्रागभाव की पूर्ववृत्तिता नियत भी नहीं है। अतः गन्ध के प्रति रूपप्रागभाव अन्यथासिद्ध है।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में पाँच अन्यथासिद्धों का उल्लेख किया गया है[1], यथा-

(क) कारण की जाति- दण्डत्व
(ख) कारण के गुण- दण्डरूप
(ग) कार्य (घट) पूर्ववृत्ति नित्यद्रव्य- आकाशादि
(घ) कारण का कारण- कुलालजनक
(ङ) कार्य (घट) की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान अन्य सहकारी- रासभ आदि।

चिन्तामणिकार ने उक्त पाँच अन्यथासिद्धों का अन्तर्भाव **दीपिकानिर्दिष्ट** तीन अन्यथासिद्धों में ही दर्शाया है। पुनरपि उक्त पाँच प्रकारों का उल्लेख केवल विश्लेषण की दृष्टि से किया गया है।

अस्तु, कारण को समझने में **अन्यथासिद्ध** की प्रयोजकता का खण्डन नहीं किया जा सकता है। इसके बिना वैशेषिकों का कारण अपरिभाषित ही रहेगा। उक्त विवेचन के आधार पर **वाक्यवृत्तिकार** के अनुसार कारण की निम्न आवश्यकताएँ दर्शायी जा सकती हैं-

(क) इसे कार्य के पूर्व अनिवार्य रूप से रहना चाहिए,
(ख) यह कार्य के शीघ्र पूर्ववर्ती क्षण में होना चाहिए,
(ग) इसे कार्य के अधिकरण देश में होना चाहिए,
(घ) इसे कार्याधिकरणवृत्ति अभाव का प्रतियोगी होना चाहिए तथा
(ङ) इसका सम्बन्ध सीधा कार्य से होना चाहिए।

---

1. भा.प. 19-22.

(नियतान्यथासिद्धभिन्नत्वे सति कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नकार्याधिकरणदेशनिरूपिताधेयतावदभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत् कारणम्)

कार्य- **अन्नम्भट्ट** ने कारण के लक्षण में कार्य पद का प्रयोग किया है। इसीलिये प्रसंगानुकूल उन्होंने यहाँ कार्य का लक्षण दिया है।

सामान्यतया आयासपूर्वक किये जाने वाले कर्म को कार्य समझा जाता है किन्तु दर्शन में किसी भी प्रकार की उत्पत्ति को कार्य समझा जाता है। **अन्नम्भट्ट** ने प्रागभाव के प्रतियोगी को कार्य कहा है। **प्रतियोगी** शब्द **न्यायदर्शन** में एक पारिभाषिक पद है किन्तु यहाँ सामान्यतया विपरीत सम्बन्ध को प्रतियोगी कहा जाता है।

यहाँ **नव्यन्याय** के इस महत्त्वपूर्ण शब्द **प्रतियोगी** को समझना आवश्यक है। इस तार्किक प्रणाली में इस शब्द के द्वारा ही कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है। सामान्यतः प्रतियोगी दो प्रकार के होते हैं-

(क) सांसर्गिक तथा

(ख) अभावीय

यहाँ प्रतियोगी से तात्पर्य है विरोधी। जिन दो में विरोध होता है उनमें से एक **प्रतियोगी** तथा दूसरा **अनुयोगी** कहलाता है। उक्त सांसर्गिक का अर्थ है सम्बन्ध के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला। तदनुसार आधेय को **सांसर्गिक प्रतियोगी** कहते हैं। यथा- **भूतले घटः**। यहाँ भूतल तथा घट में संयोग सम्बन्ध है। इसमें संयोग का प्रतियोगी **घट** है तथा अनुयोगी भूतल है। इस प्रकार यहाँ घट **सांसर्गिक प्रतियोगी** है।

अभावीय प्रतियोगी से तात्पर्य है अभाव के द्वारा अभिव्यक्त होने वाले पदार्थ का प्रतियोगी। यथा- **घटाभाव** का प्रतियोगी घट है। कार्य के उक्त लक्षण में **अभावीय प्रतियोगी** ही दृष्ट है। कार्य एवं उसका अभाव यानी प्रतियोगी एक साथ नहीं रहते, अतः कार्य को उसके अभाव (प्रागभाव) के प्रतियोगी के रूप में लक्षित किया गया है।

न्याय-वैशेषिक के सातवें पदार्थ का प्रथम भेद प्रागभाव है। यह किसी वस्तु की उत्पत्ति से पहले का अभाव है। इस अभाव का प्रतियोगी अर्थात् विपरीत होना कार्य है- **प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वम्**। दूसरे शब्दों में, प्रागभाव का अभाव कार्य है। इसकी सत्ता का आरम्भ इसकी उत्पत्ति से होता है। **न्यायवैशेषिक** का सिद्धान्त है कि कार्य सादि और सान्त है। जो पदार्थ

सत् है अर्थात् नित्य है, उसका प्रागभाव या अभाव होता ही नहीं। इसलिये वह कार्य नहीं है। इसी तरह जिसका अस्तित्व न था, न है और न होने वाला है, उसका अत्यन्ताभाव है- यह भी कार्य नहीं हो सकता।

केशव मिश्र ने कारण के आधार पर ही कार्य की भी परिभाषा की है- जो नियतरूप से कारण का पश्चाद्भावी है तथा जिसकी पश्चाद्भाविता अन्यथासिद्ध नहीं है, वह कार्य है- **अन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्**। यहाँ अन्यथासिद्ध से तात्पर्य है विशिष्ट कारण से उत्पन्न न होकर किसी और कारण से उत्पन्न होना। इस दृष्टि से कार्य का अन्यथासिद्ध न होना आवश्यक है।

न्याय-वैशेषिक के अतिरिक्त किसी और दर्शन में कार्य की परिभाषा प्राप्त नहीं होती है। केवल सामान्य मान्यता यह है कि जो वस्तु कारण से उत्पन्न होती है, वह कार्य है। कार्य एवं कारण की इस स्पष्ट व्याख्या के कारण ही दार्शनिक जगत् में नैयायिकों का कार्य-कारणसिद्धान्त इतना व्यापक हुआ। प्रसंगवश इसका विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

कार्यकारणसिद्धान्त- उपरिवर्णित कार्य एवं कारण के लक्षण पर ही **नैयायिकों** का **कार्यकारणसिद्धान्त** (Theory of Causation) आधारित है। भारतीय दर्शन में इस सिद्धान्त पर गहन चिन्तन किया गया है। इनमें **सांख्य, वेदान्त, बौद्ध (माध्यमिक)** तथा **न्याय-वैशेषिक** मुख्य हैं। इनमें इस जटिल समस्या का तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। **माधवाचार्य** ने **सर्वदर्शनसंग्रह** में इनका एक साथ उल्लेख किया है-

इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति।'[1]

इस प्रकार इनके सिद्धान्त हैं-

(क) बौद्ध- शून्यवाद - असत् से सत् की उत्पत्ति।

(ख) वेदान्त- विवर्तवाद - मात्र सत् पदार्थ का विवर्त।

(ग) सांख्य- सत्कार्यवाद (परिणामवाद)- सत् से सत् की उत्पत्ति

(घ) न्याय-वैशेषिक- असत्कार्यवाद (आरम्भवाद)- सत् से असत् की उत्पत्ति।

---

1. स.द.सं., पृ. 320-21.

यहाँ बौद्ध असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं। वेदान्ती कारण को सत् तथा कार्य को असत् मानते हैं। यहाँ कार्यरूप जगत् असत् अर्थात् वास्तविक नहीं है। **सांख्य सत्कार्यवाद** को मानता है जिसे **प्रकृति परिणामवाद** भी कहा जाता है। सत्कार्यवादियों की दृष्टि में कार्य उत्पत्ति के पूर्व सत् होता है। उसकी सत्ता या तो कारणरूप होती है या कारण के अन्दर अवस्थित होती है। वस्तुतः **सांख्य** के **सत्कार्यवाद** तथा **न्यायवैशेषिक** के **असत्कार्यवाद** ने भारतीय दर्शन के **कार्यकारणवाद** में कभी न अन्त होनेवाला एक नूतन संवाद प्रारम्भ किया। इन्हें यहाँ समझना आवश्यक है। **सत्कार्यवाद** की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

(क) यह एक ही मूल कारण को स्वीकार करता है।

(ख) कार्य व कारण का वास्तविक अभेद मानता है।

(ग) इनके अनुसार नित्य कारण परिणामी होकर ही रहता है तथा प्रवृत्त होता है।

(घ) कार्य मात्र का अपने-अपने कारण में तथा सब कार्यों का मूल कारण में तीनों काल में अस्तित्व मानता है।

एतदर्थ **ईश्वरकृष्ण** ने **सांख्यकारिका** में निम्न पाँच युक्तियाँ[2] दी हैं-

(क) यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान न हो तो वह सर्वथा 'असत्' होगा। यथा- बालू से तेल की उत्पत्ति।

(ख) उपादान कारण का कार्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यथा- तिल में तेल।

(ग) कार्य को उपादान कारण में पहले से ही विद्यमान मानना पड़ेगा अन्यथा किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो जाएगी।

(घ) शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अन्यथा- बालू से भी तेल निकाला जा सकता है।

(ङ) कार्य और कारण एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कारण कार्य की अव्यक्तावस्था है और कार्य कारण का व्यक्तरूप।

न्याय के कार्य कारण सिद्धान्त को **असत्कार्यवाद** कहते हैं। यह

---

2. **असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। सां.का. 9**

सिद्धान्त सांख्य के **सत्कार्यवाद** का विरोधात्मक है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहती। यही कारण है कि यहाँ कार्य को **प्रागभावप्रतियोगि** कहा गया है। इस प्रकार **असत्कार्यवाद** उस सिद्धान्त को कहा जाता है जिसके अनुसार कार्य का अस्तित्व कारण में नहीं है। इस सिद्धान्त को **आरम्भवाद** भी कहा जाता है क्योंकि यह कार्य को एक नया आरम्भ मानता है। इस **असत्कार्यवाद** की निम्न विशेषताएँ हैं–

(क) यह परस्पर भिन्न अनन्त मूल कारणों को स्वीकार करता है।

(ख) यह कार्य एवं कारण का आत्यन्तिक भेद मानता है।

(ग) यह नित्य अथ वा अनित्य कारण को कार्योत्पत्ति में अपरिणामी मानता है।

(घ) उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् होता है।

न्याय ने अपने असत्कार्यवाद को प्रमाणित करने के लिये निम्नांकित युक्तियाँ दी हैं–

1. कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता क्योंकि यदि वह उत्पत्ति के पूर्व कारण में स्थित रहता तो निमित्त कारण यथा कुम्भकार आदि की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कार्य स्वयं ही उत्पन्न हो जाता।
2. कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में असत् रहता है। क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान रहने से फिर यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक कार्य की उत्पत्ति हुई।
3. कार्य की सत्ता कारण में नहीं है। क्योंकि तब कारण एवं कार्य में भेद करना सर्वथा दुष्कर हो जाता। जबकि लोक में कारण एवं कार्य में भेद देखा जाता है।
4. कार्य कारण में अन्तर्भूत नहीं है। यदि कार्य कारण में अन्तर्भूत होता तो दोनों के लिये एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता।
5. कार्य कारण से अभिन्न नहीं है। यदि ऐसा होता तो दोनों से एक प्रयोजन की पूर्ति हो जाती। किन्तु ऐसा नहीं होता है। मिट्टी के घड़े में पानी एकत्रित किया जा सकता है न कि कारणरूप मिट्टी में।

इन तर्कों के आधार पर ही **असत्कार्यवाद** का विकास हुआ है। **जैन, बौद्ध** एवं **मीमांसा** भी इसे स्वीकार करते हैं।

कारणं त्रिविधम्– समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य।

कारण तीन प्रकार का है– समवायि, असमवायि तथा निमित्त। (इनमें) जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है, वह समवायिकारण है। यथा– पट का तन्तु तथा अपने रूप का पट। कार्य अथ वा कारण के साथ एक पदार्थ में समवेत होने पर जो कारण है वह असमवायिकारण है। यथा– पट का तन्तु संयोग, पटरूप का तन्तुरूप। उन दोनों से भिन्न निमित्तकारण है। जैसे– पट का तुरी, वेमा आदि।

तन्वी व्याख्या– प्रत्येक उत्पन्न एवं विनष्ट वस्तु एक कार्य है। इस कार्य के कारण होते हैं। न्याय–**वैशेषिक दर्शन** में कारण तीन प्रकार का है। अन्य दर्शनों में इसके दो ही भेद माने गये हैं– उपादान कारण (Material Cause) तथा निमित्त कारण (Efficient Cause)। 'कारणं त्रिविधम्' कथन से ही **सांख्य** तथा **वेदान्त** के कारणद्वयवाद का खण्डन हो जाता है। यहाँ **अन्नम्भट्ट** ने निम्न त्रिविध कारणों का उल्लेख किया है। ये हैं–

(क) समवायिकारण (Inherent Cause)

(ख) असमवायिकारण (Non-Inherent Cause)

(ग) निमित्तकारण (Efficient Cause)

(क) जिसमें समवेत सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न हो वह उस कार्य का **समवायिकारण** होता है। यहाँ लक्षण **यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते** में 'समवेत' शब्द का अर्थ है– समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध, जैसे– तन्तु पट का समवायि कारण है तथा पट तन्तुओं में रहता है। 'तन्तु' समवायि है तथा 'पट' समवेत, क्योंकि तन्तुओं में पट समवाय सम्बन्ध से रहते हुए ही उत्पन्न होता है। सिद्धान्त यह है कि कार्य कारण में समवेत रहता है इसलिये यह लक्षण बना कि जिसमें कार्य समवेत हो वह समवायिकारण है। समवायिकारण से भिन्न कारणों के साथ कार्य का समवाय सम्बन्ध न होकर

संयोग सम्बन्ध होता है। जैसे- तुरी, वेमा आदि। समवायिकारण का स्थान सर्वदा द्रव्य में ही होता है।

इस सन्दर्भ में छात्रों की शंका के समाधानार्थ कुछ प्रायोगिक व प्रारम्भिक विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

शंका- तन्तु के समान तुरी आदि के साथ भी पट का सम्बन्ध है, दोनों पट के कारण भी हैं। तो क्यों तन्तु में ही केवल समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है?

समाधान- सम्बन्ध दो प्रकार का होता है- समवाय एवं संयोग। इनमें दो अयुतसिद्ध पदार्थ का सम्बन्ध समवाय होता है। जब कि जो पदार्थ अयुतसिद्ध नहीं होते उनका संयोग सम्बन्ध होता है। उक्त शंका में तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं, तुरी और पट अयुतसिद्ध नहीं हैं। इसलिये दोनों में संयोग सम्बन्ध है। इस प्रकार तन्तु और पट ही समवायिकारण हैं।

शंका- अयुतसिद्ध क्या है?

समाधान- जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे के आश्रित रहता है, वे दोनों ही परस्पर अयुतसिद्ध हैं। जैसे- अवयव और अवयवी, गुण व गुणी आदि। (इसका विस्तृत विश्लेषण समवाय प्रकरण में द्रष्टव्य है।)

शंका- तन्तु और पट परस्पर अयुतसिद्ध हैं- ऐसा ज्ञात है, किन्तु तुरी और पट परस्पर अयुतसिद्ध क्यों नहीं हैं?

समाधान- तुरी और पट में न तो तुरी पट का आश्रित है न ही पट तुरी का आश्रित। इसलिये दोनों अयुतसिद्ध नहीं हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि **परिणामवादी सांख्य** तन्तु एवं पट को दो भिन्न वस्तु नहीं मानते, बल्कि वे पट को तन्तुओं की ही अवस्था विशेष मानते हैं। इसमें वे तन्तु को ही पटरूप का परिणाम मानते हैं। यही कारण है कि इसे परिणामवादी कहा जाता है। **न्याय-वैशेषिक** के अनुसार एक नयी वस्तु की उत्पत्ति होती है। जिसकी सत्ता इससे पूर्व नहीं थी, इसलिये इस सिद्धान्त को **आरम्भवाद** अथ वा **असत्कार्यवाद** कहा जाता है। अर्थात् नयी वस्तु की उत्पत्ति अथ वा नये कार्य का आरम्भ होता है।

(ख) कार्य के साथ या कारण के साथ एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होता हुआ जो कारण हो वह **असमवायिकारण** होता है। जैसे-

तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है। तन्तु एवं तन्तु संयोग दोनों नियतवृत्ति होने के कारण पट के कारण माने जाते हैं। कारण रूप में रहते हैं क्योंकि पट न तो तन्तु के बिना बन सकता है, न ही तन्तुसंयोग के बिना। तन्तु पट का समवायिकारण है और उसमें रहने वाला धर्म संयोग है, इसलिये तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है। पटकार्यत्वेन तन्तुसंयोग गुण होने के कारण तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है।

इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि **कार्य के समवायिकारण के गुण उस कार्य के असमवायिकारण होते हैं।** ध्यातव्य है कि असमवायिकारण केवल गुण एवं क्रिया में होता है।

मुक्तावलीकार ने असमवायिकारण की परिभाषा में **प्रत्यासत्ति** इस नवीन शब्द का प्रयोग किया है- **तत्र समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीयमसमवायिकारणमित्यर्थः** अर्थात् जो समवायिकारण में प्रत्यासन्न अर्थात् समवाय सम्बन्ध से साथ-साथ रहता हो वह असमवायिकारण है यहाँ प्रत्यासत्ति शब्द का अर्थ है एक अधिकरण में दो वस्तुओं का साथ रहना अंग्रेजी में इसे Close Proximity कहा जाता है। इसके दो भेद हैं-

(क) **कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति** तथा

(ख) **कारणैकोर्थप्रत्यासत्ति**।

वस्तुतः **अन्नम्भट्ट** ने असमवायिकारण के लक्षण में ही इन दोनों भेदों का निर्देश कर दिया है- **कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम्।**

यहाँ प्रथम प्रकार की प्रत्यासत्ति का उदाहरण है- **तन्तुसंयोगः पटस्यासमवाकिारणम्** अर्थात् तन्तुसंयोग जो तन्तुओं में कार्य पट के साथ रहता है तथा जो अन्यथासिद्ध न होते हुए एवं पट से नियतरूप से पूर्व विद्यमान होते हुए पट का कारण भी है। **कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति** से तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है।

द्वितीय प्रकार की प्रत्यासत्ति को इस प्रकार समझा जा सकता है- जो धर्म कार्य के साथ नहीं अपि तु कारण के साथ एक अर्थ में प्रत्यासन्न हो, वह **कारणैकार्थप्रत्यासन्न** कहलाता है। यथा- तन्तुरूप पटरूप के साथ नहीं अपि तु पटरूप के कारण पट के साथ एकार्थ तन्तु में प्रत्यासन्न है।

इसी आधार पर **तर्कसंग्रहकार** ने **कार्येण कारणेन वा सह** का प्रयोग

किया है जो उक्त दोनों प्रत्यासत्तियों का सरलीकरण है। इसी को इस प्रकार कहा जा सकता है कि असमवायिकारण दो प्रकार के होते हैं–

(अ) कार्य के साथ अधिकरण में समवेत रहने वाला तथा

(आ) कार्य के समवायिकारण के अधिकरण में समवेत होकर रहने वाला।

उक्त दोनों कारणों को अग्रांकित आरेख से समझा जा सकता है–

तन्तु (तन्तु और पट का समवायिकारण)

पटरूप (कार्य)
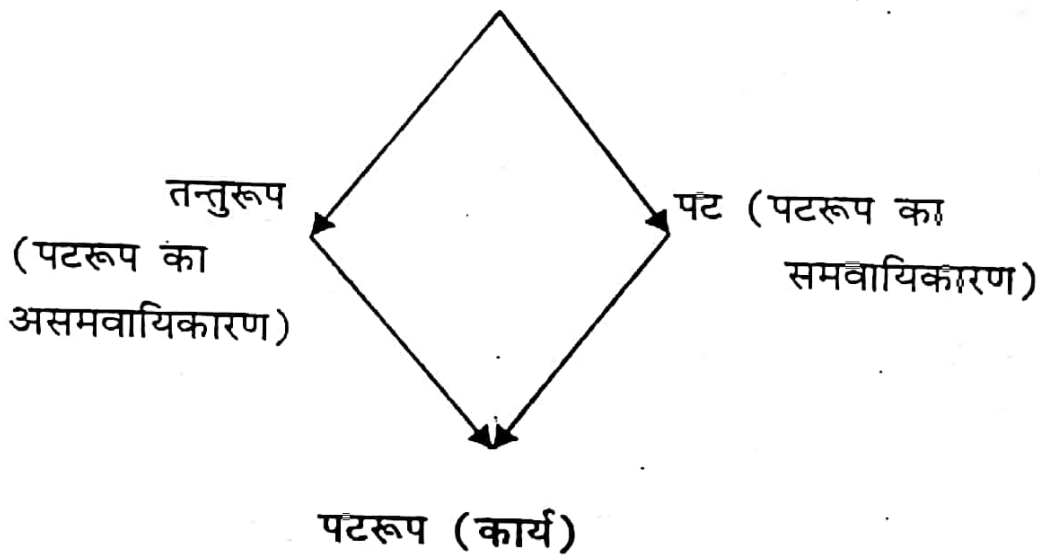
यहाँ तन्तु, पट एवं तन्तुरूप का समवायिकारण है। 'पट', 'पटरूप' का समवायिकारण है और उसी 'पटरूप' का तन्तुरूप असमवायिकारण है।

उक्त विवेचन के आधार पर समवायिकारण तथा असमवायिकारण में अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है–

(क) समवायिकारण कार्य को अपने ही में समवेत रखता है। असमवायिकारण कार्य को अपने में समवेत नहीं रख सकता। वह स्वयं समवायिकारण का समवेत अथ वा प्रत्यासन्न रहता है।

(ख) समवायिकारण द्रव्य ही हो सकता है। गुण और कर्म समवायिकारण नहीं हो सकते। क्योंकि गुण कर्म किसी कार्य के आधार (Substratum) नहीं हो सकते। इसके विपरीत असमवायिकारण सदैव गुण या कर्म ही हो सकता है। द्रव्य कभी असमवायिकारण नहीं हो सकता।

न्याय-वैशेषिक के द्वारा स्वीकृत असमवायिकारण अन्य दर्शनों की दृष्टि में निमित्त कारण का ही अंग है।

(ग) दोनों कारणों से भिन्न कारण निमित्तकारण कहलाता है- **तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्।** **अन्नम्भट्ट** के द्वारा किये गये **तदुभयभिन्नं** के प्रयोग में **तर्कभाषाकार** का अनुकरण देखा जा सकता है- **यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणम् अथ च कारणम्** अर्थात् जो न तो समवायिकारण है न ही असमवायिकारण है किन्तु जो कारण अवश्य है वही निमित्तकारण है। जैसे- पट के निमित्त कारण हैं तुरी, वेमा आदि। इसे इस रूप में समझा जा सकता है कि वेमा अपने रूप आदि के प्रति समवायिकारण है किन्तु यह पट के प्रति समवायिकारण नहीं है, क्योंकि वह पट में समवेत होकर पट रूपी कार्य नहीं करता। इसी प्रकार वह पट का असमवायिकारण भी नहीं है क्योंकि वह पट के समवायिकारण तन्तुओं में प्रत्यासन्न नहीं है। पुनरपि यह पट का कारण है ही क्योंकि वह नियत रूप से पट का पूर्वभावी है तथा अन्यथासिद्ध नहीं है। इसलिये वेमा पट का निमित्तकारण है।

इस निमित्तकारण के दो वर्ग किये जाते है- साधारण एवं असाधारण। साधारण निमित्त वे होते हैं जिनकी अपेक्षा प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में होती है। ये नौ हैं- बुद्धि, इच्छा, कृति (Effort), कार्य का प्रागभाव, जीवात्मा का अदृष्ट, धर्म, अधर्म, काल, दिक् तथा प्रतिबन्धक का अभाव। असाधारण निमित्त कारण वे होते हैं जो किसी एक कार्य के उत्पादन में अवश्य हों जैसे- घट के लिये कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि। यहाँ कुम्भकार प्रेरक कर्ता है।

कार्यकारण के इस विशिष्ट संयोजन पर प्रकाश डालते हुए **डॉ० महेश भारतीय** ने कहा है कि **न्यायवैशेषिक** का यह वर्गीकरण उसके विशिष्ट सिद्धान्तों के अनुकूल है। **न्यायवैशेषिक** धर्म एवं धर्मी में भेद मानता है। अतः पट एवं पटरूप इसकी दृष्टि से भिन्न हैं और इनके कारण भी भिन्न हैं। धर्म-धर्मी भेद स्वीकार करने के कारण ही यहाँ **समवायिकारण** और **असमवायिकारण** के रूप में वर्गीकरण सम्भव हुआ। **समवायिकारण** सदैव द्रव्य रूप है जबकि **असमवायिकारण** गुणरूप। **सांख्य, योग** तथा **वेदान्त** धर्म और धर्मी में अभेद मानते हैं अतः यहाँ समवायिकारण तथा **असमवायिकारण** दोनों का स्वरूप एक उपादान कारण में संगृहीत हो गया।

तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम्।

इन तीनों कारणों में जो असाधारण कारण है, वही करण है।

तन्वी व्याख्या– त्रिविध कारण की व्याख्या के अनन्तर अन्नम्भट्ट पुनः उस करण को निष्कर्षतया स्थापित कर रहे हैं। उनका कहना है कि उक्त त्रिविध कारणों में जो असाधारण कारण है वही वस्तुतः करण है।

यहाँ यह समस्या रह ही जाती है कि क्या समवायिकारण प्रभृति त्रिविध कारणों में एक ही करण भी हो सकता है। तो उसका समाधान यह समझा जाना चाहिए कि यदि किसी कार्योत्पत्ति में सर्वाधिक अभीष्ट कारण समवायिकारण है तो वही करण है।

अस्तु, यहाँ छात्रोपयोगार्थ कारण की सामान्य विशेषताएँ दी जा रही हैं–

(क) जिसके बिना किसी कार्य की उत्पत्ति न हो, वह कारण है।

(ख) कारण तीन हैं– समवायि, असमवायि तथा निमित्त।

(ग) केवल द्रव्य ही समवायिकारण होता है।

(घ) गुण एवं कर्म असमवायिकारण होते हैं।

(ङ) ईश्वर एक विशेष निमित्तकारण हैं।

(च) अभाव का एकमात्र कारण निमित्त है।

(छ) भाव पदार्थों के ही केवल त्रिविध कारण होते हैं।

(ज) निमित्तकारण कार्योत्पत्ति के बाद कार्य से पृथक् हो जाता है।

प्रत्यक्षपरिच्छेदः

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद् द्विविधम्- निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यथा- किञ्चिदिदमिति। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा- डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयमिति।

उनमें प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय तथा पदार्थ के सन्निकर्ष अर्थात् संयोग से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। वह दो प्रकार का है- निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। उनमें निष्प्रकारक ज्ञान निर्विकल्पक है। यथा- 'यह कुछ है'। सप्रकारक ज्ञान सविकल्पक है। जैसे- यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है।

तन्वी व्याख्या- प्रामाणिक ज्ञान में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रत्यक्ष का है। इस प्रमाण को सारे दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष को ज्ञान के स्रोतों में सर्वोच्च कहा गया है- **प्रमाणज्येष्ठम्**, क्योंकि प्रमाण के लगभग अन्य सारे प्रकार प्रत्यक्ष पर ही अनिवार्यतः आश्रित हैं। प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ है वह जो ज्ञानेन्द्रिय के समक्ष अथ वा ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा प्रस्तुत हो। इसकी व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार की जाती है- **प्रतिगतम् अक्षं प्रत्यक्षम्।**

अन्नम्भट्ट ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया है- **प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्** अर्थात् जो प्रत्यक्षज्ञान का असाधारण कारण है। दूसरे शब्दों में, जिसके द्वारा किसी वस्तु का प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् अनुभव हो, वही प्रत्यक्ष है। इस लक्षण का विग्रह इस प्रकार किया जा सकता है- **प्रत्यक्षं च तद् ज्ञानमिति प्रत्यक्षज्ञानम् तस्य करणमिति।**

प्रत्यक्ष शब्द के यहाँ तीन अर्थ किये जा सकते हैं-

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण,

(ख) प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त होने वाला ज्ञान तथा

(ग) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय।

यहाँ प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग प्रमाण के अर्थ में हुआ है।

अन्नम्भट्ट ने प्रत्यक्ष का एक अन्य लक्षण यह दिया है कि जो इन्द्रिय तथा पदार्थ के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। ध्यातव्य है कि

यहाँ जन्यप्रत्यक्ष कहा गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की समग्र प्रक्रिया इस प्रकार होती है-

आत्मन् → मनस् → इन्द्रियम् → अर्थः

इस प्रक्रिया में आत्मा मन से संयुक्त है, मन इन्द्रिय से तथा इन्द्रिय अर्थ से। इस प्रकार यहाँ तीन सन्निकर्ष हैं, जिनमें प्रथम दो सारे ज्ञान के लिये सामान्य हैं। यहाँ चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियों का रूप, शब्दादिगुणों का अपने-अपने विषयों के साथ अत्यन्त सामीप्य से ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे **इन्द्रियार्थसन्निकर्ष** कहा जाता है जिसका तात्पर्य है, इन्द्रियग्राह्य विषय के साथ इन्द्रियग्राहकविशेष का सन्निकर्षसम्बन्धविशेष। इस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से यथार्थज्ञान (अव्यभिचारी ज्ञान) उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त इन्द्रिय एवं पदार्थ के संयोग को आधार बनाकर **विश्वनाथ** ने प्रत्यक्ष के छः भेद गिनाये- **घ्राणजं रासनं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम्।**

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- **निर्विकल्पक** एवं **सविकल्पक**। यहाँ निर्विकल्पक वह ज्ञान है जो मात्र वस्तु स्वरूप का ग्रहण करता है। हमारी आँख तथा घट के संयोग से जो तात्कालिक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह निर्विकल्पक है। यहाँ पदार्थ का ज्ञान तो होता है किन्तु उसके स्वरूप आदि का भान नहीं होता है इसे **किञ्चिदिदम्** के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। अर्थात् यह वह अस्पष्ट या प्रारम्भिक ज्ञान होता है जिसे हम नाम, जाति, गुण आदि से परिभाषित नहीं कर पाते।

वस्तुतः इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से प्रथम क्षण में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह शिशु या मूक पुरुषों के ज्ञान के समान होता है- **बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्।** उल्लेखनीय है कि निर्विकल्पक ज्ञान सन्देहास्पद या विपरीत नहीं होता। यही कारण है कि **दीपिका** में इसे **विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि नामजात्यादियोजनारहितम्** कहा गया है। चूँकि इस ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है अतः इसकी सत्यता अथ वा असत्यता का प्रश्न नहीं उठता।

विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला ज्ञान **सविकल्पक** है। यह ज्ञान नाम, जाति आदि विशेषणों से विशिष्ट हुआ करता है। जैसे- यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है। यह श्यामवर्ण वाला है आदि। सविकल्पक प्रत्यक्ष न केवल वस्तु का निश्चित एवं स्पष्ट ज्ञान होता है, प्रत्युत उसके गुणों का भी

स्पष्ट ज्ञान कराता है। दीपिका में सविकल्प ज्ञान की एक अन्य परिभाषा इस प्रकार की गयी है- **नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्।**

एक अर्थ में ये दो क्रमिक चरणों को दर्शाते हैं, प्रथम चरण को दूसरे की उत्पत्ति की व्याख्या करने के लिये तार्किक अनिवार्यता के रूप में स्वीकार किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि पदार्थ के संसर्ग में ज्ञानेन्द्रिय के आते ही हमें तुरन्त उस वस्तु का उसके समस्त धर्मों सहित ज्ञान नहीं होता; उस समय हमें उस पदार्थ का आभास मात्र होता है, जो किसी पदार्थ द्वारा या अपने धर्मों द्वारा लक्षित नहीं होता। ये धर्म उस समय अलग-अलग और असम्बद्ध होते हैं। तत्पश्चात् हमें वस्तु का उसके लक्षणों सहित ज्ञान होता है। वस्तु और उसके गुण एक-दूसरे से सम्बद्ध प्रकट होते हैं; इसे **सविकल्पक प्रत्यक्ष** कहते हैं।

सविकल्पक एवं निर्विकल्पक भेद सर्वप्रथम दिङ्नाग ने किया था। बाद में, न्याय-वैशेषिक ने इसे अपना लिया।

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः- संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः।

घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्।

रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः, कर्णविवरवृत्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः, घटाभाववद्भूतलमित्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य

विशेषणत्वात्।

एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तत्करणमिन्द्रियम्, तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रिय एवं पदार्थ का सन्निकर्ष (संयोग) छः प्रकार का होता है- (क) संयोग, (ख) संयुक्तसमवाय (ग) संयुक्तसमवेतसमवाय (घ) समवाय (ङ) समवेतसमवाय तथा (च) विशेषण-विशेष्यभाव।

चक्षु के द्वारा घट के प्रत्यक्ष ज्ञान में संयोग सन्निकर्ष होता है।

घट के रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है।

रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से तथा रूप में रूपत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है।

श्रोत्र (कर्ण) के द्वारा शब्द साक्षात्कार में समवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि कर्णविवर में विद्यमान आकाश ही श्रोत्र है, शब्द आकाश का गुण है तथा गुण एवं गुणी में समवाय सम्बन्ध होता है।

शब्दजाति के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है।

अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष होता है क्योंकि 'भूतल घटाभाव वाला है' इस प्रकार के ज्ञान में चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है।

इस प्रकार छः सन्निकर्षों से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। उसका करण इन्द्रिय है। अतः इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

तन्वी व्याख्या- नैयायिकों के अनुसार जब इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होता है तो न केवल द्रव्य, अपि तु उसके गुण और जाति के साथ भी सन्निकर्ष होता है। दूसरे शब्दों में, हमारी इन्द्रियाँ उस वस्तु के पूर्ण स्वरूप को ग्रहण करती है यही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष है। इस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से ज्ञेय पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

न्याय परम्परा के अनुसार अन्नम्भट्ट ने भी छः प्रकार के सन्निकर्ष का

परिगणन किया है- संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषणविशेष्यभाव।

1. **संयोग-** दो पदार्थों का वह सम्बन्ध जो विच्छिन्न हो सकता है, संयोग कहलाता है। किसी द्रव्य के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष संयोग है। उदाहरणार्थ- चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष। यहाँ घट द्रव्य तथा चक्षु इन्द्रिय हैं, और इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग है। अयुतसिद्ध नहीं होने के कारण चक्षु और घट का परस्पर संयोग सम्बन्ध है। यथा-

चक्षुः ——— संयोगः ——— घटः

2. **संयुक्तसमवाय-** इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य में स्थित गुण, क्रिया या जाति का जब प्रत्यक्ष होता है तो इनसे इन्द्रिय का सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय होता है। जैसे- घट में स्थित रूप के प्रत्यक्ष में चक्षु का घट के साथ संयोग होता है। उस घट में समवाय सम्बन्ध से रूप विद्यमान रहता है क्योंकि घट गुणी है तथा रूप गुण है। गुण तथा गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है- यह न्याय है। अतः चक्षु तथा घटरूप का सन्निकर्ष समवाय कहलाता है।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-
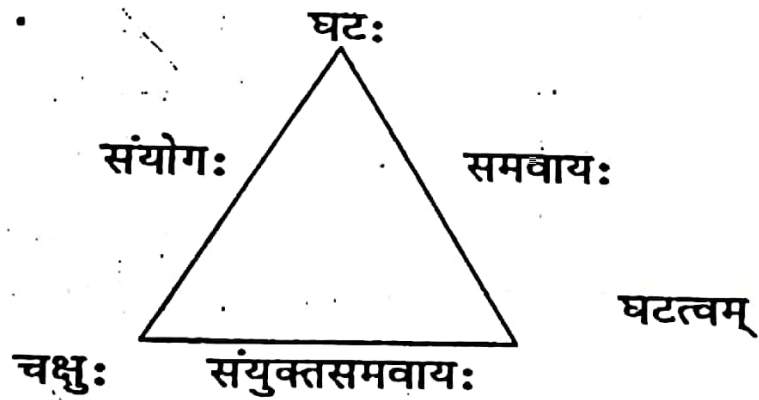
3. **संयुक्तसमवेतसमवाय-** जब घट आदि में रहने वाले रूप आदि गुणों में रूपत्वादि जाति का ग्रहण होता है तो चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत होता है तथा उसमें रूपत्व जाति का समवाय होता है। अतः सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय कहलाता है।

इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि किसी द्रव्य में उसका गुण या क्रिया समवाय से रहती है तथा गुण या क्रिया में उसकी जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। जब दो समवाय हो जाते हैं तो उसे समवेतसमवाय कहा जाता है। उदाहरणार्थ- घटरूपत्व के साक्षात्कार में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है, क्योंकि

(अ) चक्षुरिन्द्रिय द्रव्य का घट द्रव्य के साथ संयोग सम्बन्ध हुआ

(आ) उस घट में रूप (रंग) समवाय सम्बन्ध से है,

(इ) रूप में रूपत्व भी समवाय सम्बन्ध से है।

इस प्रकार चक्षु से संयुक्त घट में रूपत्व का समवेतसमवाय सम्बन्ध होने से वहाँ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है। यथा-
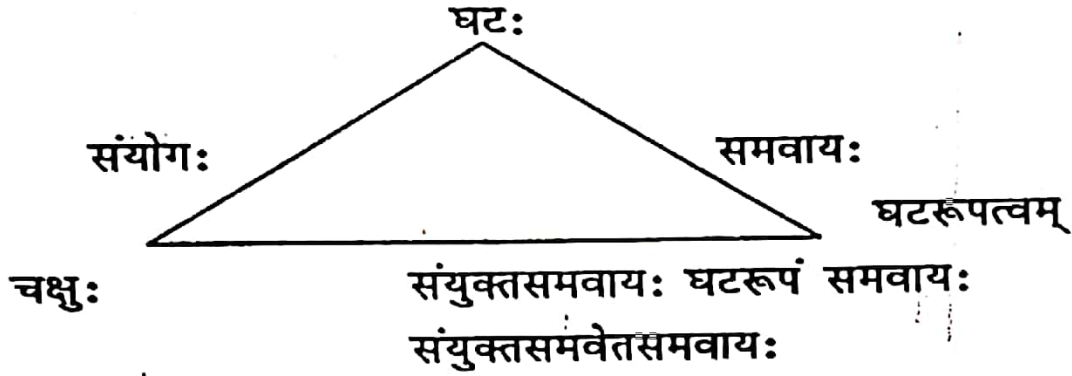
4. **समवाय-** श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द ग्रहण करने के क्षण, श्रोत्रेन्द्रिय के साथ शब्द का समवाय सन्निकर्ष होता है। **न्याय-वैशेषिक** मान्यता के अनुसार कर्णविवर से अवच्छिन्न आकाश श्रोत्र है तथा श्रोत्रेन्द्रिय आकाशात्मक है। शब्द आकाश का गुण है। गुण तथा गुणी के मध्य समवाय सम्बन्ध होता है। अतः शब्द तथा श्रोत्र के साथ सन्निकर्ष भी समवाय ही होता है।

श्रोत्रम् ——— समवायः ——— शब्दः

5. **समवेतसमवाय-** श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द में शब्दत्व जाति का ग्रहण करने में, श्रोत्रेन्द्रिय में समवेत शब्द में शब्दत्व जाति के समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण सन्निकर्ष 'समवेतसमवाय' होता है।
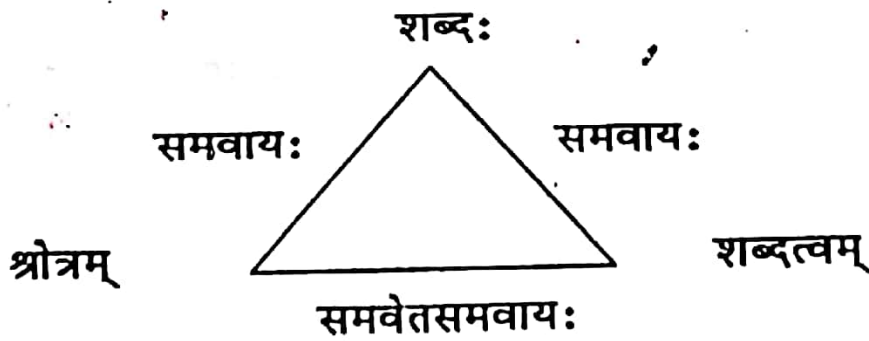
6. **विशेषणविशेष्यभाव-** यह सन्निकर्ष अभाव तथा समवाय के प्रत्यक्ष के लिये है। चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा जब किसी वस्तु के अभाव का साक्षात्कार किया जाता है तो उनमें विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध होता है।

यथा- घटाभाववद्भूतलम् - यह भूतल घट का अभाव वाला है। यहाँ चक्षुरिन्द्रिय से भूतल संयोग होता है तथा उस भूतल में घट का अभाव विशेषण है। इस प्रकार यहाँ चक्षुःसंयुक्त भूतल विशेष्य तथा भूतल में घटाभाव विशेषण है। अतः यहाँ विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है। यहाँ यह भी ग्राह्य है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध होता है वह **विशेषणता** कहलाता है। इसे निम्न आरेख से समझा जा सकता है-

ऐसा प्रतीत होता है कि निर्विकल्पक से सविकल्पक तक पहुँचने के विभिन्न चरणों को ही नैयायिकों ने इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के द्वारा समझाया है। द्रव्य, गुण, जात्यादि में भेद सिद्ध करने के लिए ही निर्विकल्पक की परिकल्पना की गयी। विशेषणविशेष्यसम्बन्ध को ग्रहण करने वाला ज्ञान सविकल्पक है। ध्यातव्य है कि विशेषणविशेष्यभाव अन्तिम सन्निकर्ष है।
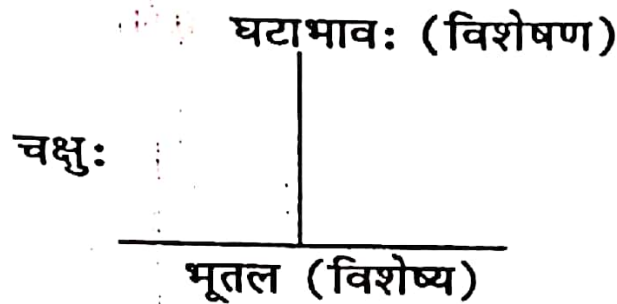
उक्त षड्विध सन्निकर्ष के विश्लेषण के उपरान्त यह निष्कर्ष दिया गया है कि ये सन्निकर्ष इन्द्रिय एवं उनके विषय के मध्य बनते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान उक्त सन्निकर्षों की ही परिणति है। अतः प्रत्यक्ष का करण इन्द्रिय है। इस प्रकार इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसा सिद्ध होता है। **तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणम्**- से यह स्पष्ट होता है कि अन्नम्भट्ट करणविषयक प्राचीन मत को मानते हैं। प्राचीन मत के अनुसार **व्यापारवदसाधारणकारणं करणम्** है जब कि आधुनिक मत के अनुसार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण हो सकता है।

।।इति प्रत्यक्षपरिच्छेदः।।

अनुमानपरिच्छेदः

अनुमितिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा- वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं 'पर्वतो वह्निमानि'ति ज्ञानमनुमितिः। 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरि'ति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।' व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

अनुमिति का करण अनुमान है। परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है। व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं। यथा- 'वह्निव्याप्य यह पर्वत धूमवान् है'- यह ज्ञान परामर्श है। उसे उत्पन्न 'पर्वत वह्निमान् है'- यह ज्ञान अनुमिति है। जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है- यह साहचर्यनियम व्याप्ति है। व्याप्य का पर्वतादि में रहना पक्षधर्मता है।

तन्वी व्याख्या- भारतीय प्रमाणशास्त्र में विवेचन की दृष्टि से अनुमान का सर्वाधिक महत्त्व है। यह न्यायशास्त्र का दूसरा प्रमाण है। यदि यह कहा जाये कि न्यायशास्त्र का आधार ही अनुमान है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यथार्थ ज्ञान के स्रोत के रूप में अनुमान प्रमाण की महत्ता चार्वाक के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदायों ने स्वीकार की है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनुमान, अनु और मान इन दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है- पश्चात् ज्ञान। यह इस अर्थ में पश्चात् ज्ञान है कि इसके पहले किसी विशिष्ट रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान हो चुका होता है।

अन्नम्भट्ट ने अनुमान को 'अनुमिति का करण' कहा है। अनुमिति एक यथार्थ ज्ञान है जो प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु किन्हीं विशिष्ट कारणों से प्रतीत हो जाता है। इस ज्ञान को कराने वाला जो प्रमाण है वह अनुमान है। यहाँ अनुमान ही अनुमिति का असाधारण कारण है इसलिये यह अनुमिति का करण है। न्याय में इस अनुमिति को समझने के लिये कई पारिभाषिक शब्द प्रयोग में लाये जाते हैं। यथा- **साध्य, पक्ष, हेतु** आदि। इस क्रम में इन शब्दों को यहाँ समझ लेना आवश्यक है।

साध्य- प्रत्यक्ष ज्ञान न होने की स्थिति में जब किसी सन्दिग्ध वस्तु को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया जाता है तो वह **साध्य** कहलाता है। जैसे- धुएँ को देखकर आग का अनुमान करना, यहाँ 'आग' साध्य है क्योंकि आग को

ही सिद्ध किया जाना है।

पक्ष– सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः अर्थात् जिस आधार पर सन्देह किया जाये, वह पक्ष है। जैसे– **पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमत्वात्** यहाँ पर्वत **पक्ष** है क्योंकि उसी पर अग्नि का सन्देह है।

हेतु– पक्ष में साध्य का सन्देह जिस कारण से होता है, वह हेतु कहलाता है। जैसे– **पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमत्वात्** इसमें धूम हेतु है क्योंकि धूम के कारण ही अग्नि का सन्देह उत्पन्न होता है।

इन्हीं तीनों के आधार पर अनुमान किया जाता है। यह अनुमान एक प्रक्रिया है, जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है।

जो व्यक्ति धुएँ से आग का अनुमान करता है वह यह जान रहा होता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है। पर्वत से उठते हुए धुएँ को देखकर वह निश्चय करता है कि पर्वत पर अग्नि विद्यमान है। दूसरे शब्दों में, हम

1, हेतु का प्रत्यक्ष करते हैं,
2, हेतु एवं साध्य के मध्य स्थित निश्चित नियम का स्मरण करते हैं,
3, पुनः यह निश्चित करते हैं कि निश्चित रूप से सम्बन्धित हेतु पक्ष में विद्यमान है तथा
4, अन्त में यह अनुमानात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं कि साध्य पक्ष में विद्यमान है।

परामर्श– अन्नम्भट्ट ने अनुमिति को परामर्श से उत्पन्न ज्ञान कहा है। न्याय में प्रायः परामर्श को ही अनुमिति का करण या अनुमान कहा गया है। इस परामर्श का करण द्विविध ज्ञान है–

1. पक्षधर्मता अर्थात् पर्वत आदि पक्ष में धूम आदि हेतु के होने का ज्ञान और

2. व्याप्ति ज्ञान, यथा– जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह ज्ञान।

इस प्रकार परामर्श का लक्षण **व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्** किया जाता है।

तर्कभाषा में, तृतीय ज्ञान को परामर्श कहा गया है– **तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः।** यथा–

1. व्याप्ति को ग्रहण करते समय जो हमें रसोई आदि में धूम ज्ञान होता है, वह प्रथम ज्ञान है।
2. व्याप्तिग्रहण के अनन्तर पर्वत आदि पक्ष में जो हम धूम को देखते हैं, यह उसका द्वितीय ज्ञान है।
3. व्याप्ति को स्मरण करने के बाद जो **वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः** इस प्रकार का ज्ञान होता है यह उसका तृतीय ज्ञान है।

इस तृतीय ज्ञान के अनन्तर ही **तस्मात् पर्वतो वह्निमान्** यह अनुमिति होती है। यह तृतीय ज्ञान ही वह्निज्ञान के प्रति कारण है।। इस प्रकार परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है तथा इसका करण अनुमान है।

व्याप्ति- न्याय की अनुमान प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग व्याप्ति है। भारतीय दर्शन परम्परा में इसके विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं- व्याप्ति, अविनाभाव, साहचर्यनियम, समय, अनौपाधिक सम्बन्ध, सम्बन्ध आदि। व्याप्ति का अर्थ है हेतु एवं साध्य का व्यापक सम्बन्ध। जैसे- जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है- यह एक व्याप्ति वाक्य है तथा धुएँ (हेतु) एवं आग (साध्य) के नियत साहचर्य सम्बन्ध का कथन करता है। इस प्रकार के साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। साहचर्य का अर्थ है- साथ-साथ रहना। धूम और अग्नि साथ-साथ रहते हैं इसलिये ये साहचर्य नियम से बँधे होते हैं। इस साहचर्य नियम के लिये यह आवश्यक नहीं है कि दोनों साथ ही रहे प्रत्युत उनमें से एक व्यापक हो तथा दूसरा व्याप्य। धूम एवं अग्नि में धूम व्याप्य है तथा अग्नि व्यापक।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है- धूम अग्नि के बिना नहीं पाया जाता है। किन्तु अग्नि धूम के बिना भी पायी जाती है। इसलिये एकनिष्ठता अथ वा ऐकान्तिकता अग्नि में न होकर धूम में है। दूसरे शब्दों में, अग्नि धूम में अन्तर्लीन नहीं होता बल्कि अग्नि में धूम अन्तर्लीन होता है। इसे निम्न वृत्त-आरेख से समझा जा सकता है-

यहाँ समस्त धूम अग्नि में अन्तर्निहित है किन्तु समस्त अग्नि धूम के अन्तर्गत नहीं है। अर्थात् धूम में अग्नि की व्याप्ति है अग्नि में धूम की नहीं। जिसकी व्याप्ति रहती है वह व्यापक कहलाता है तथा जिसमें व्याप्ति रहती है वह व्याप्य कहलाता है। न्याय की भाषा में, **अधिकदेशवृत्तित्वं व्यापकत्वम्** अर्थात् अपेक्षया अधिक देश (स्थलों) में रहने वाला व्यापक होता है जबकि **अल्पदेशवृत्तित्वं व्याप्यत्वम्** अर्थात् जो अपेक्षाकृत कम देश में रहे वह व्याप्य कहलाता है।
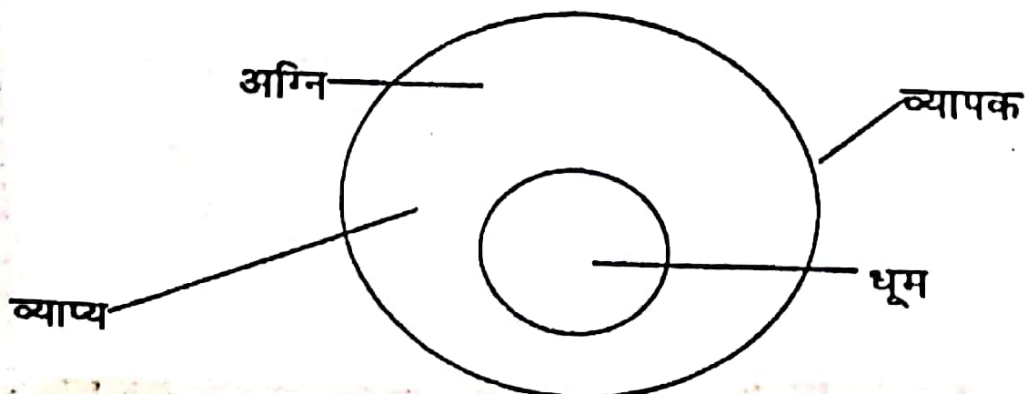
यहाँ अग्नि व्यापक है तथा धूम व्याप्य। अग्नि धूम का व्यापक है; क्योंकि यह व्याप्ति क्रिया का कर्ता है। धूम अग्नि का व्याप्य है; क्योंकि यह व्याप्ति क्रिया का कर्म है। व्याप्य कभी व्यापक के बाहर नहीं रह सकता, किन्तु व्यापक व्याप्य के बाहर भी रह सकता है। जैसे- उपाधिरहित लौह में निर्धूम अग्नि।

नैयायिक के अनुसार, व्याप्ति को स्वाभाविक अर्थात् उपाधिशून्य होना चाहिए। यह व्याप्ति कारणान्तर से प्रेरित नहीं होनी चाहिए। **यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र धूमः** यह अवधारणा स्वाभाविक नहीं है। जो स्वाभाविकतया अविद्यमान व्यापक को उत्पन्न करने वाला होता है, उसे व्याप्ति कहते हैं- **स्वाभाविकसम्बन्धो व्याप्तिः**। यह हेतु एवं साध्य का अनौपचारिक साहचर्य सम्बन्ध है। अतः इस आधार पर व्याप्ति का एक अन्य लक्षण बनाया जा सकता है- **निरुपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः**।

व्याप्ति के दो भेद हैं- अन्वय तथा व्यतिरेक। यद्यपि **तर्कसंग्रह** में इसका उल्लेख लिङ्ग परिचर्चा में किया गया है तथापि इसे यहाँ समझना आवश्यक है। जहाँ साध्य हेतु के साथ नियत रूप में सहचर हो वहाँ **अन्वयव्याप्ति** होती है। यथा- **यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः**। अन्वय व्याप्ति में हेतु व्याप्य होता है तथा साध्य व्यापक। किन्तु जिसके अभाव में जो नहीं रहता है अथ वा जिसका अभाव हो वह **व्यतिरेक व्याप्ति** कहलाती है। जैसे- **यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमो नास्ति।'** यहाँ अग्नि के अभाव से धूम का भी अभाव निश्चित होता है। व्यतिरेक व्याप्ति में साध्याभाव व्याप्य कहलाता है तथा हेत्वभाव व्यापक। एतदर्थ निम्न आरेख द्रष्टव्य है-

पक्षधर्मता- हेतु का पक्ष में विद्यमान रहना, पक्षधर्मता है- **हेतोः पक्षवृत्तित्वम्।** जैसे- पर्वतो वह्निमान् धूमत्वात्' इस अनुमिति वाक्य में पर्वत पक्ष में साध्य अग्नि को अनुमान से सिद्ध करना है। इसके लिये धूम को पर्वत पर ही होना चाहिए। यही पक्षधर्मता है क्योंकि धूम को अन्यत्र देखने से पर्वत की वह्निमत्ता सिद्ध नहीं होती। पक्षधर्मता का लक्षण है- **पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविषयता** अर्थात् पक्षता का जो अवच्छेदक है उससे अवच्छिन्न विषय पक्षधर्मता है। जैसे- अवच्छेदक पर्वतत्व से अवच्छिन्न धूम पक्षधर्मता है।
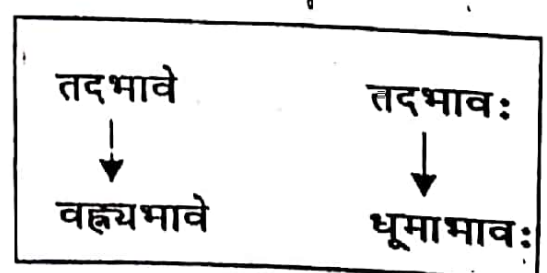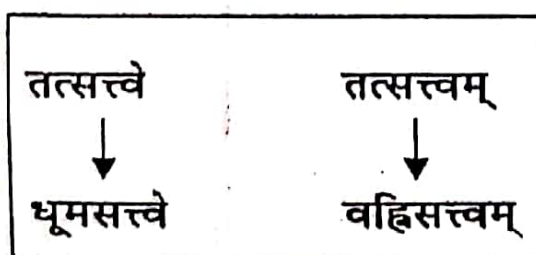
इस प्रकार पक्षधर्मताज्ञान और व्याप्तिज्ञान, इन दोनों के सम्मिलित होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे परामर्श कहते हैं।

अनुमानं द्विविधम्- स्वार्थं परार्थञ्च।

तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः तथाहि- स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ संदिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति- 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्शं इत्युच्यते। तस्मात्पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम्।

अनुमान के दो भेद हैं- स्वार्थ तथा परार्थ। इनमें स्वार्थानुमान अपने अनुमिति ज्ञान का हेतु है। जैसे- (कोई) स्वयं ही बार-बार देखकर 'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस प्रकार महानस (रसोईघर) आदि में व्याप्ति को ग्रहण करके पर्वत के समीप जाकर उसमें अग्नि का सन्देह होने पर पर्वत में धूम को देखता हुआ 'जहाँ-जहाँ धुआँ वहाँ-वहाँ अग्नि' इस व्याप्ति का स्मरण करता है। तत्पश्चात् 'यह पर्वत अग्नि से व्याप्त धुएँ वाला है' यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यही लिङ्गपरामर्श कहलाता है। इससे पर्वत वह्निमान् है, यह अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। यह स्वार्थानुमान है।

तन्वी व्याख्या- अनुमान के दो भेद हैं- **स्वार्थ** एवं **परार्थ**। ऐसा विश्वास है कि इन प्रकारों का सर्वप्रथम उल्लेख **प्रशस्तपाद** ने किया था-

पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्। किन्तु कीथ प्रभृति विद्वानों ने यह कहा है कि सर्वप्रथम **बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग** ने अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ दो भेद किये थे।

यहाँ उक्त दो प्रकार के अनुमान में जो अनुमान अपने ज्ञान के लिये किया जाये वह **स्वार्थानुमान** है- **स्वस्य अर्थः प्रयोजनं यस्मात् तत् स्वार्थम्। परार्थानुमान** दूसरे के लिये दिया गया ज्ञान है। स्वार्थानुमान में ही परार्थानुमान निहित है। स्वयं अपने ज्ञान का हेतु स्वार्थानुमान है- **स्वार्थं स्वप्रतिपत्तिहेतुः स्वानुमितिहेतुर्वा।**

इस स्वार्थानुमान को वाक्यों की किसी क्रमबद्ध प्रणाली के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जाता। अपनी संशय निवृत्ति के लिये यह ज्ञान की एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मात्र है। यथा- कोई व्यक्ति महानस (रसोईघर) आदि में स्वयं ही धूम एवं अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण कर पर्वत के समीप गया हुआ तथा पर्वतगत अग्नि के विषय में सन्देह करता हुआ पर्वत पर विद्यमान धूम के दर्शन से **जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है**- इस व्याप्ति को स्मरण करता है। एक सामान्य नियम है कि **एकसम्बन्धिज्ञानमपर-सम्बन्धिस्मारकम्** अर्थात एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी का स्मरण कराता है। इस प्रकार स्मृतिरूप व्यप्तिज्ञान के बाद **वह्निव्याप्यधूमवान्** यह पर्वत है- ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। यह अनुमान की प्रथम कोटि है।

ज्ञान की यह समस्त प्रक्रिया लिङ्ग परामर्श कहलाती है। इसमें क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय लिङ्ग परामर्श होता है। इसी से अनुमिति ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार वह व्यक्ति स्वयमेव पर्वत पर स्थित अग्नि को जान लेता है। यही **स्वार्थानुमान** है। इससे भिन्न अथ वा पदार्थ विश्लेषण की प्रक्रिया **परार्थानुमान** कहलाती है।

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम्। यथा- 'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथेति' अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

जो स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिये पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह परार्थानुमान है। जैसे- पर्वत वह्निमान् है क्योंकि यह धूमवान् है, जो-जो धूमवान् होता है वह-वह वह्निमान् होता है, जैसे- रसोईघर, उसी प्रकार यह है, अतः इसमें भी वैसी ही अग्नि है। इस प्रकार प्रतिपादित लिङ्ग से दूसरा भी अग्नि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

तन्वी व्याख्या- जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है कि दूसरों को समझाने के लिये किया गया अनुमान **परार्थानुमान** है। स्पष्टतया इसमें एक वक्ता होता है जो प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन वाले **पञ्चावयववाक्य** के द्वारा श्रोता के समक्ष **पर्वतोऽयं वह्निमान्** को सिद्ध करने के लिये शब्दचित्र उपस्थित करता है। यह निष्कर्ष तक पहुँचने की तार्किक प्रक्रिया है, जो पाँच क्रमिक चरणों में प्रदर्शित की जाती है। यही पञ्चावयववाक्य भी है। पाँच वाक्यों के इन अग्राङ्कित समूह को न्याय कहते हैं। पञ्चावयववाक्यों की प्रक्रिया अग्राङ्कित है-

प्रतिज्ञा- पर्वतो वह्निमान्

हेतु- धूमवत्त्वात्

उदाहरण- यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः;

उपनय- तथा चायम्।

निगमन- तस्मात्तथेति।

इस प्रकार पञ्चावयववाक्य के द्वारा प्रतिपादित लिङ्ग से दूसरा व्यक्ति भी पर्वत पर अग्निं का अनुमान कर लेता है।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। **पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः इत्युदाहरणम्।' तथा चायम् इत्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्।**

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन ये पाँच अवयव हैं। 'पर्वत वह्निमान् है' यह प्रतिज्ञा है। 'क्योंकि यह धूमवान् है' यह हेतु है। 'जो-जो धूमवान् है वह-वह अग्निमान् है, जैसे- महानस यह उदाहरण है। 'यह भी वैसा है' यह उपनय है। 'इसलिये यह वह्निमान् है' यह निगमन है।

तन्वी व्याख्या- परार्थानुमान को स्पष्ट करने के लिए एक भाषा की आवश्यकता होती है। यह भाषा पाँच अवयवों से बनी होती है जिंसे **पञ्चावयववाक्य** कहते हैं। चूँकि परार्थानुमान में पाँच अवयव होते हैं इसलिये इसे **पञ्चावयव अनुमान** भी कहते हैं। ये अवयव हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। **वैशेषिकदर्शन** के अनुसार इनके नाम हैं- प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान तथा प्रत्याम्नाय। उक्त पञ्चावयव वाक्य को इस प्रकार समझा जा सकता है-

(क) **प्रतिज्ञा**- यह पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध बतलाती है तथा इसकी अभिव्यक्ति **प्रतिज्ञा वाक्य** कहलाती है। इसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय का निर्देश किया जाता है- **साध्यनिर्देशः** प्रतिज्ञा। जैसे- **पर्वतो वह्निमान्** (पर्वत अग्नियुक्त है)। **वात्स्यायन भाष्य** में इसे प्रस्तावना भी कहा गया है। (2.2.26) **पर्वतो वह्निमान्** प्रतिज्ञा के रूप में प्रथम वाक्य में ही रहता है किन्तु सिद्ध होने के बाद अन्तिम वाक्य निगमन बन जाता है।

(ख) **हेतु**- **दीपिकाकार** ने पञ्चमी विभक्ति से अन्त होने वाले लिङ्ग के प्रतिपादक वचन को हेतु कहा है। दूसरे शब्दों में, हेतु का प्रयोजन लिङ्ग का ज्ञान कराना है। प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये जो युक्ति दी जाती है, वह हेतु है- **साध्यसाधनं हेतुः**। यथा- **धूमवत्त्वात्**। पञ्चमी विभक्ति के द्वारा यह वाक्य स्पष्ट करता है कि पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि वह धुएँ से युक्त है।

(ग) **उदाहरण**- दृष्टान्त के साथ-साथ व्याप्ति का प्रतिपादन करना उदाहरण है- **व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम्**। जैसे- **यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः यथा महानसम्**। यहाँ धूम एवं वह्नि के आवश्यक साहचर्य सम्बन्ध

का दृष्टान्त देकर 'महानस' का उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार हम रसोईघर में धुएँ के साथ आग को देखते हैं। उदाहरण का प्रयोजन व्याप्ति का ज्ञान कराना है।

(घ) **उपनय**– उदाहरण के साथ हेतु एवं साध्य का व्यापक सम्बन्ध दिखलाने के पश्चात् अपने पक्ष में उसे दिखलाना ही उपनय कहलाता है– **उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारी साध्यस्योपनयः**। उपसंहार करना उपनय है। यहाँ सपक्ष एवं पक्ष की समता दिखलाई जाती है। जैसे– **तथा चायम्**। यह उपनय परामर्श का ही दूसरा नाम है।

(ङ) **निगमन**– जब प्रतिज्ञावाक्य सिद्ध हो जाता है तो उसे निगमन कहा जाता है। यह प्रतिज्ञा की पुनरावृत्ति नहीं बल्कि उसकी स्थापना है– **प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनम्**। जैसे– **तस्मात्तथेति**। इसके द्वारा यह कहा जा रहा है कि इस प्रकार पर्वत की वह्निमत्ता सिद्ध हुई।

परार्थानुमान की उक्त पञ्चावयवप्रक्रिया को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है–

प्रतिज्ञा– पर्वतो वह्निमान्।
हेतु– धूमवत्त्वात्।
उदाहरण– यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः।
उपनय– तथा चायम्।
निगमन– तस्माद् वह्निमान् पर्वतः।

इस प्रकार परार्थानुमान प्रमाण को एक तार्किक शैली में परिवर्तित करता है। इसे ही **न्यायप्रयोग** भी कहते हैं।

प्रो० मृणाल कान्ति गंगोपाध्याय का कहना है कि 'ज्ञान की प्रणालियों में **भारतीय विचारकों** ने किसी अन्य प्रणाली की विवेचना इतने सूक्ष्म एवं विस्तृत रूप में नहीं की जितनी कि अनुमान की। यह **नैयायिकों** का प्रिय विषय था जिन्होंने केवल इसी की विवेचना में शताब्दियाँ लगा दीं और विपुल साहित्य का निर्माण किया जो अपनी सटीकता एवं विश्लेषण में उतना ही अद्भुत है जितना कि **बीजगणित** का आविष्कार।'[1]

---

1. भारत में दर्शनशास्त्र– पृ. 87

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

स्वार्थानुमिति तथा परार्थानुमिति में लिङ्गपरामर्श ही करण है। इसलिये लिङ्गपरामर्श अनुमान है।

तन्वी व्याख्या- परामर्श की व्याख्या के क्रम में **तर्कभाषाकार** के मत का उल्लेख करते हुए **लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्** के द्वारा अनुमान की परिभाषा की गयी थी। यहाँ **अन्नम्भट्ट** ने भी अनुमान को **लिङ्गपरामर्श** कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुमिति में लिङ्गपरामर्श ही करण है।

अनुमान प्रक्रिया में लिङ्ग एक प्रमुख घटक तत्त्व है। ऐसा माना जाता है कि लिङ्ग यदि शुद्ध होगा तो अनुमान भी शुद्ध होगा। **तर्कभाषाकार केशव मिश्र** ने लिङ्ग को परिभाषित करते हुए कहा है कि व्याप्ति के बल से अर्थ का ज्ञापक लिङ्ग कहलाता है- **व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्।** यह परोक्ष अर्थ का ज्ञापक हेतु होता है। यह अर्थ इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट होता है- **लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्** अर्थात् जो लीन (परोक्ष) अर्थ का बोध कराता है। इससे पूर्व परामर्श का विवेचन किया जा चुका है।

साधारणज्ञान से जिस विशिष्टज्ञान की प्राप्ति होती है, वह लिङ्गपरामर्श कहलाता है। यथा- पर्वत पर धुआँ है- यह साधारण ज्ञान है। इसके पश्चात् ही 'पर्वत पर अग्निसूचक धुआँ उठ रहा है' ऐसा विशिष्टज्ञान होता है। यह विशिष्टज्ञान ही परामर्श है। यही अनुमान भी है।

दीपिका में **अन्नम्भट्ट** ने एक शङ्का उठायी है कि यदि व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मता ज्ञान से अनुमिति हो जाती है तो पुनः लिङ्गपरामर्श की क्या आवश्यकता है? **अन्नम्भट्ट** ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि लाघव की दृष्टि से **व्याप्ति** तथा **पक्षधर्मता** ज्ञान के इन दो कारणों को मानने की अपेक्षा केवल **परामर्श** को ही कारण मान लेना उचित है, क्योंकि **व्याप्ति** एवं **पक्षधर्मता** ज्ञान मात्र से ही **परामर्श** नहीं होता, इसलिये **परामर्श** को पृथक् मानना ही पड़ेगा।

लिङ्गं त्रिविधम्- अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा- वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। 'यत्र धूमस्तत्राग्निः यथा- महानसः' इत्यन्वयव्याप्तिः। 'यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रद' इति व्यतिरेकव्याप्तिः।

लिङ्ग तीन प्रकार के हैं- अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी एवं केवलव्यतिरेकी। अन्वय एवं व्यतिरेक से व्याप्तिमान् अन्वयव्यतिरेकी होता है। जैसे- वह्नि के साध्य होने पर धूमवत्त्व लिङ्ग 'जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग होती है,' जैसे- रसोईघर यह अन्वयव्याप्ति है। 'जहाँ आग नहीं होती है वहाँ धुआँ नहीं होता है' यथा- सरोवर, यह व्यतिरेक व्याप्ति है।

तन्वी व्याख्या- लिङ्ग तीन प्रकार का है- अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी। इन तीनों को समझने के लिये 'अन्वय' एवं 'व्यतिरेक' का अर्थ जानना आवश्यक है-

अन्वय- इसका अर्थ है साहचर्य या एक साथ होना। जहाँ यह है वहाँ वह भी है- ऐसा बोध ही अन्वय है। जैसे- जहाँ धुआँ है वहाँ आग भी है।

व्यतिरेक- इसका अर्थ है अविनाभाव अर्थात् वह नहीं है तो यह भी नहीं है। जैसे- जहाँ आग नहीं है वहाँ धुआँ भी नहीं है।

अब उपरिवर्णित त्रिविध लिङ्गों को इस प्रकार समझा जा सकता है-

अन्वयव्यतिरेकी- जिसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों के दृष्टान्त मिल सकें वह अन्वयव्यतिरेकी है। इस सन्दर्भ में **अन्नम्भट्ट** ने दीपिका में कहा है कि हेतु और साध्य की व्याप्ति अन्वय है तथा इन दोनों के अभाव की व्याप्ति व्यतिरेक है। इस प्रकार जिस लिङ्ग अथ वा अनुमान में व्याप्ति की स्थापना अन्वय और व्यतिरेक दोनों विधियों से हो उस अनुमान को **अन्वयव्यतिरेकी** कहते हैं। जैसे-

1, सभी धूमवान् वस्तुएँ अग्नियुक्त हैं

पर्वत धूमवान् है, अतः पर्वत वह्निमान् है।

2, सभी अग्निरहित पदार्थ धूमरहित है।

सरोवर अग्निरहित है, अतः धूमरहित भी है।

इस प्रकार दोनों विधियों से जहाँ किसी वस्तु का अनुमान किया जाता है, वहाँ अन्वयव्यतिरेकी लिङ्ग होता है।

अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च।

अन्वयमात्र व्याप्ति वाला लिङ्ग केवलान्वयी है। यथा- घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है यथा- पट। यहाँ प्रमेयत्व तथा अभिधेयत्व की व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है, क्योंकि सभी कुछ प्रमेय और अभिधेय है।

तन्वी व्याख्या- अन्वयमात्र व्याप्तिवाला जो लिङ्ग है, वह **केवलान्वयी** लिङ्ग है। **दीपिका** के अनुसार जिस हेतु का साध्य केवलान्वयी हो वह हेतु केवलान्वयी लिङ्ग है। एक अन्य परिभाषा यह है कि अत्यन्ताभाव का जो अप्रतियोगी हो वह केवलान्वयी है। अर्थात् जिसका कहीं भी अभाव नहीं होता हो, वह केवलान्वयी साध्य है। ऐसा केवलान्वयी साध्य वाला हेतु केवलान्वयी लिङ्ग कहलाता है। जैसे- **घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत्** अर्थात् घड़ा अभिधेय है प्रमेय होने के कारण पट के समान। यहाँ घट पक्ष में अभिधेयत्व साध्य है तथा प्रमेयत्व हेतु है।

सरल शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है-

केवलान्वयी वह है जिसमें केवल अन्वय का दृष्टान्त मिल सके; व्यतिरेक का नहीं। जैसे- पट का नाम दिया जा सकता है क्योंकि इसका हमें ज्ञान होता है।

दूसरे शब्दों में, पट प्रमेय है, इसलिये अभिधेय है। यहाँ यह व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित हो रहा है कि 'जो जो प्रमेय है वह वह अभिधेय भी है।' इस व्याप्ति का दृष्टान्त केवल अन्वय में मिलता है, जैसे घट में प्रमेयत्व है तो अभिधेयत्व भी है।

यहाँ व्यतिरेक के लिये आवश्यक है कि 'जो जो अभिधेय नहीं है वह वह प्रमेय नहीं है'- ऐसा दिखलाया जाये। किन्तु जो अभिधेय नहीं हो, ऐसा पदार्थ दिखता नहीं। अर्थात् विपक्ष कहीं मिलता ही नहीं। इसलिये व्यतिरेक का दृष्टान्त दिया जाना सम्भव नहीं है। इसलिये इस अनुमान को 'केवलान्वयी' अनुमान कहते हैं।

व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा- पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा- जलम्। न चेयं तथा। तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

व्यतिरेकमात्र व्याप्तिवाला लिङ्ग केवलव्यतिरेकी है। यथा- पृथिवी इतर से भिन्न है, क्योंकि गन्धवती है, जो इतर से भिन्न नहीं है वह गन्धवती नहीं है, जैसे- जल। यह (पृथिवी) वैसी (गन्धरहित) नहीं है, इसलिये उसके समान नहीं है। यहाँ जो गन्धवान् है वह इतर पदार्थों से भिन्न है। इसका अन्वय दृष्टान्त नहीं है क्योंकि पृथिवी मात्र ही पक्ष है।

तन्वी व्याख्या- जिस लिङ्ग का अपने साध्य के साथ केवल व्यतिरेक सम्बन्ध ही घटित हो सके, अन्वयव्याप्ति का उदाहरण न हो वह लिङ्ग **केवलव्यतिरेकी** है। यथा- **पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्।**

दूसरे शब्दों में, जहाँ केवल व्यतिरेकमात्र में व्याप्ति का दृष्टान्त मिल सके, वहाँ केवलव्यतिरेकी अनुमान/लिङ्ग होता है। यहाँ पृथिवी अन्य पदार्थों से भिन्न है। गन्धवती होने के कारण इसमें पृथिवी पक्ष है, अन्य पदार्थों से भिन्नता साध्य है तथा गन्धवान् होना हेतु है। यहाँ अन्य पदार्थों से भिन्नता का अभाव जहाँ है वह है जल। इसलिये व्यतिरेक व्याप्ति में पक्ष पृथिवी से भिन्न है। उदाहरण के अभाव में इसकी अन्वय व्याप्ति नहीं बन पाएगी। अतः गन्धवत्त्व हेतु केवलव्यतिरेकी है।

इसे पञ्चावयववाक्य के द्वारा भी समझा जा सकता है। यथा-

(क) **प्रतिज्ञा-** पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते।

(ख) **हेतु-** गन्धवत्त्वात्।

(ग) **उदाहरणम्-** यदितरेभ्यो न भिद्यते तन्न गन्धवद्, यथा- जलम्।

(घ) **उपनय-** न चेयं तथा।

(ङ) **निगमन-** तस्मान्न तथा।

पदकृत्य टीका में चन्द्रज सिंह ने यह उल्लेख किया है कि उक्त तीनों हेतुओं में अन्वयव्यतिरेकी हेतु पाँच विशेषताओं से युक्त होकर अपने साध्य की सिद्धि में समर्थ होते हैं- **अन्वयव्यतिरेकि तु पञ्चरूपोपपन्नं स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते।**

ये पाँच विशेषताएँ हैं- पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृतत्व, अबाधितविषयत्व

और असत्प्रतिपक्षत्व। केवलान्वयी हेतु विपक्षव्यावृतत्व को छोड़कर अन्य चारों विशेषताओं से युक्त होने पर तथा केवलव्यतिरेकी हेतु सपक्षसत्त्व को छोड़कर अन्य विशेषताओं से युक्त होने पर साध्य को सिद्ध करता है।

सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा- धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः।

निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा- तत्रैव महानसः।

निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः। यथा- तत्रैव महाह्रदः।

सन्दिग्ध साध्य वाला पक्ष होता है। यथा- 'धूमवत्त्व हेतु में पर्वत। निश्चित साध्य वाला सपक्ष होता है। यथा- रसोईघर। निश्चित साध्य का अभाव वाला विपक्ष होता है। यथा- वहीं महासरोवर।

तन्वी व्याख्या- अनुमान प्रक्रिया को पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष के ज्ञान के बिना समझ पाना कठिन है। अपि तु हेत्वाभास में हेतु की दुष्टता इन्हीं पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष पर निर्भर करती है। किन्तु अचानक यहाँ इन तीन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग का औचित्य स्पष्ट नहीं है। इससे पूर्व **अन्नम्भट्ट** ने पक्षत्वात् के अतिरिक्त इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। पुनरपि इसका सम्बन्ध उपर्युक्त लिङ्ग से है। तर्कभाषा आदि में सम्बन्ध स्थापन के साथ इसका प्रवर्तन किया गया है तथा **पञ्चरूप** कहकर इनकी परिभाषा की गयी है। अतः इन पारिभाषिक शब्दों की अवतारणा के लिये तर्कसंग्रहकार का एक विशिष्ट उद्देश्य यह भी हो सकता है कि आगे इन्हें हेत्वाभास का भी उल्लेख करना है। इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है-

पक्ष- जहाँ साध्य सन्दिग्ध रूप से पाया जाये उसे पक्ष कहा जाता है। जैसे- पर्वत। यहाँ पर धूम आदि को देखकर अग्नि का सन्देह होता है। इसलिये सन्दिग्ध-साध्यवान् होने से 'पर्वत' पक्ष है। चूँकि धूम हेतु उस पर्वत में रहता है अतः उस धूम हेतु का प्रथम रूप **पक्षसत्त्व** हुआ।

सपक्ष- जहाँ साध्य निश्चित रूप से पाया जाये, उसे सपक्ष कहा जाता है। जैसे- अग्नि की सिद्धि के लिये धूम हेतु में रसोईघर। रसोईघर में अग्नि निश्चित रूप से विद्यमान होती है, इस प्रकार साध्य यहाँ निश्चित होता है। यह हेतु धूम का दूसरा रूप **सपक्षसत्त्व** होता है।

विपक्ष- जहाँ साध्य निश्चित रूप से न पाया जाये वह विपक्ष कहलाता है, जैसे- अग्नि की सिद्धि में सरोवर। सरोवर (जल) में अग्नि कभी नहीं पायी जाती। यह धूम हेतु का तृतीय रूप **विपक्षव्यावृतत्व** होता है।

हेत्वाभास

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः।

हेत्वाभास पाँच हैं- सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध एवं बाधित।

तन्वी व्याख्या- हेतु का पूर्ण ज्ञान हेत्वाभास के बिना नहीं हो सकता। इसलिये **न्यायदर्शन** में हेत्वाभास की विस्तार से व्याख्या की गयी है। हेतु अनुमिति का मुख्य आधार है। सद् हेतु से शुद्ध ज्ञान होता है जब कि असद् हेतु से अनुमिति ज्ञान अशुद्ध होता है, इसीलिये असद् हेतु को **हेत्वाभास** कहा जाता है। यह हेतु का आभास मात्र है किन्तु वास्तविकरूप में वह हेतु नहीं होता। इसीलिये वात्स्यायन ने कहा है कि हेतु का लक्षण न घटने के कारण वस्तुतः जो अहेतु हो किन्तु हेतु के समान होने के कारण, जिसका हेतु के समान आभास होता हो, उसे **हेत्वाभास** कहते हैं।

हेत्वाभास शब्द के तीन अर्थ किये जाते हैं-

1. **हेतोराभासाः** इस व्युत्पत्ति से हेत्वाभास शब्द का अर्थ होता है- 'हेतु के दोष'।
2. **हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः** इस व्युत्पत्ति से इसको अर्थ बनता है हेतु की तरह प्रतीत होना।
3. दुष्ट हेतु या दोषयुक्त हेतु।

उपर्युक्त प्रथम दो अर्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो हेतु के समान भासित होता है किन्तु हेतु नहीं हो वह हेत्वाभास कहलाता है। इसी को असद् हेतु भी कहा जाता है। ये हेत्वाभास अनुमिति के अथ वा इसके व्याप्तिज्ञान, पक्षधर्मताज्ञान या परामर्श के विरोधी होने से अनुमिति के प्रतिबन्धक हैं।

इसकी संख्या साधारण दृष्टि से भी 2032 है तथा सूक्ष्म दृष्टि से अनन्त है।[1] पुनरपि व्यवहार के लिये **न्यायशास्त्र** में इसके पाँच भेद किये जाते हैं। ये हैं- सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम तथा कालातीत। **गङ्गेश उपाध्याय** ने हेत्वाभास के निम्न पाँच भेद माने हैं, जिसका अनुसरण **अन्नम्भट्ट** आदि नवीन नैयायिकों ने अग्राङ्कित रूप में किया- सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध तथा बाधित।

---

1. न्या. वा. 1.2.4.

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स त्रिविधः- साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्।

तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा- पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादिति। प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्।

सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा- शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। शब्दत्वं हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति।

अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा- सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति।

सव्यभिचारी अनैकान्तिक है। यह तीन प्रकार का है- साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी।

उनमें साध्य के अभाव में रहने वाला साधारण अनैकान्तिक है। जैसे- पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि वह प्रमेय है। प्रमेयत्व वह्नि के अभाव वाले सरोवर में रहता है।

जो सपक्ष एवं विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष में रहे वह असाधारण है। यथा- शब्द नित्य है क्योंकि वह शब्द है। शब्द सारे नित्य एवं अनित्य में न रहकर केवल शब्द में रहता है।

अन्वय एवं व्यतिरेक दृष्टान्त से रहित हेत्वाभास अनुपसंहारी होता है। यथा- सब अनित्य है प्रमेयत्व के कारण। यहाँ 'सर्वम्' पक्ष है इसलिये दृष्टान्त नहीं है।

तन्वी व्याख्या- सव्यभिचार प्रथम हेत्वाभास है। यहाँ व्यभिचार का अर्थ है हेतु का साध्य के अभाव के साथ रहना। इसे ही अनैकान्तिक कहा गया है। यह हेत्वाभास वहाँ माना गया है जहाँ हेतु का साध्य से व्याप्ति सम्बन्ध न बन पाये। अनुमान की सत्यता के लिये यह आवश्यक है कि हेतु का साध्य के साथ ऐकान्तिक सम्बन्ध हो। सव्यभिचारजन्य दोष तब उत्पन्न होता है जब हेतु का सम्बन्ध किसी भिन्न साध्य से रहता हो अथ वा साध्य से भिन्न वस्तु से रहता हो। सव्यभिचार अनैकान्तिक हेत्वाभास में, सव्यभिचार एवं अनैकान्तिक शब्दों का अर्थ समझ लेना चाहिए। सव्यभिचार का अर्थ

दोषयुक्त हेतु है तथा अनैकान्तिक का अर्थ हेतु का ऐकान्तिक अर्थात् एकनिष्ठ न होना है। यह तीन प्रकार का है- साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी।

सद्हेतु के लिये आवश्यक है कि हेतु पक्ष एवं विपक्ष में विद्यमान हो तथा विपक्ष में नहीं हो। अब इसी नियम के अन्तर्गत हमें हेत्वाभास को समझना चाहिए।

(क) **साधारण-** जो हेत्वाभास साध्य के अभाव में पाया जाता है, उसे साधारण कहते हैं। इस हेत्वाभास का हेतु पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष तीनों में पाया जाता है। दूसरे शब्दों में, इसमें विपक्षव्यावृत्ति नहीं होती। यथा- **पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्**- इस अनुमान वाक्य में प्रमेयत्व हेतु है जो पक्ष पर्वत, सपक्ष रसोईघर तथा विपक्ष ह्रद में समान रूप से विद्यमान रहता है।

(ख) **असाधारण-** यह हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ हेतु केवल पक्ष में ही पाया जाये, सपक्ष एवं विपक्ष में न रहे। इस हेतु में सपक्षसत्त्व भी नहीं होता। यथा- **शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति**। इस वाक्य में **'शब्द'** पक्ष है, 'नित्यता' साध्य है तथा शब्दत्व हेतु है। यहाँ यह सपक्ष आकाश में न होने के कारण व्यभिचार युक्त है तथा केवल पक्ष में रहने के कारण असाधारण है।

(ग) **अनुपसंहारी-** यह हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ पक्ष से भिन्न सपक्ष और विपक्ष का दृष्टान्त ही नहीं होता। अथ वा जिसका दृष्टान्त न तो अन्वय में मिले न ही व्यतिरेक में। चूँकि इसका कोई उपसंहार नहीं निकाला जा सकता इसलिये इसे अनुपसंहारी कहते हैं। यथा- **सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्**। यहाँ पक्ष 'सर्वम्' सर्वव्यापक है, अनित्यत्व साध्य है तथा प्रमेयत्व हेतु है। इस उदाहरण में समस्त सांसारिक पदार्थ पक्ष में है जब कि दृष्टान्त सदैव पक्ष से भिन्न होना चाहिए, जो असंभव है। इसलिये इस उदाहरण में प्रमेयत्व हेतु का न तो अन्वयदृष्टान्त सम्भव है न ही व्यतिरेकदृष्टान्त। अतः प्रमेयत्व हेतु यहाँ अनुपसंहारी हेत्वाभास है।

तर्कभाषा में इसके दो ही भेद कहे गये हैं-- साधारण एवं असाधारण।

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा- शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्।

साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध है। जैसे- शब्द नित्य है कार्य होने के कारण। यहाँ कृतकत्व नित्यत्व का अभाव अनित्यत्व से व्याप्त है।

तन्वी व्याख्या- साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। जब हेतु साध्य को सिद्ध न करके साध्याभाव को ही सिद्ध करे तब विरुद्ध हेत्वाभास होता है। जैसे- **शब्दो नित्यः कृतकत्वात्** अर्थात् शब्द नित्य है कृतक होने के कारण। यहाँ नित्यत्व साध्य है तथा कृतकत्व हेतु है। कृतक का अर्थ है कार्य। वस्तुतः व्याप्ति यह है जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है। अनित्य का अर्थ है नित्यत्व का अभाव अर्थात् साध्याभाव। अतः यहाँ जो कृतकत्व हेतु है वह साध्याभाव से व्याप्त है। अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

लोकव्यवहार में इसे अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना (इष्टविघातकर्ता) कहा जाता है।

इस प्रसङ्ग में यह भी समझा जाना चाहिए कि विरुद्ध हेत्वाभास, सव्यभिचार से किस प्रकार भिन्न है। वस्तुतः सव्यभिचार वहाँ देखा जाता है जहाँ प्रदत्त हेतु साध्य के साथ भी रहे तथा उससे भिन्न भी। किन्तु विरुद्ध में दिया हुआ हेतु कभी साध्य के साथ नहीं पाया जाता अपि तु सर्वदा उसके अभाव में ही पाया जाता है।

यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा- शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दवत्। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवदिति।

जिस हेतु के साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु है वह सत्प्रतिपक्ष है। यथा- शब्द नित्य है। श्रावणत्व के कारण शब्द के समान। शब्द अनित्य है कार्य होने के कारण, घट के समान।

तन्वी व्याख्या- सत्प्रतिपक्ष वहाँ होता है जहाँ प्रतिपक्ष अर्थात् साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु विद्यमान रहता है। जब एक हेतु के विरोधी के रूप में दूसरा हेतु उपस्थित रहता है, जिसके फलस्वरूप पहले हेतु द्वारा सिद्ध वाक्य का खण्डन हो जाता है तब उस हेत्वाभास को

सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहा जाता है। यथा-

(क) शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दवत्।

(ख) शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद्घटवत्।

इन दोनों वाक्यों में पक्ष एक ही है 'शब्द'। इस पक्ष में, प्रथम वाक्य में नित्यता साध्य है जबकि दूसरे में अनित्यता साध्य। इसलिये प्रथम वाक्य का हेतु श्रवणेन्द्रिय ग्राह्यता और द्वितीय वाक्य का हेतु कृतकत्व एक दूसरे के प्रतिपक्षी होंगे। चूँकि एक नित्यता का तथा दूसरा अनित्यता का साधक है, इसलिये प्रथम वाक्य एवं द्वितीय वाक्य दोनों में दिये गये हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हैं।

इसका दूसरा नाम **प्रकरणसम** भी है। जिससे प्रकरण अर्थात् साध्य के विषय में शङ्का होना सम्भव है, उसी को हेतु मानना प्रकरणसम हेत्वाभास है।

असिद्धस्त्रिविधः- आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

आश्रयासिद्धो यथा- गगनारविन्दं सुरभ्यरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव।

स्वरूपासिद्धो यथा- शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात् रूपवत्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात्।

असिद्ध तीन प्रकार का होता है- (क) आश्रयासिद्ध, (ख) स्वरूपासिद्ध तथा (ग) व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्ध का उदाहरण है- आकाशकमल सुगन्धित होता है, क्योंकि वह कमल है, सरोवर में उत्पन्न कमल की तरह। यहाँ साध्य सुरभित्व का आश्रय गगनारविन्द की सत्ता ही नहीं है।

स्वरूपासिद्ध का उदाहरण है- शब्द गुण है, दिखाई पड़ने के कारण रूप के समान। यहाँ चाक्षुषत्व शब्द में नहीं है, क्योंकि शब्द श्रवण से ग्राह्य है।

तन्वी व्याख्या- तृतीय हेत्वाभास असिद्ध है। यहाँ असिद्ध का अर्थ यह है कि जो स्वयं साध्य कोटि में हो। (इसका उद्धरण लोक में भी मिलता है- **स्वयमसिद्धः कथं परान्** साधयति)। यह वह हेतु है जो अनुमापक के रूप में निश्चित न किया जा सके। दूसरे शब्दों में, जहाँ हेतु की पक्ष में

विद्यमानता निश्चित नहीं होती वहाँ असिद्ध हेत्वाभास होता है। **गौतम** ने इसे **साध्यसम** कहा है।[1] **अन्नम्भट्ट** ने असिद्ध को परिभाषित किये बिना ही इसके प्रकारों का उल्लेख कर दिया है। यह तीन प्रकार का है- आश्रयासिद्ध (पक्ष का दूषित होना), स्वरूपासिद्ध (हेतु का दूषित होना) तथा व्याप्यत्वासिद्ध (व्याप्ति का दूषित होना)।

न्यायप्रणाली में अनुमान को **लिङ्ग-परामर्श** कहा गया है। जहाँ लिङ्ग-परामर्श नहीं होता वहाँ अनुमान भी सिद्ध नहीं होता। परामर्श में तीन मुख्य तत्त्व होते हैं-

(१) पक्ष में हेतु या साध्य की विद्यमानता,

(२) पक्ष में हेतुत्व की विद्यमानता तथा

(३) साध्य एवं हेतु का साहचर्य नियम अर्थात् व्याप्ति सम्बन्ध।

इनमें यदि साध्य का पक्ष ही न हो तो आश्रय न होने से आश्रयासिद्ध होता है। यदि पक्ष में हेतु का स्वरूप न हो तो वह स्वरूपासिद्ध होता है तथा यदि साध्य एवं हेतु में व्याप्ति सम्बन्ध न हो तो वह व्याप्यत्वासिद्ध होता है। इस प्रकार तीनों रूपों से अनुमिति कराने में असमर्थ हेतु असिद्ध हेत्वाभास होता है। इनका सोदाहरण विवेचन अग्राङ्कित है-

(क) जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) प्रमाणसिद्ध न हो वह आश्रयासिद्ध है- **यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः।** यथा- **गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्** यहाँ गगनारविन्द अर्थात् आकाशकमल सुरभियुक्त है क्योंकि यह कमल है। जो कमल है वह सुगन्धवाला होता है- जैसे सरोवर में उगने वाला कमल। गगनारविन्द यहाँ पक्ष है। सुरभि साध्य है। कमल होना हेतु है। सरोवर में उगने वाला कमल दृष्टान्त है। हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक है। यहाँ हेतु अरविन्दत्वात् का आश्रयभूत पक्ष ही असिद्ध है। क्योंकि पक्ष अरविन्द के आश्रय गगन की सत्ता नहीं होती। इसलिये अरविन्दत्वात् का आश्रय ही यहाँ असिद्ध है।

(ख) स्वरूपासिद्ध वह हेत्वाभास है जिसके पक्ष में हेतु का अभाव होता है। जैसे- **शब्दो गुणः चाक्षुषत्वात्।** यहाँ 'शब्द' पक्ष है, 'गुण' साध्य है तथा 'चाक्षुषत्व' हेतु है। यहाँ पक्ष शब्द में चाक्षुषत्व स्वरूपतः सिद्ध

---

1. न्या. सू. 1.2.4

नहीं है। क्योंकि शब्द का ग्रहण चक्षु द्वारा नहीं प्रत्युत श्रोत्र द्वारा होता है। अतः इसका स्वरूप ही असिद्ध है।

आश्रयासिद्ध हेत्वाभास में आश्रय (पक्ष) सर्वथा असम्भव (असिद्ध) होता है, इसके ठीक विपरीत स्वरूपासिद्ध में हेतु का आश्रय तो सम्भव होता है, किन्तु आश्रय में हेतु की विद्यमानता असंभव है।

सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधित्वम्। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावा-प्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' इत्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि यत्र धूमस्तत्राऽर्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकत्वम्। यत्र वह्निस्तत्राऽर्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलक आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद् वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।

उपाधियुक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध होता है। साध्य के व्यापक होने पर साधन की अव्यापकता उपाधि है। साध्य के समानाधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी न हो, उसे साध्यव्यापकत्व कहते हैं। साधन के अधिकरण में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना साधनाव्यापकता है। यथा- पर्वत धूमवान् है वह्नियुक्त होने के कारण। यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। इस प्रकार जहाँ धूम है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग है, यह साध्यव्यापकता है। जहाँ वह्नि है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है। जैसे- अग्नितप्त लौहपिण्ड में आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं होता। यह साधनाव्यापकता है। इस प्रकार साध्यव्यापकत्व होने पर साधन के अव्यापकत्व के कारण आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। सोपाधिक होने से वह्निमत्त्व व्याप्यत्वासिद्ध है।

तन्वी व्याख्या- (ग) व्याप्यत्वासिद्ध वह हेत्वाभास है जिसका साध्य के साथ व्याप्ति में कोई प्रमाण न हो या जिसका साध्य के साथ सम्बन्ध ही उपाधि पर निर्भर है। जब हेतु साध्य के साथ व्याप्त नहीं होता तो वह व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। जैसे- 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्', इस अनुमान वाक्य में 'पर्वत' पक्ष है, 'धूम' साध्य है तथा 'वह्नि' हेतु है। यहाँ साध्य एवं

हेतु का व्याप्ति सम्बन्ध निर्बाध नहीं है क्योंकि तप्त लौहपिण्ड में आग है किन्तु धूम नहीं है। अतः अग्नि की व्याप्यता तथा धूम की व्यापकता न होने के कारण यहाँ व्याप्तिसम्बन्ध अस्वाभाविक है।

इस व्याप्ति सम्बन्ध में, यदि उपाधि (आर्द्रेन्धनसंयोग) आ जाये तो व्याप्ति बन जाएगी- **यत्र यत्र आर्द्रेन्धनसंयुक्तः अग्निः तत्र तत्र धूमः यथा महानसे।** यह आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि ही है। अतः हेतु वह्निमत्त्व की व्याप्ति असिद्ध होने के कारण यहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।

उपाधि- इसका अर्थ है निमित्त। व्युत्पत्ति के अनुसार जो समीपवर्ती पदार्थ में अपना धर्म प्रकट करे, वह उपाधि है- **उप समीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः** (न्यायकोश)। **अन्नम्भट्ट** ने इसका लक्षण **साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः** दिया है। अर्थात् साध्य का व्यापक होने पर भी जो साधन की व्यापक न हो उसे उपाधि कहा जाता है। अथ वा **उपाधि** वह है जिसका साहचर्य किसी अनुमान के साध्य के साथ रहता है किन्तु हेतु या साधन के साथ सदा नहीं रहता है। अतः उपाधि को साध्यसमव्याप्त तथा अव्याप्तसाधन होना चाहिए। जैसे- जहाँ अग्नि है वहाँ धूम है। यहाँ धूम साध्य है तथा अग्नि साधन है। इस प्रसङ्ग में अग्नि तभी धूम हो सकता है जब अग्नि की उत्पत्ति आर्द्र इन्धन से हुई हो इस प्रकार, इस अनुमान में आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। यह उपाधि साध्य रूप से अभिमत धूम की व्यापक है क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ गीले ईंधन का संयोग पाया जाता है। यह साधन रूप से मान्य अग्नि का अव्यापक भी है। क्योंकि तप्तलौहपिण्ड, विद्युत् आदि की अग्नि में आर्द्रेन्धन का संयोग नहीं रहता।

अतः धूम को साध्य एवं वह्नि को हेतु मानकर अग्नि के साथ धूम का सहभाव तभी देखा जाता है जब उसमें उपाधि, **आर्द्रेन्धन का संयोग** हो। उपाधि सम्बन्ध न तो नियत सम्बन्ध होता है और न ही अव्यभिचरित।

यहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास में उपाधिलक्षण क्रम में आये दो शब्दों को समझना आवश्यक है। ये हैं- **साध्यव्यापकत्व** तथा **साधनाव्यापकत्व।**

(क) **साध्यव्यापकत्व**- तर्कसंग्रह में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है- **साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्।** यहाँ **'साध्यसमानाधिकरण'** का अर्थ है साध्य का समान अधिकरण (आश्रय), अत्यन्ताभाव का अर्थ है तीनों कालों में अर्थात् पूर्णतः अभाव। अप्रतियोगी का अर्थ है प्रतियोगी का न होना। इस प्रकार उक्त लक्षण का सरलार्थ हुआ

साध्य के आश्रय में रहने वाले त्रैकालिक अभाव का प्रतियोगी न होना अर्थात् साध्य को व्याप्त करके रहने वाला। यथा- 'जहाँ धूम होता है वहीं आर्द्र इंधन का संयोग होता है'- इस वाक्य में साध्य धूम के आश्रय में आर्द्र इन्धन के संयोग का अत्यन्ताभाव नहीं रहता अपि तु साध्य धूम के आश्रय में आर्द्रेन्धन संयोग सदैव विद्यमान रहता है, यही साध्यव्यापकत्व है।

(ख) **साधनाव्यापकत्व- अन्नम्भट्ट** ने इसे **साधनवन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वम्** कहा है। यहाँ 'साधनवत्' का अर्थ है साधन (हेतु) में रहने वाला। निष्ठ का अर्थ है युक्त या विद्यमान। समग्र रूप में इसका अर्थ हुआ साधन अर्थात् हेतु में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना। यथा- **यत्र वह्निः तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलक आर्द्रेन्धनसंयोगाभावात्।** यहाँ अग्नि साधन (हेतु) है, उस अग्नि से युक्त अयोगोलक (लौहपिण्ड) है तथा उस अयोगोलक में आर्द्रेन्धन अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, फलतः अयोगोलक में आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है, अतः यह **साधनाव्यापकत्व** है।

इस प्रकार, साध्यव्यापकता तथा साधनाव्यापकता की दृष्टि से पूर्ण होने के कारण **आर्द्रेन्धनसंयोग** उपाधि है। इसी उपाधि के कारण 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' इस अनुमान वाक्य में व्याप्ति सम्बन्ध घटित नहीं हो पाता। अतः अनुमिति साधक न होने के कारण 'वह्निमत्त्वात्' (हेतु) व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा- वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्राऽनुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्।

जिस हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित होता है वह बाधित हेत्वाभास है। यथा- अग्नि शीतल है, द्रव्य होने के कारण। यहाँ अनुष्णत्व (शीतलता) साध्य है, उसका अभाव उष्णत्व स्पार्शनप्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। इसलिये इसमें बाधित है।

तन्वी व्याख्या- 'बाधित' हेत्वाभास को **न्यायसूत्र** आदि प्राचीन ग्रन्थों में **कालात्ययापदिष्ट** नाम दिया गया है। बाधित का अर्थ होता है- रोक दिया जाना। अर्थात् जिसका साध्यधर्म किसी अन्य प्रमाण से रोक दिया जाता है वह बाधित हेत्वाभास कहलाता है। **तर्कसंग्रहकार** ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस हेतु के साध्य का अन्य प्रबल प्रमाण से बाध हो जाता है वह बाधित विषय हेत्वाभास है। यथा- **वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्** अर्थात् 'अग्नि

अनुष्ण है क्योंकि वह द्रव्य है'। यहाँ अग्नि में अनुष्णत्व, उष्णता का अभाव साध्य है। स्पार्शनप्रत्यक्ष से यह निश्चित है कि अग्नि उष्ण होती है, अनुष्ण नहीं। अतः यहाँ अग्नि में अनुष्णता की सिद्धि के लिये जो द्रव्यत्व हेतु दिया गया है, उसका साध्य बाधित हो जाता है और वह बाधितविषय हेत्वाभास है।

हेत्वाभास के भेदोपभेद को छात्रों की स्मृति में बनाये रखने के लिये निम्न तालिका द्रष्टव्य है-

इस प्रकार प्रमाणप्रकरण के अन्तर्गत अन्नम्भट्टप्रवर्तित अनुमान प्रसङ्ग यहीं समाप्त होता है। अनुमान को समझने एवं समझाने की समस्त प्रक्रिया की परिणति ही कदाचित् **न्यायदर्शन** की विशिष्टता है। इस प्रक्रिया को समझने के अनन्तर ही व्यक्ति **नैयायिक** पद को प्राप्त होगा। **पञ्चतन्त्र** का सम्यक् अध्ययन कर लेता है वह शक्र (इन्द्र) अथ वा शुक्र (शुक्राचार्य, महान् नीतिज्ञ) से भी पराभव को प्राप्त नहीं होता है। इसी आधार पर यदि यह कहा जाये कि जिसने अनुमान का सम्यक् अध्ययन कर लिया है वह तर्क में किसी से पराभव को प्राप्त नहीं हो सकता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।
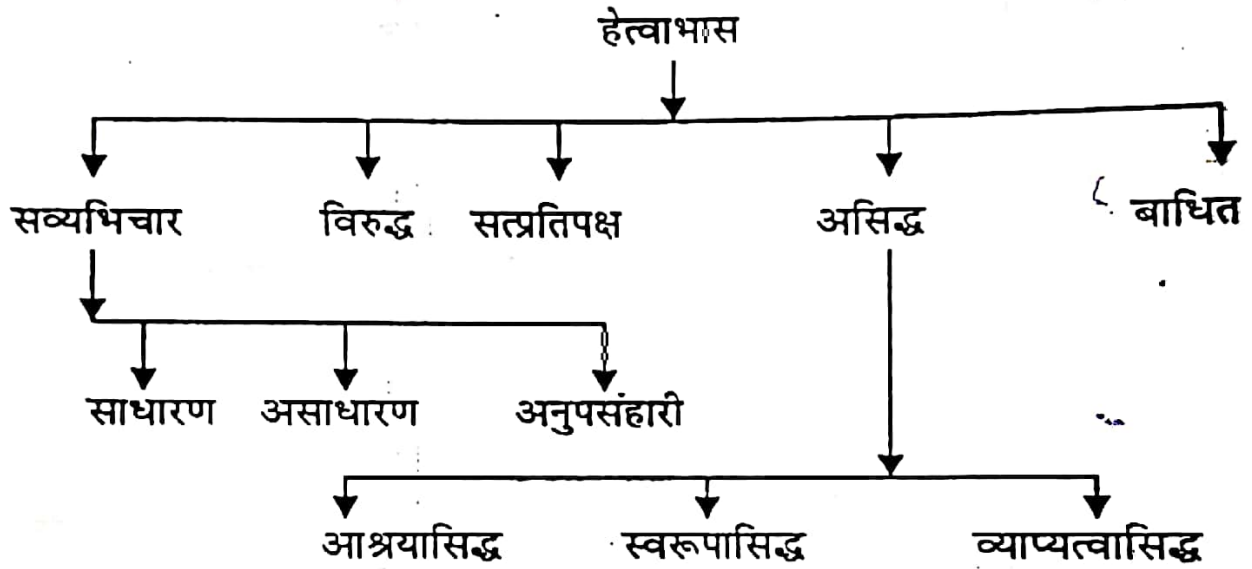
प्रो० मृणालकान्ति गंगोपाध्याय का कहना है कि 'ज्ञान की प्रणालियों में **भारतीयविचारकों** ने किसी अन्य प्रणाली की विवेचना इतने सूक्ष्म एवं विस्तृत रूप में नहीं कि जितनी कि अनुमान की। यह **नैयायिकों** का प्रिय विषय था जिन्होंने केवल इसी की विवेचना में शताब्दियाँ लगा दीं और विपुल साहित्य का निर्माण किया जो अपनी सटीकता एवं विश्लेषण में उतना ही अद्भुत है जितना कि **बीजगणित** का आविष्कार।'

॥इत्यनुमानपरिच्छेदः॥

उपमानपरिच्छेद

उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। तथा हि कश्चिद् गवयशब्दार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवयः' इति श्रुत्वा, वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरम् 'असौ गवयशब्दवाच्यः' इत्युपमितिरुत्पद्यते।

उपमिति का करण उपमान है। संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्धज्ञान को उपमिति कहते हैं। उसका करण सादृश्य ज्ञान है। प्रामाणिक व्यक्ति के कहे हुए वाक्यार्थ का स्मरण अवान्तर व्यापार है। जैसे– कोई गवय शब्द के अर्थ को बिना जानता हुआ किसी जंगली पुरुष से 'गाय के सदृश गवय होता है' यह सुनकर वन में जाता हुआ वाक्य के अर्थ को स्मरण करते हुए गोसदृश पिण्ड को देखता है। तदनन्तर 'यह गवय शब्द से वाच्य है' यह उपमिति उत्पन्न होती है।

तन्वी व्याख्या– न्यायसम्प्रदाय के द्वारा निर्दिष्ट चार प्रमाणों में तृतीय, उपमान प्रमाण है। इसी की प्रक्रिया एवं स्वरूप को यहाँ दर्शाया गया है। संस्कृत में उपमान शब्द के सामान्यतः दो अर्थ प्राप्त होते हैं–

(क) दो या दो से अधिक वस्तुओं के मध्य समानता का वह बिन्दु जो उनके मध्य तुलना को सम्भव बनाता है तथा

(ख) जिसके साथ तुलना अभिप्रेत है।

किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में सादृश्यज्ञान को स्पष्ट करने के लिये यह एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। नैयायिकों ने प्रमाण को स्पष्ट करने के लिये इसके करण को उपमिति कहा है। अन्नम्भट्ट ने उपमान को उपमिति का करण कहा है। इस उपमिति का स्वरूप है– संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान। यहाँ किसी वस्तु का नाम संज्ञा है तथा जिस वस्तु का नाम अथ वा संज्ञा होता है वह संज्ञी कहलाती है।

यहाँ अतिदेशवाक्य का अर्थ है समानता अथ वा सादृश्य बतलाने वाला। दूसरे शब्दों में, वह वाक्य अतिदेशवाक्य कहलाता है, जिसके द्वारा एक पदार्थ के धर्म को दूसरे में दिखलाया जाता है। यहाँ उपमान को निम्न

उदाहरण से समझा जा सकता है- कोई व्यक्ति गवय (नील गाय) को बिना देखे ही 'गाय के समान ही नील गाय भी होती है' यह सुनकर वन में जाता है तथा गो सदृश एक पशु को देखता है। उस पशु को देखकर वह व्यक्ति सुनी हुई बातों का स्मरण करता है। उसी क्षण उसे यह ज्ञान होता है कि यह पशु ही नील गाय है। यहाँ पशु 'संज्ञी' तथा नील गाय 'संज्ञा' है। इस प्रकार **संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान** से उपमिति की स्थापना होती है जिसका करण सादृश्यज्ञान है।

कुछ दार्शनिक उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं मानते। **वैशेषिकाचार्य कणाद** उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में ही करते हैं तथा बौद्ध, चार्वाक आदि प्रत्यक्ष में। **बौद्धाचार्य शान्तरक्षित** का कथन है, यदि उपमान को हम पृथक् प्रमाण मानते हैं तो हमें असादृश्य, बड़ापन, परवर्तित्व आदि ज्ञानों के लिये अनेक नये-नये प्रमाण स्वीकार करने होंगे। अतः अच्छा यह होगा कि उपमान को हम पृथक् प्रमाण न मानें।

इस विवाद पर अपने मत को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने इसे महती उपयोगिता का प्रमाण कहा है। उनके अनुसार बहुत से ऐसे अदृष्ट पदार्थ हैं जिनका उपमान प्रमाण के द्वारा आविष्कार किया जा सकता है। आयुर्वेद प्रभृति विज्ञानों में प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर ही अनेक अज्ञात औषधादि द्रव्यों का वर्णन मिलता है। यथा- मुद्‌ग के सदृश मुद्‌गपर्णी- **यथा मुद्‌गस्तथा मुद्‌गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णी इत्युपमाने प्रयुक्त उपमानात् संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्याय हरति।**

इस प्रकार उपमान प्रमाण का पृथक् महत्त्व स्पष्ट होता है।

।।इत्युपमानपरिच्छेदः।।

शब्दपरिच्छेदः

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। यथा– गामानयेति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः।

आप्त (पुरुषों) का वाक्य शब्द (प्रमाण) है। आप्त तो यथार्थवक्ता है। वाक्य पदों का समूह है। यथा– गाय लाओ। शक्त अर्थात् शक्तियुक्त (सामर्थ्यवान्) पद है। इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए– इस प्रकार का ईश्वरसंकेत ही शक्ति है।

तन्वी व्याख्या– नैयायिकों का चतुर्थ एवं अन्तिम प्रमाण शब्द है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान से हमें यथार्थ ज्ञान होता है उसी प्रकार शब्द नामक चतुर्थ प्रमाण से भी हमें यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। ध्यातव्य है कि सारे शब्द प्रमाण नहीं होते केवल आप्तोपदेश ही प्रमाण है। **गौतम** ने कहा भी है कि– **आप्तोपदेशः शब्दः।**

अन्नम्भट्ट ने भी शब्द को **आप्तवाक्य** कहा। यहाँ आप्त यथार्थवक्ता को कहा गया है। जो पदार्थ जैसा होता है उसको वैसा ही बतलाने वाला **यथार्थवक्ता** होता है। यह वह होता है जिसे विवेच्य विषय का गम्भीर ज्ञान हो, जो उसे ठीक-ठीक सम्प्रेषित करना चाहता हो और जिसमें स्मृति लोप या ज्ञानेन्द्रियों की अक्षमता सम्बन्धी कोई दोष आदि नहीं हो। अन्यत्र **यथाभूताबाधितार्थोपदेष्टा** आप्त का लक्षण किया गया है अर्थात् किसी भी कारण से अन्यथा न बोलने वाले यथार्थवक्ता को आप्त कहा जाता है।

वाक्य पदों के समूह को कहा गया है। वाक्य से प्राप्त होने वाला अर्थ ही शाब्दबोध अथ वा वाक्यार्थज्ञान (Verbal Cognition) कहलाता है। यहाँ **पद** से तात्पर्य है– जिस शब्द में एक अर्थ विशेष द्योतन करने की शक्ति रहती है। यह शक्ति सामान्यतया अभिधा ही है। **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** में शक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है– **अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः।** अर्थात् शक्ति, पद के साथ पदार्थ का वह सम्बन्ध है जो उस शब्द का उच्चारण किये जाने पर हमें उस पदार्थ का ज्ञान करा देती है। यह पद सामर्थ्यवान् होना चाहिए अर्थात् पद में अर्थाभिव्यक्ति की क्षमता अवश्य हो। यह अर्थाभिव्यक्ति ईश्वरसङ्केत से ही सम्भव है, जिससे हम यह जानते हैं कि किस पद का क्या अर्थ होगा– इस

प्रकार की ईश्वरेच्छा या ईश्वरसङ्केत ही शक्ति है। यह शक्ति सामर्थ्य का पर्याय है।

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। तथा चाकाङ्क्षादि-रहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा- गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम्, आकाङ्क्षाविरहात्। अग्निना सिञ्चेदिति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चरितानि गामानयेत्यादिपदानि न प्रमाणम्, सान्निध्याऽभावात्।

आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि वाक्यार्थ ज्ञान के प्रति हेतु है। एक पद का दूसरे अर्थ के बिना प्रयुक्त होने पर शाब्दबोध करवाने की असमर्थता आकाङ्क्षा है। अर्थ का बाधारहित होना योग्यता है। पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण सन्निधि है। इस प्रकार आकाङ्क्षादि से रहित वाक्य प्रमाण नहीं है। यथा- गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति यह प्रमाण नहीं है क्योंकि इसमें आकाङ्क्षा नहीं है। 'आग से सींचें' यह प्रमाण नहीं है क्योंकि इसमें योग्यता नहीं है। एक-एक प्रहर में कहे गये 'गाय लाओ' इत्यादि पद प्रमाण नहीं है, क्योंकि इनमें सान्निध्य नहीं है।

तन्वी व्याख्या- वाक्यार्थज्ञान में मुख्य हेतु आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि है। इनके बिना वाक्यों का अर्थ ज्ञान सम्भव नहीं होता। इन तीनों को यहाँ इस प्रकार समझा जा सकता है-

आकाङ्क्षा- वाक्य में एक पद को दूसरे पद की अपेक्षा रहती है। जिसके बिना वाक्य प्रमाण नहीं होता। **विश्वनाथ** के अनुसार एक पद के बिना दूसरे पद में पूर्ण अर्थ को व्यक्त करने की अक्षमता आकाङ्क्षा है (कारिका0 84)। **अन्नम्भट्ट** ने इसका अर्थ करते हुए कहा है कि एक पद का दूसरे के बिना अन्वय-बोधन करा सकना आकाङ्क्षा है। यदि पदों में परस्पर आकाङ्क्षा नहीं होगी तो पदसमूह वाक्य न हो सकेगा। यथा- गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति इत्यादि पदों का समूह है एक वाक्य नहीं; क्योंकि इन पदों में परस्पर आकाङ्क्षा नहीं है। एक पद दूसरे पद की अपेक्षा नहीं रख रहा है।

योग्यता- एक पद में दूसरे पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध प्राप्त करने

वाले अर्थ को प्रकट करने की क्षमता, पदों की पारस्परिक योग्यता है। योग्यता के बिना भी कोई पदसमूह वाक्य नहीं बन सकता। इस सन्दर्भ में योग्यता का अर्थ है पदार्थों में अविरोध- **अर्थाबाधो योग्यता**, जैसे- वह्निना सिञ्चति। यह वाक्य एक पद-समूह है। किन्तु इसे वाक्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'वह्नि' पद से जो अर्थ निकलता है वह 'सिञ्चति' क्रिया पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर ही नहीं सकता है। यहाँ करणपद (अग्नि) तथा क्रियापद (सींचना) में सामञ्जस्य नहीं है। आग से दहन क्रिया सम्भव है सिञ्चन नहीं। अतः योग्यता का अभाव होने से "वह्निना सिञ्चति' आदि पद-समूह वाक्य नहीं हो सकता।

सन्निधि- पदों के उच्चारण में क्रमशः सामीप्य को सन्निधि कहते हैं। इसके बिना भी कोई पद-समूह वाक्य नहीं होता। सन्निधि का अर्थ है पदों का अविलम्ब उच्चारण किया जाना। अतः एक पद के उच्चारण के बाद इतना विलम्ब नहीं होना चाहिए कि दूसरे पद के उच्चारण की स्वाभाविकता नष्ट हो जाये। उचित अन्तराल के बाद ही पदों का उच्चारण सन्निधि है। यथा- कोई आदेश देता है 'गामानय'। यहाँ 'गाम्' कहने के दो घण्टे बाद यदि "आनय" कहा जाये तो वह वाक्य नहीं बन पायेगा क्योंकि तब तक वह गाय शब्द अपनी आकाङ्क्षा एवं योग्यता खो चुका होगा। सन्निधि को ही **आसत्ति** भी कहा जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि में से किसी भी एक वाक्यहेतु के अभाव से पदसमूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता है।

इसके साथ ही **विश्वनाथ** ने एक अन्य हेतु का निर्देश किया है, वह है तात्पर्य ज्ञान- **आसत्तियोग्यताऽऽकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते** (भा०प० 82)। यहाँ वक्ता की इच्छा तात्पर्यज्ञान है- **वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्**। उनका कहना है कि उक्त तीनों वाक्यहेतुओं के होने पर भी यदि तात्पर्यज्ञान नहीं है तो वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता। कभी कभी एक ही कथ्य के दो दो अर्थ होते हैं। वहाँ उन दोनों में से कौन सा अर्थ ग्राह्य होगा, इसका निर्णय कर पाना सम्भव नहीं हो पाएगा। यथा- 'सैन्धवम् आनय'। इस वाक्य के दो अर्थ बनते हैं- 1. नमक लाओ तथा 2. घोड़ा लाओ। प्रसङ्ग में श्रोता वक्ता के अभिप्राय को समझ कर तदनुरूप आचरण करता है। भोजन के समय इसका अर्थ नमक तथा गमनकाल में घोड़ा होगा। तात्पर्यज्ञान के अभाव में

यहाँ वाक्यार्थ नहीं बन पाएगा।

इसके अतिरिक्त उदयन ने कारिकावली में उक्त वाक्यार्थज्ञान के छः कारणों का उल्लेख किया है। ये हैं- आसक्ति, योग्यता, आकाङ्क्षा, तात्पर्यज्ञान, पदज्ञान तथा पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति। (82/83)

वाक्यं द्विविधम्- वैदिकं लौकिकञ्च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्।

वाक्य दो प्रकार का है- वैदिक और लौकिक। ईश्वर वचन होने के कारण सारे वैदिक वाक्य प्रमाण हैं। लौकिक वाक्य तो आप्तकथित प्रमाण हैं, अन्य प्रमाण नहीं हैं।

तन्वी व्याख्या- शब्दप्रमाण के क्रम में वाक्यार्थ बोध के लिये प्रयुक्त उक्त वाक्य के दो भेद किये गये हैं- वैदिक एवं लौकिक। ईश्वर कथन वैदिक वाक्य कहलाता है। ईश्वर का कथन होने के कारण सभी वैदिक वाक्य प्रमाण होते हैं अर्थात् समस्त वैदिक वाक्य आप्तवाक्य होने के कारण शब्द प्रमाण होते हैं। यथार्थवक्ता के द्वारा कहा गया वाक्य लौकिक वाक्य होता है। आप्तकथित यह वाक्य प्रमाण होता है। वैदिक शब्द से वेद के अतिरिक्त वेदमूलक स्मृतियाँ आदि भी ग्राह्य हैं।

लौकिक वाक्य भी प्रमाण होते हैं जब वे किसी यथार्थ वक्ता या आप्त पुरुष के द्वारा कथित हों। लौकिक शब्द का अर्थ वेदवाक्य से भिन्न वाक्य है। शब्द प्रयोग का हेतुभूत जो यथार्थज्ञान है उससे युक्त होना ही आप्तत्व है। वैदिक एवं लौकिक के अतिरिक्त सारे वाक्य अप्रमाण होते हैं।

वेदमूलक होने के कारण मनु आदि स्मृतियाँ, इतिहास तथा सदाचार प्रमाण हैं। वेदभिन्न ये ईश्वरोक्त नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये प्रमाण कैसे होंगे? इसका उत्तर यह हो सकता है कि इनका प्रमाणत्व भी पूर्णतः वेद पर ही आधारित है। स्मृति आदि में कहा गया हर कथन वेद का ही अनुसरण है। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि स्मृतियों के मूल वेदवाक्यों का इस समय अध्ययन नहीं होने के कारण मूल शाखाएँ छिन्न भिन्न हो गयी थीं - ऐसी कल्पना की जाती है।

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेख्य है कि **नैयायिक** वेद को पौरुषेय तथा अनित्य मानते हैं जब कि **मीमांसक** वेद को अपौरुषेय एवं नित्य मानता है। इसके पौरुषेयत्व के पीछे **अन्नम्भट्ट** का यही तर्क है कि **महाभारत** आदि

की तरह वाक्यसमूह होने के कारण वेद भी पौरुषेय है। दूसरा यह कि इस प्रकार ईश्वरप्रसूत होने के कारण अन्य सारे उत्पन्न पदार्थ की तरह इसे भी अनित्य ही माना जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में **दीपिका** आलोडनीय है।

अस्तु, नैयायिकों का यह भी स्पष्ट मानना है कि जो आप्तवाक्य नहीं हैं, ऐसे सारे लौकिक वाक्य प्रमाण नहीं हैं- **अन्यदप्रमाणम्।**

वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं शब्दः।

वाक्य के अर्थों का ज्ञान ही शाब्दज्ञान है। उसका करण शब्द है।

तन्वी व्याख्या- उक्त वाक्य के द्वारा शब्दपरिच्छेद का उपसंहार यह कहते हुए किया जा रहा है कि शब्द का फल वाक्य के अर्थ के ज्ञान में होता है तथा शब्द उस फल का करण है।

प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्द के भेद से प्रमा की अनुभूति चतुर्विध है। प्रमा की चौथी विधा शाब्दीप्रमा कहलाती है। इसे शाब्दी अनुभूति या शाब्दबोध भी कहा जाता है। इस शाब्दज्ञान का साधकतम होने के कारण शब्द इसका करण होता है।

इस उद्घोषणा के द्वारा **अन्नम्भट्ट** उस मत से अपनी असहमति प्रकट करना चाहते हैं जिसमें पद अथ वा पदज्ञान को शाब्दबोध का करण माना गया है। किन्तु वे इसके लिये कोई विशिष्ट तर्क नहीं देते हैं।

पद अथ वा पदज्ञान को शाब्दबोध का करण मानने वाले **विश्वनाथ** के उक्त मत को छात्रों की सुविधा के लिये यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। उनके अनुसार, शाब्दबोध फल है, इसमें पदज्ञान करण है, पदार्थधी (पदार्थोपस्थिति) व्यापार (द्वार) तथा शक्तिधी (शब्दशक्ति का ज्ञान) सहकारी कारण होता है-

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।।

इस सन्दर्भ में **विश्वनाथ** का यह भी कहना है कि यदि शाब्दबोध में शब्द को करण माना जाए तो मौनियों के द्वारा प्रवर्तित श्लोकादि में जहाँ शब्द का उच्चारण नहीं किया जाता है, शब्द या पद के न होने से शाब्दबोध अनुपपन्न हो जाएगा। दूसरी ओर पदज्ञान को कारण मानने पर जहाँ मौनिपुरुष के द्वारा श्लोक लिखे गये हैं, वहाँ भी इच्छित पद के ज्ञान से शाब्दबोध हो जाता है।

इस क्रम में शाब्दबोध की नव्य-न्यायप्रक्रिया को सोदाहरण समझ लेना चाहिए। इसका उपयोग छात्रों को उच्चतर अध्ययन में होगा। तद्यथा-

हम जानते हैं कि पद एवं पदार्थज्ञान के सम्बन्ध से शाब्द-बोध होता है। यथा- नीलो घटः। यहाँ 'घट' विशेष्य है, 'नील' विशेषण (प्रकार) है। यहाँ नीलनिष्ठ प्रकारता का अवच्छेदक धर्म है 'नीलत्व'। उससे अवच्छिन्न (विशिष्ट या युक्त) विशेष्य (घट) है।

जिस सम्बन्ध से प्रकार (विशेषण) विशेष्य में रहता है, वह सम्बन्ध प्रकारता का 'अवच्छेदक' सम्बन्ध कहा जाता है। जैसे- 'घटवद्भूतलम्।' यहाँ प्रकार (घट) संयोग सम्बन्ध से विशेष्य (भूतल) में है। इसलिये यहाँ घटनिष्ठ प्रकारता का अवच्छेदक सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध हुआ।

इसी प्रकार 'नीलो घटः' में प्रकार (नील) समवाय सम्बन्ध से विशेष्य (घट) में है। अतः यहाँ नीलनिष्ठप्रकारता का अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध हुआ। दूसरे शब्दों में, 'घटवद्भूतलम्' में यहाँ घटनिष्ठ प्रकारता संयोग सम्बन्धावच्छिन्न है। 'नीलो घटः' में नीलनिष्ठप्रकारता समवायसम्बन्धावच्छिन्न है। विशेष्यता और प्रकारता में निरूप्य-निरूपक भाव भी होता है। एक अन्य दृष्टि से, 'नीलो घटः' में प्रकारता (नीलत्व) निरूपित विशेष्यता (घटत्व) अथ वा विशेष्यता (घटत्व) निरूपित प्रकारता (नीलत्व) है।

अब 'नीलो घटः' को इस प्रकार समझा जा सकता है-

विशेष्य क्या है? घट

कैसा घट? घटत्व अवच्छेदक से अवच्छिन्न

वह घटत्व उसमें किस सम्बन्ध से रहता है? समवाय सम्बन्ध से

यह घट किस प्रकारता से निरूपित है? नीलनिष्ठ प्रकारता से

वह नीलत्व किस सम्बन्ध से रहता है? समवाय सम्बन्ध से

नील और घट का सम्बन्ध क्या है? तादात्म्य सम्बन्ध से

नव्य-न्याय की भाषा में घट पद की शक्ति है- **'समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितघटनिष्ठविशेष्यता।'** पुनः नील के योग से इसकी लक्षणा होगी-

समवायसम्बन्धावच्छिन्ननीलनिष्ठप्रकारतानिरूपितनीलाश्रयनिष्ठविशेष्यता।

अब 'नीलो घटः' की व्याख्या होगी-

'समवायसम्बन्धावच्छिन्ननीलत्वावच्छेदकतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-नीलनिष्ठप्रकारतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वनिष्ठावच्छेदकता-निरूपितघटनिष्ठविशेष्यता।

इसी तरह, 'घटवद् भूतलम्' को इस प्रकार कहा जा सकता है-संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितसम्बन्धित्वावच्छिन्न-विशेष्यत्वाच्छिन्नप्रकारतानिरूपितभूतलत्वावच्छिन्न(भूतलनिष्ठ) विशेष्यता-निरूपकं ज्ञानमिति घटवद्भूतलमित्याकारकं ज्ञानमिति।

इसी प्रकार, 'नीलघटवद् भूतलम्' की व्याख्या इस प्रकार की होगी-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ननीलत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितघटत्वावच्छिन्नविशेष्य-त्वावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितसम्बन्धित्वाव-च्छिन्नविशेष्यत्वाच्छिन्नप्रकारतानिरूपितभूतलत्वावच्छिन्न(भूतलनिष्ठ) विशेष्यता निरूपकं ज्ञानमिति नीलघटवद्भूतलमित्याकारकं ज्ञानमिति।

भारतीय दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध एवं वैशेषिक को छोड़कर सभी शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक दर्शन न्यायप्रवर्तित शब्द को प्रमाण मानते हुए भी स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर इसे अनुमान में अन्तर्भूत कर लेते हैं। किन्तु अन्नम्भट्ट ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि शाब्दज्ञान से उत्पन्न होने वाला अनुव्यवसाय अनुमान से उत्पन्न होने वाले अनुव्यवसाय से सर्वथा भिन्न है। शाब्दज्ञान के पश्चात् हमें 'शब्दात् प्रत्येमि' का बोध होता है जब कि अनुमिति के पश्चात् हमें 'अनुमिनोमि' का बोध होता है।

अन्नम्भट्ट ने न्यायपरम्परा का अनुसरण करते हुए चार प्रमाणों का ही विवेचन किया है। किन्तु अन्य विचारकों ने इसकी संख्या दस तक गिनायी है। उक्त चारों प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य छः प्रमाण हैं- अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य, चेष्टा तथा परिशेष। दीपिका ने शेष छः प्रमाणों का तार्किक अन्तर्भाव न्यायसम्मत चारों प्रमाणों में ही दिखा दिया है।

॥इति शब्दपरिच्छेदः॥

अवशिष्टपरिच्छेदः

अयाथार्थानुभवस्त्रिविधः– संशयविपर्ययतर्कभेदात्। एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः। यथा– स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा– शुक्ताविदं रजतमिति। व्याप्याऽऽरोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा– यदा वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति।

अयथार्थानुभव तीन प्रकार के हैं– संशय, विपर्यय एवं तर्क। एक धर्मी में विरोधी नाना धर्मों की विशिष्टता से सम्बद्ध ज्ञान संशय है। यथा– यह स्थाणु है या पुरुष। मिथ्या ज्ञान विपर्यय है। यथा– शुक्ति (सीपी) में यह रजत है ऐसा ज्ञान। व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। यथा– जब अग्नि नहीं होती तो धुआँ भी नहीं होता।

तन्वी व्याख्या– इससे पूर्व गुण विवेचन के क्रम में सोलहवें गुण बुद्धि के प्रथम भेद यथार्थ का विश्लेषण किया गया। अब इसके द्वितीय भेद के क्रम में हम पुनः बुद्धि के अवशिष्ट प्रकरण पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। इस स्थलविशेष पर पीछे की बातों का हम स्मरण कर लें, जहाँ बुद्धि के दो भेद किये गये थे– स्मृति एवं अनुभव। पुनः अनुभव के दो भेद किये गये थे– यथार्थ तथा अयथार्थ। यथार्थ के चार भेदों का विश्लेषण शब्द प्रमाण तक किया गया। अब यहाँ अयथार्थ का विश्लेषण किया जा रहा है।

यथार्थ के विपरीत अनुभव को अयथार्थ कहते हैं। जो अर्थ जैसा है, उसका वैसा ही अनुभव नहीं होना अयथार्थ कहलाता है। इसी को अप्रमा भी कहा जाता है। अयथार्थ अनुभव तीन प्रकार का होता है– संशय, विपर्यय एवं तर्क।

किसी एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे– एक ही वस्तु को देखने पर स्थाणु अथ वा पुरुष का ज्ञान होना संशय ज्ञान है। वस्तु के अनुरूप ज्ञान नहीं होने के कारण ही इसे अयथार्थ अनुभव कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि संशयज्ञान में एक ही अधिकरण में अनेक विरोधी धर्मों का बोध होता है। ये धर्म या विकल्प 'कोटि' कहे जाते हैं।

जहाँ किसी पदार्थ का अवधारण या निश्चय नहीं हो, वहाँ संशय होता

है। जैसे- स्थाणुर्वा पुरुषो वा। यहाँ एक ही वस्तु में दो भिन्न-भिन्न विरोधी गुणों- स्थाणुत्व एवं पुरुषत्व- का आरोपण है। इन दोनों में कौन सा ज्ञान ठीक है- इसका निश्चय नहीं हो पा रहा। ऐसे ही सन्दिग्ध अनुभव को संशय कहते हैं। इस प्रकार संशय में अनिवार्यतः ये तीन बातें होनी चाहिएँ-

(क) नाना धर्मों का ज्ञान,

(ख) उन धर्मों का परस्पर विरोधी होना तथा

(ग) इन धर्मों का एक ही आधार होना।

विपर्यय विपरीत ज्ञान होता है। जो वस्तु जैसी नहीं है उसका उस रूप में ज्ञान विपर्यय है। इसे मिथ्या प्रतीति भी कहा जाता है। यथा- सीपी में रजत का आरोप। दूर से चमकती हुई सीपी को देखकर यह समझ लिया जाता है कि अमुक वस्तु रजत है, जो वस्तुतः रजत नहीं होता है। यही विपर्यय है। मृगतृष्णा, रस्सी को सर्प समझना आदि भी विपर्यय है। इसे भ्रम भी कहा जाता है। भ्रमज्ञान के विश्लेषण के आधार पर ही **ख्यातिपञ्चक सिद्धान्त** का विकास हुआ। प्रसङ्गवश विभिन्न दर्शनों में प्रचलित भ्रम की व्याख्या करने वाले उन पाँच ख्यातिवादों का यहाँ नाम निर्देशमात्र किया जा रहा है, तद्यथा-

(क) विज्ञानवादी बौद्ध	-	आत्मख्याति
(ख) शून्यवादी बौद्ध	-	असत्ख्याति
(ग) प्राभाकर मीमांसक	-	अख्याति
(घ) नैयायिक	-	अन्यथाख्याति
(ङ) वेदान्ती	-	अनिर्वचनीयख्याति (अध्यास)

न्याय दर्शन के अनुसार किसी भिन्न स्थल पर जब चमकती हुई शुक्ति के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है तो सादृश्य के कारण अन्यत्र दृष्ट रजत का ज्ञान होता है। यहाँ शुक्ति में रजतत्व धर्म नहीं होता पुनरपि चमक का सादृश्य होने से रजतत्व के अभाव में शुक्ति में रजतत्व विशेषण के रूप में भासित होता है। यही मिथ्याज्ञान, विपर्यय या भ्रम है।

समान से प्रतीत होने वाले संशय एवं विपर्यय में भेद है। संशय ज्ञान निश्चायक नहीं होता। विपर्यय में असत् वस्तु का निश्चय हो जाता है। यह स्थाणु है या पुरुष - ऐसा सन्देह संशय है। 'यह स्थाणु ही है' ऐसा मिथ्या अवधारण विपर्यय है।

तीसरा अयथार्थ अनुभव **तर्क** है। तर्क एक प्रक्रिया है। यह निश्चय से पूर्व की अनिश्चयावस्था है। **तर्कभाषाकार** ने इसे अनिष्ट प्रसङ्ग कहा है- **तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः**। **अन्नम्भट्ट** के अनुसार व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। यथा- अग्नि नहीं होती तो धूम नहीं होता। इसमें अग्नि का अभाव व्याप्य है तथा धूम का अभाव व्यापक। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-

पर्वत पर उठे हुए धुएँ को देखकर हम सोचते हैं कि **यद्यत्राग्न्यभावः स्यात्तर्हि धूमाभावः स्यात्** अर्थात् यदि यहाँ अग्नि का अभाव रहता तो धूम का भी अभाव होता। जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव होता, वहाँ-वहाँ धूम का भी अभाव होता है। अतः अग्न्यभाव एवं धूमाभाव में **व्याप्य-व्यापकसम्बन्ध** है; जहाँ अग्न्यभाव व्याप्य तथा धूमाभाव व्यापक। यहाँ अग्न्यभाव के आरोपण से धूमाभाव भी आरोपित हो जाता है, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है। इसलिये अग्न्यभाव (व्याप्य का आरोपण) मिथ्या सिद्ध होता है। इस तरह अग्न्यभाव का मिथ्यात्व सिद्ध होने से उस अग्नि का भाव समुपचित होता है। यही तर्क है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि तर्क एक युक्ति है जिसमें किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि के लिये उसकी विपरीत कल्पना के दोष दर्शाये जाते हैं। यह एक प्रकार का ऊह (कल्पना) है, यही कारण है कि इसे प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं माना जाता। किन्तु यथार्थ ज्ञान में सहायक अवश्य ही होता है।

अन्नम्भट्ट ने **दीपिका** में तर्क पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि यद्यपि तर्क विपर्यय के अन्तर्गत ही आता है पुनरपि प्रमाणों का अनुग्राहक (समर्थक) होने के कारण इसका पृथक् कथन किया गया है।

प्राचीन नैयायिकों ने ग्यारह प्रकार के तर्कों का परिगणन किया है, जिनमें नव्यनैयायिकों ने केवल पाँच को ही स्वीकार किया है। ये हैं- आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा तदन्यबाधितार्थप्रसङ्ग।

संशय एवं विपर्यय की तरह ही साम्य प्रतीत होने वाले तर्क एवं विपर्यय में भी भेद है। तर्क जान बूझ कर स्वीकार किया जाने वाला मिथ्या ज्ञान है जब कि विपर्यय अज्ञानवश प्राप्त मिथ्या ज्ञान है जिसकी हमें प्रतीति नहीं हो पाती।

स्मृतिरपि द्विविधा- यथार्थाऽयथार्था च। प्रमाजन्या यथार्था। अप्रमाजन्याऽयथार्था।

स्मृति भी दो प्रकार की है- यथार्थ एवं अयथार्थ। प्रमा से उत्पन्न होने वाली (स्मृति) यथार्थ है। अप्रमा से उत्पन्न होने वाली (स्मृति) अयथार्थ है।

तन्वी व्याख्या- बुद्धि का द्वितीय प्रकार स्मृति है। यह भी अनुभव की तरह यथार्थ एवं अयथार्थ रूप से दो प्रकार की है। स्मृति, अनुभव के संस्कार पर आधारित है। अनुभव जैसा होगा स्मृति भी वैसी होगी।

यथार्थानुभव रूप प्रमा से जो स्मृति उत्पन्न होती है, वह यथार्थ स्मृति है। यथा- सीपी को देखने के बाद भी सीपी की ही स्मृति होती है, इसलिए यह यथार्थ स्मृति है। इसी प्रकार अयथार्थानुभव रूप प्रमा से उत्पन्न स्मृति अयथार्थ कहलाती है। यथा- सीपी में यद्यपि रजतत्व नहीं है तथापि उसमें रजतत्व का भान होना अयथार्थ स्मृति है। यह भी एक प्रकार की मिथ्या प्रतीति ही है।

सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्। सर्वेषां प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। इच्छा कामः। क्रोधो द्वेषः। कृतिः प्रयत्नः। विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः।

बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्नाः द्विविधाः- नित्या अनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य, अनित्या जीवस्य।

सबके अनुकूल प्रतीति सुख है। सबके प्रतिकूल प्रतीति दुःख है। काम इच्छा है। क्रोध द्वेष है। कृति प्रयत्न है। विहित कर्मों से उत्पन्न धर्म है। निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न अधर्म है। बुद्धि आदि आठ मात्र आत्मा के विशेष गुण हैं। बुद्धि, इच्छा एवं प्रयत्न दो प्रकार के हैं- नित्य और अनित्य। नित्य ईश्वर के, अनित्य जीव के।

तन्वी व्याख्या- शेष गुणों का यहाँ निरूपण किया जा रहा है। जिसका समस्त आत्माओं के द्वारा अनुकूल अनुभव किया जाता है, वह सुख है। इसे प्रीति भी कहते हैं। सारे प्राणियों के द्वारा अनुकूल अनुभव के योग्य विषय सुख है। सारे प्राणियों के प्रतिकूल चिन्तन का विषय दुःख है। यह

अप्रीत्यात्मक होता है। इसमें समस्त आत्माओं के द्वारा प्रतिकूल अनुभव किया जाता है। **न्यायबोधिनी** के अनुसार सुख वह जो स्वयं के लिये अभीष्ट होता है- **इतरेच्छानधीनेच्छाविषयः**। सारे प्राणियों के प्रतिकूल चिन्तन का विषय दुःख है। **गोवर्धन मिश्र** यहाँ प्रतिकूल का अर्थ करते हैं कि 'जो स्वतः द्वेष का विषय हो' तदनुसार वे दुःख का लक्षण इस प्रकार करते हैं- **इतरेषामधीनद्वेषविषयत्वम्**। अर्थात् दुःख भी स्वयं विद्वेष का कारण है।

इच्छा का अर्थ है कामना। जो वस्तु अभी प्राप्त नहीं है, वह प्राप्त हो जाए, ऐसी भावना ही इच्छा है। इच्छा के द्वारा ही किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है; इसलिये धर्म और अधर्म दोनों का मूल इच्छा है। इच्छा के विषय अनन्त हैं। यथा- अभिलाष, काम, राग, सङ्कल्प आदि। आत्मा एवं मन के संयोग से सुख या स्मृति के कारण इच्छा उत्पन्न होती है।

द्वेष का अर्थ है **क्रोध**। यह जीवात्मा का विशेष गुण है। आत्मा एवं मन के संयोग से- दुःख या दुःख की स्मृति के कारण- द्वेष उत्पन्न होता है। इच्छा की तरह ही द्वेष भी प्रयत्न, स्मृति, धर्म एवं अधर्म का मूल है। 'किसी का अहित करना'- ऐसा प्रयत्न द्वेष के ही कारण होता है। जिसका अहित करना होता है उसका निरन्तर स्मरण होता है- यह द्वेष स्मृति के कारण होता है। निर्दोष व्यक्ति से द्वेष करना अधर्म है। धर्मरक्षार्थ विधर्मियों से द्वेष करना धर्म है।

कृति को **प्रयत्न** कहते हैं। प्रयत्न वास्तविक क्रिया नहीं है अपि तु किसी कार्य को करने के लिये पूर्व ही सन्नद्ध हो जाना प्रयत्न है। यह एक प्रकार की मानसिक क्रिया है। इससे भिन्न चेष्टा है, जिसमें हस्त, पादादिचालनरूप शारीरिक क्रिया होती है।

वेदविहित कर्मानुष्ठान से उत्पन्न **धर्म** है तथा वेदनिषिद्ध कर्मानुष्ठान से उत्पन्न **अधर्म** है। ये सामान्यतः क्रमशः पुण्य और पाप भी कहलाते हैं। यथा- **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**- यह श्रुति की आज्ञा है। अतः ज्योतिष्टोम से पुण्य होगा। **न कलञ्जं भक्षयेत्**- यह श्रुति का निषेध है, इसलिये कलञ्ज खाने से पाप होगा।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म एवं अधर्म ये आत्मा के आठ विशेष गुण हैं। इनमें बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं तथा जीवमात्र की बुद्धि, इच्छा एवं प्रयत्न अनित्य हैं। शेष पाँच विशेष गुण जीवमात्र में रहने के कारण अनित्य हैं। यहाँ विशेष गुण से तात्पर्य है कि जो एक समय में एक ही पदार्थ में रहता है, दो या उससे अधिक में नहीं, जैसे- संख्या।

संस्कारस्त्रिविधः वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्तिः। अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थाऽऽपादकः स्थितिस्थापकः कटादिपृथिवीवृत्तिः। इति गुणाः।

संस्कार त्रिविध है- वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक। वेग, पृथिवी आदि चार द्रव्य तथा मन में रहता है। अनुभव से उत्पन्न तथा स्मृति का हेतु भावना है, यह केवल आत्मा में रहती है। अन्यथा की हुई को पुनः उसी अवस्था में ला देने वाला स्थितिस्थापक है, यह कटादि पृथिवी में रहता है। ये ही गुण हैं।

तन्वी व्याख्या- संस्कार का कहीं कोई लक्षण उपलब्ध नहीं होता, यहाँ तक कि **अन्नम्भट्ट** ने अपनी दीपिका में भी इसकी परिभाषा नहीं की है। **पदकृत्यकार आचार्य चन्द्रजसिंह** ने संस्कार की परिभाषा में कहा है कि सामान्य गुण तथा आत्मा में रहने वाले विशेषगुण- इन दोनों प्रकार के गुणों में रहने वाले और गुणत्व व्याप्य जाति के आश्रय को संस्कार कहते हैं- **सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् संस्कारः। तर्कभाषाकार** ने एक संक्षिप्त परिभाषा में कहा है कि संस्कारसम्बन्धी व्यवहार का असाधारण कारण संस्कार है- **संस्कारव्यवहारासाधारणं कारणं संस्कारः।**

संस्कार के तीन भेद है- वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक।

वेग- वेग क्रिया का हेतु है। यह पृथिवी आदि चार द्रव्य तथा मन में रहता है। इसे पतन का असमवायिकारण भी कहा जाता है- **द्वितीयादिपतनासमवायिकारणं वेगः (पदकृत्य)।**

भावना- यह अनुभव से उत्पन्न होती है तथा स्मृति की हेतु है। यह मूलतः ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने वाला गुण है जो पूर्वगृहीत ज्ञान की स्मृति कराती है। यह केवल आत्मा मात्र में रहती है।

स्थितिस्थापक- यह वह शक्ति है जो पदार्थ को अपने पूर्व रूप में ले आती है। यह कट (चटाई) प्रभृति पदार्थों में पायी जाती है। इसका स्वरूप भौतिक विज्ञान की प्रत्यास्थता (Elasticity) नामक गुण से साम्य रखता है।

।।इति गुणलक्षणप्रकरणम्।।

कर्मलक्षणप्रकरणम्

चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधोदेशसंयोगहेतुरवक्षेपणम्। शरीरसंनिकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम्। विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्ति।

जो क्रिया चलनात्मक है, वह कर्म है। ऊर्ध्वदेश में संयोग का हेतु उत्क्षेपण है। अधोदेश (नीचे की ओर) में संयोग का हेतु अवक्षेपण है। अपने शरीर के सन्निकृष्ट देश में संयोग का हेतु आकुञ्चन है। अपने शरीर से दूरवर्ती (विप्रकृष्ट) संयोग हेतु प्रसारण है। अन्य सारा गमन है। यह पृथिवी आदि चार द्रव्य तथा मन में रहता है।

तन्वी व्याख्या- तृतीय पदार्थ कर्म गति या क्रिया को व्यक्त करता है। यह क्रिया, द्रव्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। गुण की तरह कर्म के भी विभिन्न अर्थ हैं। विभिन्न शास्त्रों में इसके विभिन्न अर्थ किये गये हैं। जैसे-

(क) व्याकरण में द्वितीय कारक को कर्म कहा गया है।[1]

(ख) अन्य वैयाकरणों के अनुसार, कारण-व्यापार का विषय कर्म है।[2]

(ग) गीता में त्रिविध कर्म का उल्लेख है- सात्त्विक, राजस एवं तामस।

(घ) मीमांसकों ने भी तीन कर्मों को माना है- नित्य, काम्य एवं नैमित्तिक।[3]

किन्तु न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में उपर्युक्त सारी मान्यताओं से भिन्न कर्म एक पृथक् पदार्थ है। यह कर्म, द्रव्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता ही नहीं, द्रव्य का धर्म भी है। अन्य शब्दों में, कर्म सदा किसी द्रव्य में ही होता है। मादुड़ी ने कर्म के विषय में कहा है कि द्रव्यों में परिवर्तन अथ वा गति का यह साक्षात् कारण ही वैशेषिक दर्शन में 'कर्म' पदार्थ है।[4] कर्म केवल मूर्त द्रव्यों में रहता है, विभु द्रव्यों में नहीं। तर्कसंग्रह में कर्म को चलनात्मक कहा गया है- चलनात्मकं कर्म अर्थात् यह स्वयं क्रियारूप है। वायु से पत्ते

---

1. कर्तुरीप्सिततमं कर्म। अष्टा. 1. 4. 49.
2. शशधरादयस्तु कारणव्यापारविषयः कर्मेत्याहुः। न्या० को०, पृ.208.
3. श्लो०वा०, 110.
4. Bhaduri, SNVM. p.134.

हिलते हैं, जल में लहरें उठती हैं, मनुष्य-पशु-पक्षी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। ये सारी गतियाँ कर्म नामक पदार्थ के अन्तर्गत ही आती हैं।

दीपिका में कर्म की दो परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं-

(i) **संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म- संयोग से भिन्न होने पर भी संयोग का असमवायिकारण होना, कर्म है।** ध्यातव्य है कि कर्म के द्वारा ही एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यों के साथ संयोग होता है। सम्भवतः इसीलिये कर्म को संयोग और विभाग का कारण माना जाता है।

(ii) **कर्मत्वजातिमद्- कर्म कर्मत्वजाति से युक्त होता है।** कर्मत्व जाति उस पदार्थ में रहती है जो नित्य नहीं है। **न्याय-वैशेषिक** के अनुसार जाति या सामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों पदार्थों में रहती है। यहाँ द्रव्य एवं गुण दोनों नित्य हैं, जवकि कर्म नित्य न होकर क्षणिक होता है। अतः कर्मत्व की नित्यता नहीं है।

इस विवेचन के आधार पर कर्म की निम्न विशेषताएँ दी जा सकती है-

(क) कर्म द्रव्य में समवेत रहता है।

(ख) कर्म संयोग एवं विभाग का साक्षात् कारण होता है।

(ग) कर्म कर्मत्वजातिमान् होता है तथा

(घ) कर्म द्रव्यों में स्थित विभिन्न परिवर्तनों का कारण होता है।

प्रशस्तपाद ने कुछ उपाधियों के कारण ही, कर्म का होना बतलाया है, जिनमें ये मुख्य हैं-

(क) **गुरुत्व** (Heaviness)- गुरु (भारी) द्रव्य पृथ्वी की ओर आते हैं। अतः गुरुत्व कर्म का कारण है।

(ख) **द्रवत्व** (Fluidity)- जल आदि तरल पदार्थों में गति का कारण तरलता अथ वा द्रवत्व ही है।

(ग) **भावना-** इसी के कारण जीवात्मा में क्रियाशीलता आती है।

(घ) **संयोग-** गति का आविर्भाव संयोग के कारण भी होता है। वृक्ष से टूटे हुए फलों का संयोग जब पृथ्वी से होता है तो वह कर्म कहलाता है।

इस कर्म की कुछ स्वाभाविक विशेषताएँ हैं। यथा-

(क) कर्म अनित्य होता है अर्थात् इसकी सत्ता एक सीमित समयान्तराल तक होती है।

(ख) यह सभी द्रव्यों में नहीं पाया जाता।

(ग) कर्म से निश्चित द्रव्यों का निर्माण नहीं होता।

(घ) कर्म निर्गुण होता है।

वैशेषिकसूत्र से प्रारब्ध परम्परा का ही पालन करते हुए **अन्नम्भट्ट** ने उत्क्षेपण (Throwing Upward), अवक्षेपण (Downward Movement), आकुञ्चन (Contraction), प्रसारण (Expansion) तथा गमन (Locomotion)- इस प्रकार से कर्म के पाँच भेद किये हैं। किन्तु **दीपिका** में भ्रमण आदि अन्य कर्मों की भी उन्होंने शङ्का उठायी है, उसका पुनः अन्तर्भाव गमन में ही उन्होंने दर्शा दिया है। इन विभाजनों को **डॉ० दयानन्द भार्गव** ने अत्यन्त वैज्ञानिक बताते हुए कहा है कि-

गति तीन प्रकार की हो सकती है ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर या वक्र। वक्र गति भी दो प्रकार की है- दूरगामी और निकट लाने वाली और यही चार गतियाँ यहाँ दी गयी हैं। शेष प्रकार की गतियाँ गमन में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। अतः कर्म का विभाजन करते समय यादृच्छिक विभाजन नहीं किया गया, प्रत्युत इसका एक वैज्ञानिक आधार मन में रखा गया है।[1]

कर्म के पाँच भेदों में प्रथम उत्क्षेपण है। उत्क्षेपण का अर्थ है- ऊपर की ओर उछालना। उत्क्षेपण उस कर्म को कहते हैं जिसके द्वारा वस्तु का संयोग ऊपर के प्रदेश से होता है। यथा- गेंद का आकाश की ओर फेंकना।

अवक्षेपण उसे कहते हैं जिससे वस्तु का नीचे के प्रदेश से संयोग होता है। यथा- छत से नीचे की ओर गेंद फेंकना।

जिसके द्वारा वस्तु के अवयव सामान्य अवस्था में एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। जैसे- हाथ-पैर मोड़ना। इसे सिकुड़ना भी कहते हैं।

प्रसारण का अर्थ है फैलना। इस कर्म में वस्तु के अवयव एक दूसरे से दूर हो जाते हैं। जैसे- वस्त्र आदि का फैलाना।

उक्त चारों कर्मों के अतिरिक्त सारे कर्म गमन के अन्तर्गत आते हैं। जैसे- भ्रमण आदि।

उक्त कर्म पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन में रहते हैं।

।।इति कर्मलक्षणप्रकरणम्।।

---

1. त० सं०, पृ. 14.

सामान्यलक्षणप्रकरणम्

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद् द्विविधम्- परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादि।

सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में रहने वाला है। यह द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहता है। यह दो प्रकार का है- पर तथा अपर। पर (सामान्य) सत्ता है द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य हैं।

तन्वी व्याख्या- संसार में वस्तुओं की विविधता है किन्तु उन वस्तुओं में भिन्नता होते हुए भी कुछ समानता है। जैसे- राम, कृष्ण, सीता, राधा आदि इनमें भिन्नता होते हुए भी उन्हें समान रूप से मनुष्य कहा जाता है। इसी प्रकार संसार की सारी गायें, बकरियाँ आदि में भी भेद होते हुए भी उन्हें पशु या प्राणी इस एक नाम से पुकारा जाता है।

न्यायवैशेषिक के अनसुार इस अनुभूति का आधार **सामान्य** या **जाति** है। यह वह **पदार्थ** है जिसके कारण एक ही प्रकार के विभिन्न व्यक्तियों में समानता का बोध होता है तथा उन्हें एक जाति के अन्दर रखा जाता है। सामान्य को **'जाति'** भी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, यह वह जातिगत लक्षण है, जो एक वर्ग की सभी अलग-अलग वस्तुओं में निहित होता है। किसी भी वर्ग की अलग-अलग इकाइयाँ आ जा सकती हैं किन्तु सम्पूर्ण वर्ग का जातिगत गुण सदैव बना रहता है।

सामान्य दो प्रकार का है- **पर** एवं **अपर**। **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** में पर को अधिक देश में रहने वाला बताया है- **परमधिकदेशवृत्ति**। अपर सामान्य कम देश में रहता है- **अपरं न्यूनदेशवृत्ति**। सत्ता एवं द्रव्यत्व इन दोनों के क्रमशः उदाहरण हैं। सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म में समवेत रहता है। द्रव्यत्व केवल द्रव्य में ही रहता है। यह वर्गीकरण निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है क्योंकि 'द्रव्यत्व' 'सत्ता' की तुलना में अपर हो सकता था तथा 'घटत्व' की तुलना में पर।

तर्कामृत में इसके तीन भेद प्राप्त होते हैं- व्यापक (सबसे बड़ा), व्याप्य (सबसे छोटा) तथा व्याप्यव्यापक (मध्यम)। यहाँ 'सत्ता' व्यापक है, 'घटत्व' व्याप्य है तथा 'द्रव्यत्व' व्याप्यव्यापक है।

सामान्य को जाति, सत्ता, भाव आदि नामों से जाना जाता है। सामान्य के लक्षण में मुख्य रूप से तीन बातें समाविष्ट हैं-

(क) नित्य होना (नित्यम्)

(ख) अनेकों में रहना (अनेकानुगतम्) तथा

(ग) समवाय सम्बन्ध से रहना (समवेतत्वम्)

इनमें से एक के बिना भी 'सामान्य' का लक्षण दूषित हो जाता है। क्योंकि–

1. यदि इसका लक्षण केवल 'अनेकों में रहना' तथा 'समवाय सम्बन्ध से रहना' करें तो यह लक्षण संयोग नामक गुण में चला जाएगा। किन्तु नित्य कहने से यह संभावना निर्मूल हो जाती है क्योंकि संयोग अनित्य है।
2. यदि केवल 'नित्य' तथा 'समवाय सम्बन्ध से रहना' इसकी परिभाषा करें तो यह लक्षण आकाश परिमाण में चला जाता है। 'अनेकों में रहना' इसे प्रयोग में लाने से आकाश परिमाण की शङ्का दूर हो जाती है क्योंकि आकाश परिमाण केवल आकाश में ही होता है।
3. यदि केवल 'नित्य' एवं 'अनेकों में रहना' स्वीकार करें तो यह लक्षण अत्यन्ताभाव में चला जाता है। इसी शङ्का के समाधानार्थ 'समवाय सम्बन्ध से रहना' कहा गया। अत्यन्ताभाव अपने आधार में समवायसम्बन्ध से नहीं रहता।

इस प्रकार उक्त तीनों से सम्पन्न लक्षण ही सामान्य का निर्दुष्ट लक्षण है।

सामान्य के दो प्रकारों में पर को सत्ता कहा जाता है। यहाँ 'सत्ता' शब्द अस्तित्व का द्योतक नहीं है। यह एक पारिभाषिक अथ वा लाक्षणिक शब्द है जो केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म में ही रहती है। इसे सबसे बड़ी जाति माना गया है। यह द्रव्य, गुण तथा कर्म में माना जाता है। सामान्यादि पदार्थों में कोई जाति नहीं मानी जाती है।'

कई ऐसे स्थल है जहाँ जाति का बाध होता है। **उदयनाचार्य** ने **किरणावली** में एक कारिका के माध्यम से यह बताया है कि किन-किन कारणों से किसी स्थल पर जाति का बाध होता है। इसे **जातिबाधक संग्रह** भी कहा जाता है। ये हैं–

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः।।

इसका तात्पर्य है–

1. **व्यक्तेरभेदः** (व्यक्ति का एकत्व)- जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति में रहता हो। जैसे- आकाशत्व केवल आकाश में ही रहता है। इसलिये यह जाति नहीं, प्रत्युत उपाधि है।

2. **तुल्यत्वम्** (व्यक्ति की तुल्यता)- किसी जाति के क्षेत्र से अल्प या अधिक क्षेत्र न रखने वाला जाति नहीं होता। जैसे- घट और कलश समानार्थक है। यहाँ घटत्व जाति है जबकि कलशत्व उपाधि।

3. **सङ्करः**- किसी वस्तु में पाये जाने वाले ऐसे दो धर्मों को सामान्य नहीं माना जाता जिनमें सङ्कर हो अर्थात् उनमें से एक के अभाव में भी दूसरे को कहीं भी देखा जाता है। यथा- भूतत्व एवं मूर्तत्व आदि।

4. **अनवस्थितिः** (अनवस्था)- यदि एक सामान्य में भी दूसरा सामान्य माना जाये तो अनवस्था दोष होगा। इस प्रकार द्रव्यत्वत्व आदि जाति नहीं अपि तु उपाधि है।

5. **रूपहानिः**- यदि किसी साधारण धर्म को जाति मानने पर उसके आश्रयों का स्वरूप ही नष्ट होने लग जाये तो उस साधारण धर्म को जाति नहीं माना जाता। यथा- विशेषत्व। विशेष नामक पदार्थ प्रत्येक आश्रय में भिन्न-भिन्न होता है इसलिये विशेषत्व जाति नहीं हो सकती।

6. **असम्बन्धः**- जो परस्पर असम्बद्ध हो उनकी जाति नहीं हो सकती। जैसे- समवायत्व। समवाय में अनवस्था के कारण, दूसरा समवाय न मानने से समवायत्व की जाति नहीं होती।

इस प्रकार वैशेषिक की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जहाँ कहीं समानता की प्रतीति हो वह सब जगह 'जाति' या 'सामान्य' नहीं माना जा सकता। कहीं-कहीं समानता की प्रतीति उपाधि के कारण भी होती है।

।।इति सामान्यलक्षणप्रकरणम्।।

विशेषलक्षणप्रकरणम्

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।

नित्य द्रव्य में रहने वाले व्यावर्तक विशेष हैं।

तन्वी व्याख्या– भारतीय दर्शन की एक परम्परा जो अपनी प्रतिपादन शैली से भिन्न प्रतिपाद्य विषय से जाना जाता है, वह है वैशेषिक दर्शन। इसका कारण है इसका पाँचवाँ पदार्थ। कई विद्वानों का मानना है कि इस विशिष्ट पदार्थ के विशिष्ट विवेचन के कारण ही इस दर्शन विशेष का नाम **वैशेषिक** पड़ा। यह इस दर्शन की मौलिक कल्पना है।[1]

विशेष का अर्थ है 'विश्लेषक' अर्थात् भेदक धर्म। सभी नित्य धर्मों में एक भेदक धर्म माना गया है जिसके कारण उनमें भेद की प्रतीति हुआ करती है, वही विशेष नामक पदार्थ है। विशेष व्यक्ति की पृथक्ता को दर्शाता है। सामान्य जहाँ समष्टिगत होता है वहीं विशेष व्यक्तिगत होता है।

सामान्यतया एक जाति के दो द्रव्यों में भेद कर पाना अत्यन्त कठिन होता है। प्रत्येक निरवयव नित्य द्रव्य विशेष के कारण ही एक दूसरे से भिन्न होता है। इसीलिये इस विशेष की सत्ता मानी जाती है। इस सन्दर्भ में एक यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसके उत्तर में **वैशेषिकों** का कहना है कि नित्य-द्रव्यों की परस्पर भिन्नता सिद्ध करने के लिये ही इसकी आवश्यकता पड़ी। वैशेषिक का प्रत्येक तत्त्व अन्य तत्त्वों से किसी न किसी रूप में भिन्न अवश्य है। यह भिन्नता किसी कारण पर आश्रित होनी चाहिए। सारे अनित्य द्रव्यों की पारस्परिक भिन्नता उनके अवयवों, गुणों तथा कर्म आदि की भिन्नता के कारण है। अतः अनित्य-द्रव्यों की पारस्परिक भिन्नता के लिये 'विशेष' की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु नित्य द्रव्यों विशेषतः परमाणुओं में पारस्परिक भिन्नता का निर्धारण किसी बाह्य आधार पर सम्भव नहीं है। इसलिये इन नित्य द्रव्यों में एक-एक विशेष की सत्ता मानी जाती है।

डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में, 'द्रव्यों को एक समान होना चाहिए क्योंकि वे सभी द्रव्य हैं, उन्हें एक दूसरे से भिन्न भी होना चाहिए क्योंकि

1. The term Viśeṣa yields the adjectival form Vaiśeṣika after which Kaṇāda's system became known, since the inclusion of individuators constiuted a unique feature of the school- Potter, EIP, Vol. II- p. 42.

पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। जब हम किसी गुण को अनेक पदार्थों में निहित पाते हैं तो उसे हम 'सामान्य' कहते हैं। किन्तु जब हम उस गुण से युक्त इन पदार्थों को अन्य पदार्थों से पृथक् करने वाला पाते हैं तो हम उसे विशेष कहते हैं।[1] यह विशेष नित्य द्रव्य की वह विशिष्टता है जिसके द्वारा वह अन्य नित्य द्रव्यों से पृथक् पहचाना जाता है।

अन्नम्भट्ट ने इस विशेष को नित्यद्रव्य में रहने वाला तथा अनन्त माना है। **कणाद** ने इसके लिये 'अन्त्यविशेष' शब्द का प्रयोग किया है (1.2.6)। यहाँ 'अन्त्य' से तात्पर्य है कि ये अन्त में रहते हैं तथा इनसे भिन्न और कोई विशेष नहीं होते, क्योंकि वैशिष्ट्य का समापन इन्हीं में हो जाता है। **प्रशास्तपाद** के अनुसार, 'अन्त में रहने वाले ही अन्त्य कहे जाते हैं तथा अपने आश्रयद्रव्य को अन्य सभी वस्तुओं से पृथक् करने के कारण ये विशेष कहलाते हैं।[2] यह द्रव्य, गुण, कर्म एवं सामान्य से भिन्न पदार्थ है क्योंकि ये केवल नित्य द्रव्य में ही समवेत होकर रहते हैं।[3]

प्रत्येक, नित्य द्रव्य में पृथक्-पृथक् पाये जाने के कारण विशेष अनन्त हैं। यहाँ 'नित्यद्रव्यवृत्ति' को भी समझना आवश्यक है। यह विशेष नित्यद्रव्यों में रहता है। ये नित्य द्रव्य हैं पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु एवं आकाश। प्रश्न उत्पन्न होता है कि काल, दिक्, मन और आत्मा भी तो नित्य द्रव्य हैं तो उनमें विशेष क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि काल और दिक् एक एक ही हैं अतः उनमें विशेष को स्वीकार नहीं क्या जाना चाहिए क्योंकि भेदक धर्म विशेष के लिये कम से कम दो द्रव्य तो चाहिए ही। साथ ही आत्मा एवं मन के भेदक धर्म उनके अपने गुण होते हैं।

विशेष सारे नित्य द्रव्यों में रहता है तथा नित्य द्रव्यों का परस्पर व्यावर्तक अर्थात् भेदसाधक है। इसकी व्यावर्तकता के दो आशय हैं–

(क) द्रव्य के एक परमाणु को दूसरे परमाणुओं से भिन्न करना।

(ख) स्वयं को दूसरे विशेषों से भिन्न करना। **तारोदय टीकाकार** ने इस परिप्रेक्ष्य में 'व्यावर्तक' के साथ एक शब्दविशेष 'स्वतो' जोड़कर **स्वतो व्यावर्तको विशेषः** लक्षण कर इसे एक 'स्व' को दूसरे 'स्व' से भिन्न

---

1. भारतीय दर्शन, पृ. 180.
2. 'अन्तेषु भवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः– प्र०पा०भा०, पृ. 184.
3. 'विशेषास्तु नित्यद्रव्यसमवेताः।' स०प०, पृ. 143.

करने वाला कहा है।

इस प्रकार **नैयायिकों** ने इसे पृथक्करण का आधार माना है। जैसे पृथिवी के दो परमाणु अपने स्वाभाविक रूप में प्रत्येक दृष्टि से परस्पर सदृश होते हैं। परन्तु वे पृथक्-पृथक् होते हैं, प्रत्येक में कोई पृथक् लक्षण होना चाहिए। यह पृथक् लक्षण ही उसका विशेष है। यह विशेष सामान्य नहीं है क्योंकि उस अवस्था में यह अपने स्वरूप को खो देगा तथा सामान्य के साथ मिश्रित किया जाने लगेगा।

इसकी आवश्यकता केवल उन वस्तुओं के लिए होती है, जिनमें कोई अन्य भेदक नहीं होता तथा जो नित्य होती है। दो घट आकार, रंग-रूप आदि की दृष्टि से एक समान हो सकते हैं, किन्तु जिन संघटक तत्त्वों से वे निर्मित हैं, उनकी पृथक्ता से उन्हें परस्पर पृथक् पहचाना जा सकता है। इस दृष्टि से इनके लिये विशेषों की परिकल्पना आवश्यक नहीं है। यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि विशेषों का परस्पर अन्तर क्या है? इसके समाधान के लिये यह कहा जा सकता है कि विशेष न केवल नित्य वस्तुओं को जिनमें वे होते हैं, एक दूसरे से पृथक् करते हैं अपि तु स्वयं को भी परस्पर पृथक् करते हैं- **स्वतो व्यावर्तकाः**।

विशेष के उक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-

1. विशेष 'अन्त्य' होते हैं अर्थात् ये अन्तिम द्रव्यों में रहते हैं।
2. विशेष नित्य द्रव्यों में समवेत रहता है।
3. विशेष अनन्त है क्योंकि प्रत्येक नित्यद्रव्य में एक ही विशेष रहता है।
4. विशेष में सामान्य नहीं होता।
5. विशेष स्वतो व्यावृत्त है।
6. विशेष द्रव्य, गुण, कर्म एवं सामान्य से पृथक् है।

रघुनाथ शिरोमणि प्रभृति कुछ आधुनिक **नैयायिक** विशेष को नहीं मानते। उनकी दृष्टि में परमाणुओं एवं नित्य द्रव्यों को स्वतो व्यावृत्त मान लेने से ही विशेष का प्रयोजन निष्पन्न हो जाता है। यही नहीं, यदि वस्तुएँ मौलिक रूप में परस्पर भिन्न हैं, तो उनके अन्दर किसी समान लक्षण को पाना असंभव है। **कुमारिल, प्रभाकर, बौद्ध, वेदान्ती** आदि न केवल विशेष को अस्वीकार करते हैं, प्रत्युत इसका प्रबल खण्डन भी करते हैं। **डॉ०**

राधाकृष्णन् का कथन है कि 'इस विशेष पदार्थ की केवल काल्पनिक सत्ता है, वास्तविक नहीं।'[1]

॥इति विशेषलक्षणप्रकरणम्॥

1. Individuality seems to be mere assumption as good as non-existent- IP. Vol. II, P. 231

समवायलक्षणप्रकरणम्

नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्ये, एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यथा- अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति।

समवाय नित्य सम्बन्ध है। यह अयुतसिद्ध पदार्थों में रहता है। जिन दो में से एक बिना विनष्ट होता हुआ दूसरे पर आश्रित होकर अवस्थित रहता है, वे दोनों अयुतसिद्ध होते हैं। यथा- अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति तथा विशेष एवं नित्य द्रव्य।

तन्वी व्याख्या- समवाय को वैशेषिकाचार्यों ने एक स्वतन्त्र पदार्थ माना है। यह दो वस्तुओं के मध्य वर्तमान एक प्रकार का अन्तरङ्ग अथ या घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दो वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। उदाहरणतया- तन्तु एवं पट तथा घट एवं घट का रूप। यहाँ न तो तन्तु को पट से न ही घटरूप को घट से अलग किया जा सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि समवाय को पृथक् पदार्थ मानने की क्यों आवश्यकता पड़ी जब कि संयोग की तरह यह भी एक सम्बन्ध है। इसके समाधान में निम्नलिखित कारण दिये जा सकते हैं-

(i) यह संयोग की तरह सम्बन्ध नहीं है क्योंकि संयोग सदैव दो द्रव्यों के मध्य होता है (द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोगः)। समवाय द्रव्यों के साथ-साथ द्रव्यभिन्न पदार्थों में भी हो सकता है।

(ii) यह द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि इसमें गुण नहीं हैं।

(iii) इसको गुण नहीं कहा जा सकता क्योंकि गुण केवल द्रव्य में रहते हैं जबकि समवाय के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह द्रव्य में ही रहे।

(iv) इसी कारण इसे कर्म भी नहीं कहा जा सकता।

(v) इसको सामान्य या विशेष भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो यह अनेक वस्तुओं में समानता की प्रतीति कराता है न किसी वस्तु का वैशिष्ट्य ही बताता है।

(vi) यह अभाव भी नहीं हो सकता क्योंकि समवाय में नित्यत्व होता है जो इसके भावत्व को स्पष्ट करता है।

इसके साथ ही एक अन्य सम्बन्ध **संयोग** का भी उल्लेख मिलता है। समवाय सम्बन्ध संयोग से पूर्णतया भिन्न है, क्योंकि संयोग केवल दो वस्तुओं के बीच ही हो सकता है। जैसे हस्त और पुस्तक का। **हस्तपुस्तकसंयोग** विनष्ट हो सकता है, किन्तु हस्त और पुस्तक पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। जबकि समवाय के लिये यह आवश्यक नहीं है। संयोग सम्बन्ध के एक बार नष्ट हो जाने पर, फिर से उस सम्बन्ध को स्थापित किया जा सकता है किन्तु समवाय सम्बन्ध के साथ ऐसा नहीं होता। इसके विनष्ट होने पर उस वस्तु का ही विनाश हो जाता है जिसमें समवाय सम्बन्ध होता है। यथा- पट में स्थित समवाय सम्बन्ध वाले तन्तु के विनष्ट हो जाने पर पट का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। संयोग अनित्य सम्बन्ध है जब कि समवाय नित्य।

डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार- 'यदि द्रव्य, गुण आदि प्रथम पाँच पदार्थ **न्यायवैशेषिक** रूप ढाँचे के लिये ईंटों के समान हैं तो समवाय **पदार्थ** उन ईंटों को जोड़ने वाले गारे की भाँति हैं।'[1] न्यायवैशेषिक दर्शन में इस समवाय सम्बन्ध का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि इनका **कार्यकारणसिद्धान्त** इसी पर आधारित है। यही सिद्धान्त इस दर्शन को वस्तुवादी भी बनाता है।

यह समवाय एक ही है। इसे यदि अनेक माना जाता है तो अनन्त समवायों की कल्पना करनी पड़ेगी। फलतः कल्पना गौरव होगा। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यद्यपि क्षेत्रभेद से इसके आश्रय भिन्न-भिन्न होते हैं तथापि उनमें रहने वाला **समवाय** एक ही है।

रघुनाथशिरोमणि आदि कुछ **नव्यनैयायिक** समवाय के एकत्व सिद्धान्त को न स्वीकार कर इसे अनेक मानते हैं।

यह समवाय नित्य सम्बन्ध है। यहाँ **नित्य** से तात्पर्य है कि यह कार्य की उत्पत्ति के बिना उत्पन्न नहीं होता तथा कार्य के नाश के बिना नष्ट नहीं होता।[2] दूसरे शब्दों में, यह समवाय तभी तक नित्य है जब तक कि जिन दो पदार्थों में समवाय है उनमें से कोई एक विनष्ट नहीं हो जाता। इसे अनित्य मानने की स्थिति में 'कार्य' मानना पड़ेगा। चूँकि यह एक भाव पदार्थ है,

---

1. If the first five categories, substances quality etc. are the bricks of the Nyaya-Vaiseshika structure, the mortar to unite them is provided by the sixth category Samavaya. CIR, P. 375.
2. भारतीय दर्शन-2. पृ. 188

इसकी उत्पत्ति के लिये तीनों कारण मानने होंगे, जिनकी कल्पना में कई अन्य विसंगतियाँ माननी पड़ जायेंगी।

समवाय की अयुतसिद्ध वृत्ति है। अर्थात् समवाय अयुतसिद्ध पदार्थों में ही रहता है। यहाँ **अयुतसिद्ध** से तात्पर्य है- अपृथक्सिद्ध (Inseperable)। दो पदार्थ **अयुतसिद्ध** तब कहलाते हैं जब एक पदार्थ अविनश्यत् अर्थात् विनाश की अवस्था को न प्राप्त होता हुआ दूसरे पदार्थ पर आश्रित होकर अवस्थित रहता है। **अयुतसिद्ध** का अर्थ है जो युत सिद्ध न हो। युत शब्द **√यु मिश्रणामिश्रणयोः** में से अमिश्रण अर्थ वाली यु धातु से निष्पन्न हुआ है। इस आधार पर, जो दो पदार्थ पृथक् ही होते हैं, वे युतसिद्ध कहलाते हैं। **न्याय-वैशेषिक** के मतानुसार जो युतसिद्ध नहीं होते वे **अयुतसिद्ध** कहलाते हैं।

अन्नम्भट्ट ने **अयुतसिद्ध** का लक्षण करते हुए कहा है कि जिन दो पदार्थों में एक, अविनश्यदवस्था में दूसरे पर आश्रित रहता है, वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं।

एतदर्थ **तर्कभाषाकार** की प्रस्तुत कारिका द्रष्टव्य है-

> **तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।**
> **अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते।।**

अविनश्यत् का अर्थ है नाश से अव्यवहित पूर्व क्षण में अवस्थिति। ऐसी स्थिति में ही दो पदार्थों में समवाय सम्बन्ध सम्भव है। दो पदार्थों में से एक के विनाश से यह सम्बन्ध विनष्ट होता है। ध्यातव्य है कि विनाश के क्षण में जिन दो पदार्थों के मध्य उक्त सम्बन्ध होता है वे पदार्थ विनष्ट नहीं होते अपि तु उनमें स्थित समवाय सम्बन्ध विनष्ट होता है।

इसको इस उदाहरण से समझा जा सकता है- तन्तु एवं पट अयुतसिद्ध हैं, क्योंकि यहाँ पट विनष्ट न होता हुआ तन्तु पर आश्रित है, इसलिये दोनों अयुतसिद्ध हैं। अयुतसिद्ध के पाँच उदाहरण दिये जाते हैं। ये हैं-

(क) अवयव एवं अवयवी

(ख) गुण एवं गुणी

(ग) क्रिया एवं क्रियावान्

(घ) जाति और व्यक्ति तथा

(ङ) नित्यद्रव्य एवं विशेष।

यहाँ अयुतसिद्ध पदार्थों के पाँचों उदाहरणों का विवेचन किया जा रहा है-

(क) **अवयव-अवयवी-** इसे अङ्ग तथा अङ्गी भी कहा जाता है। इनमें अङ्ग आधार तथा अङ्गी आधेय है। जैसे- कपाल और घट। घट (अवयवी) जब तक नष्ट नहीं होता कपाल (अवयव) में आश्रित होकर रहता है। यहाँ अवयव-अवयवी में अवयवी घट विनष्ट न होता हुआ अवयव कपाल में आश्रित है, इसलिये यह अयुतसिद्ध है।

(ख) **गुण-गुणी-** यहाँ गुणी से तात्पर्य द्रव्य है क्योंकि गुण द्रव्य के ही होते हैं। द्रव्य घट आदि में रूपादि गुण रहते हैं। यहाँ गुणी आश्रय है तथा गुण उसके आश्रित हैं, ये रूप गुण नष्ट हुए बिना गुणी द्रव्य में आश्रित रहता है, अतः गुण तथा गुणी अयुतसिद्ध है।

(ग) **क्रिया-क्रियावान्-** जिसमें क्रिया रहती है वह क्रियावान् है। क्रिया क्रियावान् के बिना नहीं हो सकती। यहाँ क्रियावान् ससवायी है तथा क्रिया उसमें समवेत रहती है। इनमें समवाय सम्बन्ध होने के कारण ये अयुतसिद्ध हैं।

(घ) **जाति-व्यक्ति-** जो पदार्थ अनेक वस्तुओं में समानाकारक प्रतीति का निमित्त है वह जाति कहलाती है। जैसे- सारे घटों की समानाकारक प्रतीति घटत्व है। जाति की विस्तृत व्याख्या **सामान्यप्रकरण** से समझी जा सकती है। यह घटत्व जाति सदैव घटव्यक्ति में अविनश्यत् रहती है। इस प्रकार, इन दोनों में भी अयुतसिद्ध सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(ङ) **नित्यद्रव्य-विशेष-** नित्यद्रव्यों में विशेष नामक पदार्थ रहता है, जो सदा उन द्रव्यों की अविनश्यत् अवस्था में आश्रित रहता है। अतः विशेष एवं नित्यद्रव्य दोनों अयुतसिद्ध हैं।

उक्त विवेचन के आधार पर समवाय की निम्न विशेषताएँ प्राप्त होती हैं-

1. समवाय नित्य सम्बन्ध है,
2. समवाय एक है,
3. समवाय दो या उससे अधिक अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य रहने वाला सम्बन्ध है,
4. समवाय संयोग सम्बन्ध से भिन्न है,

5. समवाय द्रव्यादि से भी भिन्न एक पृथक् पदार्थ है,
6. समवाय स्वयं कहीं समवेत होकर नहीं रहता, अपि तु अपने सम्बधियों में स्वरूप सम्बन्ध से ही रहता है,
7. नैयायिक समवाय को प्रत्यक्ष मानते हैं। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये वे विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष को कारण मानते है। जब कि वैशेषिक (**अन्नम्भट्ट**) समवाय की प्रतीति अनुमान से मानते हैं। (द्रष्टव्य दीपिका)
8. केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म ही अन्य के साथ समवाय सम्बन्ध में रह सकता है।
9. समवाय गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष को द्रव्य के साथ जोड़ता है।

समवाय सम्बन्ध की कल्पना **न्यायवैशेषिक** का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। इसी पर **न्यायवैशेषिक दर्शन** की सारी **दार्शनिक** प्रक्रिया आधारित है।

समवाय पदार्थ के विषय में यह कहा जा सकता है कि **न्याय-वैशेषिक दर्शन** का मुख्य लक्ष्य बाह्यजगत् की यथार्थता अथ वा बाह्यार्थवाद (realism) की स्थापना है और उसके लिये यह आवश्यक है **धर्म एवं धर्मी** दोनों को यथार्थ माना जाये और दोनों का भेद माना जाये। इसी प्रक्रिया की तार्किक व्याख्या उक्त **समवाय सिद्धान्त** है। जो दर्शन समवाय को नहीं मानते, वे धर्म-धर्मी में तादात्म्य मानते हैं। ऐसा होने पर या तो धर्म की सत्ता माननी पड़ेगी या धर्मी की। **बौद्धों** ने केवल धर्म की सत्ता मानी है तथा प्रत्येक प्रकार के धर्मी का निषेध किया। दूसरी ओर **सांख्य** तथा **वेदान्त** ने धर्मी की सत्ता मानी जिसकी चरम परिणति अद्वैतवाद है जहाँ सभी धर्मों का निषेध करके केवल ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार किया गया।

॥इति समवायलक्षणप्रकरणम्॥

अभावलक्षणप्रकरणम्

अनादिः सान्तः प्रागभावः। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य। सादिरनन्तः प्रध्वंसः। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य। त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथा- 'भूतले घटो नास्ती'ति। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकोऽन्योऽन्याभावः। यथा- घटः पटो ने'ति।

प्रागभाव अनादि एवं सान्त होता है। उत्पत्ति के पूर्व कार्य का प्रागभाव होता है। जिसका आदि हो अन्त न हो वह प्रध्वंसाभाव है, उत्पत्ति के अनन्तर कार्य का प्रध्वंसाभाव होता है। तीनों कालों में होनेवाला तथा जो अभाव के प्रतियोगिता संसर्ग से अवच्छिन्न (युक्त) हो वह अत्यन्ताभाव है। जैसे- भूतले घटो नास्ति अर्थात् भूतल पर घट नहीं है। जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न (युक्त) हो, उसे अन्योऽन्याभाव कहते हैं। जैसे- घटः पटो न अर्थात् घट पट नहीं है।

तन्वी व्याख्या- वैशेषिक दर्शन में सातवें एवं अन्तिम पदार्थ के रूप में अभाव का उल्लेख प्राप्त होता है। पदार्थ होने के कारण इसमें अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये तीनों गुण होते हैं। **न भावः इति अभावः** इस व्युत्पत्ति से यह द्योतित होता है कि किसी वस्तु का न होना अभाव है। **दार्शनिक** दृष्टि से किसी वस्तु का किसी विशेष काल में, किसी विशेष स्थान में अनुपस्थिति अभाव है।

वैशेषिक दर्शन के प्रारंभिक चरण में अभाव नामक पदार्थ का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। **कणाद ने प्रथम छः** भाव पदार्थों का ही विवरण दिया है। **प्रशस्तपाद** ने भी छः पदार्थों की ही चर्चा की है। बाद में उदयन, **श्रीधर, शिवादित्य** आदि परवर्ती **वैशेषिकाचार्यों** ने अभाव नामक सातवें पदार्थ का परिगणन किया। इसे स्वीकार करने से यह बात स्पष्ट होती है कि **वैशेषिकाचार्य** यथार्थवाद की धारणा को तार्किक अतिवाद तक ले जाना चाहते थे।

प्राचीन आचार्यों ने चूँकि अभाव का उल्लेख नहीं किया है इसलिये इसका लक्षण प्राप्त नहीं होता। **अन्नम्भट्ट** ने भी इसका लक्षण नहीं दिया है। अन्य आचार्यों ने इसे इस रूप में परिभाषित किया है-

अभाव की व्याख्या सामान्यतः भावभिन्नः पदार्थः प्रतियोगिज्ञानाधीनोऽभावः की जाती है। अभाव का लक्षण करते हुए **उदयनाचार्य** ने इसे नञर्थक ज्ञान का विषय कहा है।[1] **विश्वनाथ** ने कहा है कि द्रव्य आदि छः पदार्थों का अन्योन्याभाव ही अभाव है।[2] **तर्कसंग्रह** के व्याख्याकार **अथल्ये-बोडास** इसे **भावभिन्नत्व** कहते हैं अर्थात् जो भाव पदार्थों से भिन्न हो, वह अभाव है। **डॉ० राधाकृष्णन्** ने कहा है कि जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब वस्तु के भावात्मक पक्ष पर बल दिया जाता है और जब हम एक सम्बन्ध की बात करते हैं तो वस्तु के अभावात्मक पक्ष पर बल दिया जाता है।[3]

अभाव का ज्ञान हमें तभी हो सकता है जब उसके प्रतियोगी का ज्ञान हो। इस प्रकार घटाभाव का ज्ञान हमें तभी हो सकता है जब कि हमें घट का ज्ञान होगा, जो कि घटाभाव का प्रतियोगी है। यही कारण है कि **शिवादित्य** ने कहा है कि अभाव वह है जिसका ज्ञान अपने प्रतियोगी ज्ञान पर निर्भर है- **प्रतियोगिज्ञानाधीनोऽभावः**। यहाँ प्रतियोगी से तात्पर्य है- जिसका अभाव होता है- **यस्याभावः स प्रतियोगी।**

अभाव के चार भेद हैं- **प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव** तथा **अन्योऽन्याभाव।**

अभाव का वर्गीकरण निम्न तालिका द्वारा किया जा सकता है-

(अनादि एवं सान्त) (सादि एवं अनन्त) (अनादि एवं अनन्त) (अनादि एवं अनन्त)
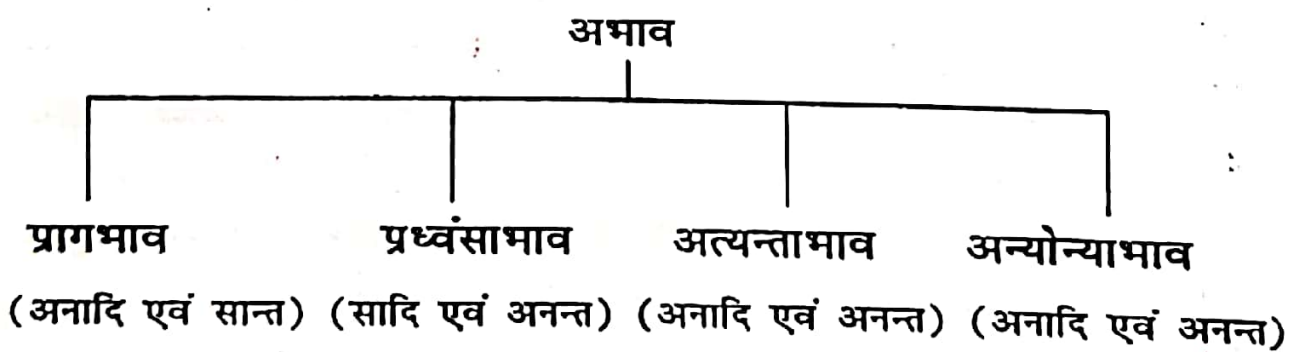
उत्पत्ति के पूर्व होने वाले अभाव को प्रागभाव, विनाश के बाद किसी वस्तु के अभाव को प्रध्वंसाभाव, दो वस्तुओं के सम्बन्धों का तीनों कालों में होने वाले अभाव को अत्यन्ताभाव तथा दो वस्तुओं की परस्पर भिन्नता को अन्योन्याभाव कहा जाता है।

---

1. **नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः।**- लक्षणा०, पृ. 26.
2. **द्रव्यादिषट्कान्योऽन्याभाव इति।** न्या० सि० मु०, पृ. 69.
3. भारतीय दर्शन, पृ. 189-90.

उक्त चारों प्रकारों का विस्तृत विवरण अग्राङ्कित हैं-

1. **प्रागभाव** (Prior Non-Existence)- **न्यायवैशेषिक** असत्कार्यवादी है। इसीलिये वे उत्पत्ति से पूर्व कारणों में कार्य का अभाव मानते हैं। यह अभाव अनादि तथा सान्त होता है अर्थात् यह वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व रहता है तथा उस वस्तु के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** में इसकी तीन विशेषताएँ दर्शायी हैं-

(क) यह अपने प्रतियोगी (घट) के समवायिकारण में रहता है। जैसे- घट का प्रागभाव मृत्परमाणुओं में।

(ख) प्रागभाव अपने प्रतियोगी (कार्य) का जनक भी होता है। कार्यारम्भ उसके प्रागभाव का नाशक होता है। अतः कार्य की परिभाषा है - **प्रागभावप्रतियोगिकार्यम्।**

(ग) 'कार्य उत्पन्न होगा' ऐसे व्यवहार का हेतु ही कार्य है।

घट की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाले घट के अभाव को प्रागभाव कहते हैं जो अनादि काल से चला आ रहा था किन्तु घट की उत्पत्ति होते ही नष्ट हो गया।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार, आरम्भ होने के पहले कार्य का सर्वथा अभाव है। वह कारण विशेष से किसी विशिष्ट काल में उत्पन्न होता है। यही उसका प्रथमारम्भ होता है। इस सिद्धान्त को **आरम्भवाद** कहा जाता है। यही सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक के **असत्कार्यवाद** का भी आधार है।

2. **प्रध्वंसाभाव** (Posterior Non-Existence)-, उत्पन्न वस्तु का विनाश प्रध्वंस है। जैसे- घट का टूटना उसका प्रध्वंस है। यह घट एक कार्य था, टूटने के बाद उसका प्रध्वंसाभाव हो गया। **अन्नम्भट्ट** के अनुसार सादि, किन्तु अनन्त अभाव प्रध्वंसाभाव है- **सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः।** यह कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् पाया जाता है। प्रागभाव की ही भाँति प्रध्वंसाभाव की भी तीन विशेषताएँ बतायी गयी हैं, जैसे-

(अ) यह अपने कार्य (के नाश) से जन्य होता है।

(आ) यह भी अपने प्रतियोगी (कार्य) के समवायिकारण में ही पाया जाता है।

(इ) 'नष्ट हो गया' इत्यादि व्यवहार का हेतु यही प्रध्वंसाभाव होता है।

यह प्रध्वंसाभाव प्रागभाव के सर्वथा विपरीत है। यह कार्य के ध्वंस के

अनन्तर जन्म लेता है- विनाशानन्तरं कार्यस्य, किन्तु इसका कभी नाश नहीं होता, इसलिये यह अनन्त है।

3. **अत्यन्ताभाव** (Absolute Non-Existence)- अत्यन्ताभाव वह अभाव होता है जो तीनों कालों में रहे। अन्नम्भट्ट के अनुसार, अत्यन्ताभाव का लक्षण है- **त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः** अर्थात् जिस अभाव का प्रतियोगी त्रैकालिक अर्थात् तीनों कालों में हो, जिस अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग या संयोग सम्बन्ध से युक्त हो, वह अत्यन्ताभाव कहलाता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जहाँ तीनों कालों में संसर्ग का अभाव पाया जाता है वहाँ अत्यन्ताभाव होता है। यह अनादि तथा अनन्त होता है- **अनादिरनन्तोऽत्यन्ताभावः**। यथा- 'भूतले घटो नास्ति' यहाँ भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट का अभाव है। घटाभाव का प्रतियोगी घट है। अभाव भूतल में है। अतः भूतल घटाभाव का अनुयोगी है। जो अत्यन्ताभाव को प्रकट करता है। प्राचीन नैयायिक 'वायौ रूपाभावः' अर्थात् वायु में रूप के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। क्योंकि वायु में रूप का भाव न है, न कभी था तथा न कभी होगा। वायु में यह अभाव नित्य एवं शाश्वत है, सामयिक नहीं। इस प्रकार, यह त्रैकालिक अत्यन्ताभाव है।

अत्यन्ताभाव को समझाने के लिये **अनुयोगी** और **प्रतियोगी** का ज्ञान आवश्यक है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-

जहाँ अभाव रहता है, उस अधिकरण या आश्रय को अभाव का **अनुयोगी** तथा जिसका अभाव होता है उसको अभाव का **प्रतियोगी** कहते हैं। (**यस्याभावः सः प्रतियोगी**) उदाहरण- '**भूतले घटो नास्ति**' में घटाभाव का 'प्रतियोगी' घट तथा 'अनुयोगी' भूतल हुआ। प्रतियोगी का अनुयोगी अथवा अधिकरण के साथ जो सम्बन्ध होता है वही उस अभाव का **प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध** कहलाता है। इसे ही प्रतियोगितानियामक भी कहा जाता है। 'भूतल' तथा 'घट' का संयोग सम्बन्ध होता है। इसलिये भूतल में होने वाले घटाभाव का भी अवच्छेदक या नियामक संयोग सम्बन्ध ही होगा।

न्याय की भाषा में '**भूतले घटो नास्ति**' को इस प्रकार कहा जा सकता है- **भूतलानुयोगिक-घटप्रतियोगिक-संयोगासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः अभावः**।

अत्यन्ताभाव से वस्तुओं का अभाव नहीं होता बल्कि उसके संसर्ग (Relation) का अभाव सूचित होता है। यथा उक्त उदाहरण में भूतल या

घट का अभाव नहीं अपि तु उन दोनों में संसर्ग अथ वा सम्बन्ध का अभाव है। इसीलिये इसे संसर्गाभाव भी कहा जाता है।

4. **अन्योन्याभाव** (Reciprocal Non-Existence)- अन्योन्याभाव का तात्पर्य है दो वस्तुओं की पारस्परिक भिन्नता। अर्थात् एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव अन्योन्याभाव है। **अन्नम्भट्ट** के अनुसार अन्योन्याभाव तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता है। अर्थात् इसके प्रतियोगी की स्थिति तादात्म्य सम्बन्ध पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ- घट पट नहीं है या घट में पट का अभाव है। यहाँ घट एवं पट का तादात्म्य नहीं है। इस प्रकार यह अभाव तादात्म्यप्रतियोगिताकः हुआ। यह अभाव भी त्रैकालिक होता है। यह अभाव अनादि और अनन्त है।

इस प्रकार अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव त्रैकालिक होने पर भी भिन्न है। वह इस प्रकार कि अत्यन्ताभाव **संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक** अभाव होता है जबकि अन्योन्याभाव **तादात्म्यप्रतियोगिताक** अभाव होता है। अर्थात् **अत्यन्ताभाव** में संसर्ग का निषेध रहता है तथा अन्योन्याभाव में तादात्म्य का निषेध रहता है।

इन अभावों की उपयोगिता व्यावहारिक जीवन में भी देखी जा सकती है। यदि प्रागभाव को न माना जाय तो सारी वस्तुएँ आदि हो जाएँगी। यदि **प्रध्वंसाभाव** को न मानें तो सारी वस्तुएँ अनन्त हो जाएँगी। यदि अत्यन्ताभाव न हो तो सारी वस्तुओं का अस्तित्व तीनों कालों में सर्वत्र हो जाएगा। यदि अन्योन्याभाव को न मानें तो सभी वस्तुएँ परस्पर अभिन्न होंगी।

अभाव के विषय में प्रायः सारे भारतीय दर्शनों में विचार हुआ है किन्तु इसे एक बाह्य वस्तु के रूप में स्वीकार करने वाले केवल दो दर्शन हैं- **न्यायवैशेषिक** तथा **मीमांसक** (भाट्ट)। **प्राभाकर मीमांसक**, **बौद्ध** तथा **वेदान्तियों** के सिद्धान्त में अभाव का निषेध प्राप्त होता है। **सांख्य** ने भी इसकी बाह्यार्थवादिता का निषेध किया है।

।।इत्यभावलक्षणप्रकरणम्।।

सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।।

सभी पदार्थों का यथोचित रूप में उक्त पदार्थों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण सात ही पदार्थ हैं यह सिद्ध होता है।

तन्वी व्याख्या- अन्नम्भट्ट ने **सर्वेषां पदार्थानां** कहकर न्यायोक्त षोडश पदार्थों (प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान) का संकेत किया है। तदनुसार न्यायसूत्र में कहे गये सोलहों पदार्थों का अन्तर्भाव इस तर्कसंग्रह में बताये गये वैशेषिक दर्शन के सप्त पदार्थों में हो जाता है। किन्तु यहाँ यह उल्लेख नहीं किया गया है कि उक्त षोडश पदार्थों का अन्तर्भाव किस प्रकार से होता है किन्तु अन्य भाष्यों में इस विषय में पर्याप्त विचार किया गया है। तदनुसार, वैशेषिक के सप्त पदार्थों में न्याय के षोडश पदार्थों का अन्तर्भाव किस प्रकार हो जाता है, इसका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. न्याय का प्रथम पदार्थ 'प्रमाण' है। ये प्रमाण चार हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। इनमें प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ) चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना तथा त्वक् हैं, जो अपने समवायी द्रव्य के अन्तर्गत रहते है। इस प्रकार, प्रमाण का अन्तर्भाव द्रव्य के अन्तर्गत हो जाता है।

२. नैयायिकों का द्वितीय पदार्थ प्रमेय है। ये प्रमेय द्वादश प्रकार के हैं- आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग। इनमें से,

(क) आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और मन का अन्तर्भाव वैशेषिक के द्रव्य में हो जाता है।

(ख) अर्थ, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, फल और दुःख ये वैशेषिक के गुण पदार्थ के ही अवान्तर भेद हैं।

(ग) प्रेत्यभाव मृत्यु, जन्म रूप होने के कारण क्रमशः अभाव एवं गुण पदार्थ में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(घ) दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग का अन्तर्भाव अभाव (प्रध्वंसाभाव) में हो जाता है।

३. संशय से निग्रह स्थान तक के चतुर्दश पदार्थों का अन्तर्भाव को भी निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

(क) संशय का अयथार्थ अनुभव में, (ख) प्रयोजन का संयोग में,

(ग) दृष्टान्त, सिद्धान्त और हेत्वाभास का द्रव्य में,

(घ) अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प और वितण्डा का गुण में तथा

(ङ) छल और जाति का अन्तर्भाव शब्द गुण एवं द्रव्य में हो जाता है।

इस सन्दर्भ में यह जानना आवश्यक है कि **न्याय-वैशेषिक** दर्शन की यह मान्यता है कि संसार के सभी ज्ञेय विषयों का अन्तर्भाव सात पदार्थों में हो सकता है, अतः सभी ज्ञेय तथा अभिधेय तत्त्वों का वर्गीकरण इन सात पदार्थों में किया गया है। विश्व में पद तो असंख्य है किन्तु, पदार्थ इन सात के अतिरिक्त कोई नहीं है।

न्यायसिद्धातमुक्तावली के टीकाकार **दिनकरभट्ट** ने यह भी स्पष्ट किया है कि किस प्रकार न्याय के षोडश पदार्थों का अन्तर्भाव वैशेषिक के उक्त सात पदार्थों में ही हो सकता है। तद्यथा-

न्याय के षोडश पदार्थ	वैशेषिक के सात पदार्थों में अन्तर्भाव
प्रमाण	द्रव्य
प्रमेय	द्रव्य व गुण में (यथायोग्य)
संशय	गुण
प्रयोजन	द्रव्यादि में (यथायोग्य)
दृष्टान्त	द्रव्यादि में (यथायोग्य)
सिद्धान्त	द्रव्यादि में (यथायोग्य)
अवयव	गुण
तर्क	गुण
निर्णय	गुण
वाद	गुण
जल्प	गुण
वितण्डा	गुण
हेत्वाभास	द्रव्यादि में (यथायोग्य)
छल	गुण

जाति	गुण
निग्रहस्थान	द्रव्यादि में (यथायोग्य)

वस्तुतः तर्कसंग्रह की रचना का उद्देश्य बालकों को सुखपूर्वक अर्थात् सरलतापूर्वक ज्ञान देना है न कि किसी बृहत् व दुर्बोध शास्त्र की रचना करना। इस दृष्टि से समस्त पदार्थों के अन्तर्भाव का निदर्शन इस ग्रन्थ को दुरूह बना देता। **ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति** इस न्याय से **अन्नम्भट्ट** ने यत्र तत्र उन पदार्थों का अन्तर्भाव दिखाने का प्रयास मूल ग्रन्थ में किया है, यथा- बुद्धि नामक सोलहवें गुण के अन्तर्गत प्रमाण नामक प्रथम पदार्थ का अन्तर्भाव। पुनरपि, दीपिका टीका में उन्होंने इसके विस्तृत विवेचन का प्रयास किया है। किन्तु यह प्रयास नाम या भेद परिगणनमात्र बनकर रह गया है। उक्त अन्तर्भाव के तार्किक विश्लेषण की हीनता दिखती है। इन पदार्थों के पारस्परिक अन्तर्भाव के कारण ही इन दोनों दर्शन प्रस्थानों को **समानतन्त्र** कहा जाता है।

कणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः।।

कणाद (वैशेषिक) और न्याय (गौतम) मत में बालकों की कुशलता सिद्ध करने के लिए विद्वान् अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह की रचना की।

।इति श्रीमदन्नम्भट्टविरचितस्तर्कसङ्ग्रहः समाप्तः।।

परिशिष्ट I

अथ तर्कसङ्ग्रहदीपिका

(हिन्दी अनुवाद सहित)

विश्वेश्वरं साम्बमूर्तिं प्रणिपत्य गिरां गुरुम्।
टीकां शिशुहितां कुर्वे तर्कसंग्रहदीपिकाम्।।

अनु०- पार्वतीमूर्त्ति सहित समस्त विद्याओं के गुरु तथा विश्व के स्वामी शिव को प्रणाम करके न्यायशास्त्र में बालकों के कल्याण के लिये **तर्कसंग्रह** नामक ग्रन्थ को प्रकाशित करने वाली **दीपिका** नामक टीका (मैं अन्नम्भट्ट) करता हूँ।

त०दी०- चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारानुमित -श्रुतिबोधितकर्तव्यताकमिष्टदेवतानमस्कारात्मकं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नंश्चिकीर्षितं ग्रन्थादौ प्रतिजानीते निधायेति।

अनु०- चिकीर्षित **तर्कसंग्रह** नामक ग्रन्थ की विघ्नरहित परिसमाप्ति के लिये शिष्टाचार से अनुमित श्रुति (शास्त्र) द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्यता वाले इष्टदेवता के प्रति नमस्कारात्मक मंगल को शिष्यों की शिक्षा के लिये (अर्थात् शिष्य भी इसका पालन करे) ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'निधाय' इस श्लोक से निर्देश करते हैं।

त०दी०- ननु मङ्गलस्य समाप्तिसाधनत्वं नास्ति। मङ्गले कृतेऽपि कादम्बर्यादौ समाप्त्यदर्शनान्मङ्गलाभावेऽपि किरणावल्यादौ समाप्तिदर्शनाच्च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारादिति चेन्न। कादम्बर्यादौ विघ्नबाहुल्यात् समाप्त्यभावः। किरणावल्यादौ ग्रन्थाद् बहिरेव मङ्गलं कृतमतो न व्यभिचारः।

अनु०- शङ्का- मंगल समाप्ति का साधन नहीं है। क्योंकि मंगल करने पर भी कादम्बरी आदि ग्रन्थों की समाप्ति नहीं देखी जाती, जबकि मंगल के अभाव में भी किरणावली आदि ग्रन्थों में समाप्ति देखी जाती है। इस प्रकार अन्वय एवं व्यतिरेक से ज्ञात होता है कि मंगल एवं ग्रन्थसमाप्ति में कोई कार्यकारणभाव नहीं है।

समाधान- कादम्बरी आदि में (मंगल के रहने पर भी) विघ्न की बहुलता के कारण समाप्ति नहीं देखी जाती। किरणावली आदि में तो ग्रन्थ से बाहर ही मंगल का विधान होने से ग्रन्थ की समाप्ति में कोई बाधा नहीं हुई।

त०दी०- ननु मङ्गलस्य कर्त्तव्यत्वे किं प्रमाणमिति चेन्न। शिष्याचारानुमितश्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। तथा हि मङ्गलं वेदबोधितकर्त्तव्यताकम्, अलौकिकाविगीतशिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत्। भोजनादौ, व्यभिचारवारणायालौकिकेति। रात्रिश्राद्धादौ व्यभिचारवारणायाविगीतेति। शिष्टपदं स्पष्टार्थम्। 'न कुर्यान्निष्फलं कुर्म' इति जलताडनादेरपि निषिद्धत्वात्।

शंका- मंगल करना चाहिए इसमें क्या प्रमाण है?

समाधान- ऐसा नहीं है क्योंकि शिष्टाचार से अनुमित श्रुति ही इसमें प्रमाण है, मंगल, वेद द्वारा बोधित कर्तव्यता का आश्रय है, क्योंकि अलौकिक एवं अनिन्दित शिष्टों का आचार दर्शपौर्णमास आदि की तरह उसका विषय है। भोजन आदि में व्यभिचारवारण के लिये 'अलौकिक' यह कहा गया। रात्रि, श्राद्ध आदि में व्यभिचारवारण के लिये 'अविगीत' यह कहा गया। शिष्ट पद स्पष्टता के लिये है, जलताडन आदि कर्म में भी 'न कुर्यान् निष्फलं कर्म' अर्थात् निष्फल कर्म नहीं करना चाहिए इत्यादि (मनुवचनों) के अनुसार निषिद्ध है।

त०दी०- तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः- द्रव्यादिपदार्थास्तेषां सङ्ग्रहः स्वरूपकथनं क्रियते इत्यर्थः। कस्मै प्रयोजनायेति, अत आह- सुखबोधायेति। सुखेन अनायासेन यो बोधः पदार्थतत्त्वज्ञानं तस्मा इत्यर्थः। ननु बहुषु तर्कग्रन्थेषु सत्सु किमर्थमपूर्वोऽयं ग्रन्थः क्रियत इति, अत आह- बालानामिति। तेषामतिविस्तृतत्वाद् बालानां बोधो न जायत इत्यर्थः। ग्रहणधारणपटुर्बालः न तु स्तनन्धयः। किं कृत्वा क्रियत इति, अत आह- निधायेति। विश्वेशं- जगन्नियन्तारम्। हृदि निधाय- नितरां स्थापयित्वा। सदा तद्ध्यानपरो भूत्वेत्यर्थः। गुरूणाम्- विद्यागुरूणाम्, वन्दनम्- नमस्कारम् विधाय- कृत्वेत्यर्थः।

अनु०- यहाँ व्युत्पत्ति के अनुसार, प्रतिपादित किये जाने वाले द्रव्यादि सप्तपदार्थ ही तर्क हैं। उनका संग्रह अर्थात् संक्षेप से स्वरूप कथन किया जा रहा है। ऐसा (संक्षिप्त कथन) क्यों किया जाता है, (इसके समाधानार्थ) कहा गया अनायास ज्ञान के लिये अर्थात् पदार्थतत्त्व के सुखपूर्वक ज्ञान के

लिये। जबकि बहुत से तर्कग्रन्थ पहले से ही विद्यमान हैं। पुनः यह ग्रन्थ क्यों रचा जा रहा है, इसलिये कहा गया- बालानाम्। उन (पूर्वरचित) ग्रन्थों के अतिविस्तृत होने के कारण अल्पज्ञों को सुखपूर्वक बोध नहीं होता, इसलिये यह ग्रन्थ रचा जा रहा है। यहाँ बाल शब्द का अर्थ है वे, जो ग्रहण एवं धारण करने में निपुण हैं न कि स्तनपान करने वाले शिशु। किस कृत्य को पूरा कर यह ग्रन्थ रचा जा रहा है, इसके समाधानार्थ कहा गया है 'निधाय हृदि' इत्यादि। जगन्नियन्ता परमेश्वर शिव को हृदय में अच्छी तरह स्थापित करके, उनके ध्यान में लीन होकर के तथा गुरुओं अर्थात् विद्यादान करने वाले गुरुओं की वन्दना करके।

त०दी०- **पदार्थान् विभजते द्रव्येति। पदस्यार्थः पदार्थ इति व्युत्पत्त्याभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्। ननु विभागादेव सप्तत्वे सिद्धे सप्तपदग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न। अधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदार्थकत्वात्।**

अनु०- पदार्थों का विभाजन किया जाता है- द्रव्य आदि। पद का अर्थ 'पदार्थ' है इस व्युत्पत्ति के अनुसार **अभिधेयत्व, पदार्थ का सामान्य लक्षण** है।

शंका- यहाँ विभाग से ही सप्तत्व संख्या सिद्ध हो जाती है पुनः सप्तपद का ग्रहण व्यर्थ है।

समाधान- ऐसा नहीं है क्योंकि अधिक संख्या के निवारण के लिये ही मूल में सप्त ग्रहण किया गया है।

त०दी०- **नन्वतिरिक्तः पदार्थः प्रमितो वा न वा। नाद्यः, प्रमितस्य निषेधायोगात्। न द्वितीयः, प्रतियोगिप्रमितिं विना निषेधानुपपत्तेरिति चेन्न, पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यमिति व्यवच्छेदार्थकत्वात्। ननु सप्तान्यतमत्वं सप्तभिन्नभिन्नत्वम्। सप्तभिन्नस्याप्रसिद्ध्या कथं सप्तान्यतमत्वव्याप्तिनिश्चय इति चेन्न। द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं नाम द्रव्यादिभेदसप्तकाभाववत्त्वम्। अतो दोषविरहात्। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्।**

अनु०- **शंका**- द्रव्यादि सप्त पदार्थों के अतिरिक्त पदार्थ प्रमाण द्वारा ज्ञात (प्रमित) है अथ वा नहीं? यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि प्रमा के विषय का निषेध उपपन्न नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि प्रतियोगी प्रमिति (ज्ञान) के बिना उसका निषेध नहीं हो सकता अर्थात् जो प्रमाण से ज्ञात है उसका निषेध कैसा?

समाधान– यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय अर्थात् अतिरिक्त पदार्थ को अप्रमित मानकर उसका निषेध किया जाये तो वह भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि पदार्थत्व द्रव्य, गुण आदि सप्तान्यतमत्व में व्याप्त है (अर्थात् जहाँ-जहाँ पदार्थत्व है वहाँ-वहाँ सात में से कोई एक पदार्थ व्याप्त है)- ऐसा निर्धारण करने के लिये ही यहाँ सप्त पद कहा गया है।

शंका– 'सप्तान्यतमत्व' का अर्थ है 'सप्तभिन्नभिन्नत्व' अर्थात् सप्त से भिन्न जो भी है उससे भिन्न होना ही सप्तान्यतमत्व है। क्योंकि सप्तभिन्न पदार्थ ही जब न्यायमत में अप्रसिद्ध है, तब उससे भिन्नत्वरूप अन्यतमत्व द्रव्यादि सात में कैसे बन सकेगा?

समाधान– यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ द्रव्यादिसप्तान्यतमत्व सप्तभिन्नभिन्नत्व नहीं है। यहाँ द्रव्यादिभेदसप्त का भावत्वरूप पारिभाषिक सप्तान्यतमत्व ही सप्तग्रहण के द्वारा सूचित किया गया है। इसी प्रकार आगे भी अर्थ समझना चाहिए।

त०दी०– द्रव्यं विभजते तत्रेति। तत्र द्रव्यादिमध्ये। द्रव्याणि नवैवेत्यन्वयः। कानि तानि इत्यत आह पृथिवीति। द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्त्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्।

अनु०– 'तत्र' इत्यादि के द्वारा ग्रन्थकार द्रव्य का विभाजन करते हैं। उन द्रव्य आदि पदार्थों में द्रव्य नौ ही हैं, ऐसा अन्वय होगा। ये कौन-कौन हैं, ऐसा कहा जा रहा है- पृथिवी, जल आदि। जो द्रव्यत्व जाति से युक्त हो अथ वा जो गुणवान् हो, वह द्रव्य कहलाता है।

त०दी०– ननु तमसो दशमद्रव्यस्य विद्यमानत्वात् कथं नवैव द्रव्याणि इति। तथा हि 'नीलं तमश्चलति' इत्यबाधितप्रतीतिबलात् नीलरूपाधारतया क्रियाधारतया च तमसो द्रव्यत्वं तावत्सिद्धम्। तत्र तमसो नाकाशादिपञ्चकेऽन्तर्भावः, रूपवत्त्वात्। अत एव न वायौ; स्पर्शाभावात् सदागतिमत्त्वाभावाच्च। नापि तेजसि; भास्वररूपाभावादुष्णस्पर्शाभावाच्च। नापि जले; शीतस्पर्शाभावान्नीलरूपवत्त्वाच्च। नापि पृथिव्याम्; गन्धाभावात् स्पर्शरहितत्वाच्च। तस्मात्तमो दशमद्रव्यमिति चेन्न। तमस्तेजोऽभावरूपत्वात्। तथा हि- तमो न रूपिद्रव्यम्, आलोकसहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वात्, आलोकाभावात्। रूपिद्रव्यचाक्षुषप्रमायामालोकस्य कारणत्वात्। तस्मात् प्रौढप्रकाशकतेजस्सामान्याभावस्तमः, तत्र 'नीलं तमः चलति' इति प्रत्ययो भ्रमः। अतो नव द्रव्याणीति सिद्धम्।

अनु०- शंका- दशम द्रव्य तम (अन्धकार) के रहते पृथिवी आदि नौ ही द्रव्य कैसे हैं? क्योंकि 'नीलं तमश्चलति' इस अबाधित प्रतीति के बल से नीलरूप (गुण) का आश्रय तथा चलन क्रिया का आश्रय होने के कारण तम का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। वहाँ तम का अन्तर्भाव आकाश आदि पाँच द्रव्यों में नहीं होता क्योंकि यह रूपवान् है। इसीलिये वायु में भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि तम में स्पर्श का अभाव होता है एवं वह सदैव गतिमान् भी नहीं रहता। तेज में भी तम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि उसमें (तेजसदृश) भास्वररूप एवं उष्णस्पर्श का पूर्णतया अभाव रहता है। शीतल स्पर्शरहित तथा नीलरूप वाला होने के कारण जल में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार गन्धरहित एवं स्पर्शरहित होने के कारण तम का पृथिवी में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। इसलिये तम दशम द्रव्य है।

समाधान- किन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि तम अतिरिक्त द्रव्य न होकर तेज नामक (तृतीय) द्रव्य का ही अभाव रूप है। जैसे- तम रूपी द्रव्य नहीं है, आलोक (प्रकाश) की सहायता के विना ही यह चक्षु से सर्वथा ग्राह्य है, आलोक (प्रकाश) के अभाव की तरह। जो रूपी द्रव्य होता है, उसके चाक्षुष ज्ञान (प्रमा) में आलोक ही कारण होता है। इसलिये प्रौढ़प्रकाशक तेज का सामान्याभाव ही तम है। उस तम में जो 'नीलं तमश्चलति' ऐसा ज्ञान होता है, वह भ्रम है। इसलिये नौ ही द्रव्य हैं- ऐसा सिद्ध होता है।

त०दी०- द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्त्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्। लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः, यथा गोः कपिलत्वम्। अलक्ष्यवृत्तिमतिव्याप्तिः, यथा गोः शृङ्गित्वम्। लक्ष्यमात्रावर्तनमसम्भवः यथा गोरेकशफत्वम्। एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्। स एवासाधारण इत्युच्यते। लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्। व्यावर्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यावृत्तावभिधेयत्वादौ चातिव्याप्तिवारणाय तद्भिन्नत्वं धर्मविशेषणं देयम्। व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देयम्। व्यावृत्तेरपि व्यवहारसाधनत्वात्।

ननु गुणवत्त्वं न द्रव्यसामान्यलक्षणम्। आद्यक्षणे उत्पन्नविनष्टद्रव्ये चाव्याप्तेरिति चेन्न। गुणसामानाधिकरणसत्ताभिन्नजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। नन्वेवमप्येकं रूपं रसात्पृथगिति व्यवहाराद्रूपादावतिव्याप्तिरिति चेन्न।

एकार्थसमवायादेव तादृशव्यवहारोपपत्तौ गुणे गुणानङ्गीकारात्।

अनु०- द्रव्यत्व जातिवाला अथ वा गुणवाला होना द्रव्य का सामान्य लक्षण है। (लक्षण के तीन दोष हैं। द्रव्य के इस लक्षण को दोषरहित होने के लिये यहाँ तीनों दोषों, यथा- अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव की परिभाषा की गयी है)। लक्षण का लक्ष्य के एक भाग में न रहना **अव्याप्ति** है, जैसे- गो का कपिलत्व। लक्ष्य से अतिरिक्त पदार्थों में रहना, **अतिव्याप्ति** है, जैसे- गो का शृंगित्व। लक्ष्य मात्र में लक्षण का न रहना **असम्भव** है, जैसे- गौ का एकशफवत्त्व (एक खुर वाला होना)। इस दोषत्रय से रहित धर्म ही लक्षण है। यही **असाधारण धर्म** कहलाता है। (जैसे- गो का सास्नादिमत्त्व अर्थात् गलकम्बल)। लक्ष्यता के अवच्छेदक के साथ समान रूप से व्याप्त होना धर्म का असाधारणत्व है। व्यावर्त्तक के ही लक्षण होने में व्यावृत्ति तथा अभिधेयत्व आदि में अतिव्याप्ति को रोकने के लिये उससे भिन्न स्वरूप वाले धर्म का प्रयोग करना चाहिए। व्यवहार के भी लक्षण प्रयोजनत्व में इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि व्यावृत्ति का भी व्यवहार साधन होता है।

शंका- गुणवत्त्व द्रव्य का सामान्य लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रथम क्षण से अवच्छिन्न द्रव्य में तथा उत्पन्न विनष्ट घट में अव्याप्ति है।

समाधान- किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि गुण के समान अधिकरण में रहने वाली सत्ताभिन्न जाति विवक्षित है।

शंका- 'एकं रूपं रसात् पृथक्' इस व्यवहार से रूप आदि में अतिव्याप्ति है।

समाधान- ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि एकार्थसमवाय के कारण ही उक्त व्यवहार होता है और गुण सदैव गुण से रहित होता है।

त०दी०- गुणान् विभजते 'रूप' इति। द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः। गुणत्वजातिमान् वा। ननु लघुत्व-कठिनत्व-मृदुत्वादीनां विद्यमानत्वात् कथं चतुर्विंशतिगुणा इति लघुत्वस्य गुरुत्वाभावरूपत्वान् मृदुत्वकठिनत्वयोरवयवसंयोगविशेषरूपत्वात्।

अनु०- रूप, रस आदि पद से गुण का विभाजन किया जा रहा है। द्रव्य और कर्म से भिन्न जो जातिस्वरूप (सत्तात्मक तत्त्व) होता है, वह गुण है अथ वा गुणत्व जाति वाला गुण है।

शंका– लघुत्व, मृदुत्व, कठिनत्व आदि के विद्यमान होने से चौबीस गुण ही क्यों है?

समाधान– ऐसा नहीं है, क्योंकि गुरुत्व का अभाव ही लघुत्व है, मृदुत्व एवं कठिनत्व अवयवों के विशिष्ट संयोग रूप हैं।

त०दी०– कर्म विभजते 'उत्क्षेपण' इति। (क) संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म, (ख) कर्मत्वजातिमद् वा। भ्रमणादीनामपि गमनेऽन्तर्भावान्न पञ्चत्वविरोधः।

अनु०– उत्क्षेपण आदि पद से कर्म का विभाजन किया जा रहा है। संयोग से भिन्न जो संयोग का असमवायिकारण हो अथ वा जो कर्मत्वजाति से युक्त हो वह कर्म है।

शंका– भ्रमण आदि कर्मों के विद्यमान होने से कर्म को पाँच कहना अनुपपन्न है।

समाधान– भ्रमण आदि कर्मों को गमन में अन्तर्भाव होने के कारण कर्म के पाँच होने में कोई विरोध नहीं है।

त०दी०– सामान्यं विभजते, 'परम्' इति। परम् अधिकदेशवृत्ति। अपरं न्यूनदेशवृत्ति। सामान्यादिचतुष्टये जातिर्नास्ति।

अनु०– सामान्य का विभाजन किया जा रहा है– पर आदि। अधिक देश में रहने वाला पर सामान्य है। न्यून देश में रहने वाला सामान्य अपर सामान्य है। सामान्य आदि अन्य चार पदार्थों में जाति नहीं रहती है।

त०दी०– विशेषं विभजते, 'नित्य' इति। पृथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणवः। आकाशादिपञ्चकं च नित्यद्रव्याणि ।

अनु०– नित्य पद से विशेष का विभाजन किया जा रहा है। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु एवं आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ प्रकार के द्रव्य नित्यद्रव्य हैं।

त०दी०– समवायस्य भेदो नास्तीत्याह 'समवायस्तु' इति।

अनु०– समवाय के भेद नहीं हैं इसीलिये यह कहा गया है कि समवाय तो एक ही है।

त०दी०– अभावं विभजते, 'प्रागभाव' इति।

अनु०– प्रागभाव आदि से अभाव का विभाजन किया जाता है।

त०दी०- तत्रोद्देशक्रमानुसारात् प्रथमं पृथिव्याः लक्षणमाह तत्रेति। नाम्ना पदार्थसंकीर्तनमुद्देशः। उद्देशक्रमे च सर्वत्रेच्छैव नियामिका।

अनु०- उद्देश आदि क्रम के अनुसार सर्वप्रथम पृथिवी का लक्षण कहते हैं। नाममात्र से पदार्थ का कथन उद्देश है और उद्देश क्रम में सर्वत्र इच्छा (वक्ता की) ही नियामिका है।

ननु सुरभ्यसुरभ्यवयावारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्तिः। न च तत्र गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, अवयवगन्धस्येव तत्र प्रतीतिसम्भवेन चित्रगन्धानङ्गीकारात्। किं चोत्पन्नविनष्ट- घटादावव्याप्तिरिति चेन्न, गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वस्यैव विवक्षितत्वात्।

ननु जलादावपि गन्धप्रतीतेरतिव्याप्तिरिति चेन्न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्धस्येव तत्र भानाङ्गीकारात्। ननु तथापि कालस्य सर्वाधारतया सर्वेषां लक्षणानां कालेऽतिव्याप्तिरिति चेन्न, सर्वाधारताप्रयोजकसम्बन्ध-भिन्नसम्बन्धेन लक्षणस्याभिमतत्वात्।

अनु०-(शंका) सुरभि एवं असुरभि इन अवयवों से उत्पन्न द्रव्य में परस्पर विरोध से गन्ध उत्पन्न नहीं होने के कारण (पृथिवी के लक्षण गन्धवती में) अव्याप्ति है। यहाँ ऐसा नहीं कहना चाहिए कि गन्ध की प्रतीति अनुपपन्न हो जाएगी। क्योंकि वहाँ अवयव के गन्ध की प्रतीति होने से तथा चित्रगन्ध अमान्य होने से वहाँ का अवयवी निर्गन्ध होगा (अतः वहाँ पृथिवी के लक्षण की अव्याप्ति होगी) और उत्पन्न एवं विनष्ट घट में भी गन्धाभाव होने से पृथिवीलक्षण की अव्याप्ति होगी।

समाधान- यह शंका ठीक नहीं क्योंकि गन्ध के समान अधिकरण में रहने वाली द्रव्यत्व से भिन्न जाति पृथिवीत्वजाति से युक्त ही पृथिवी का लक्षण विवक्षित है।

शंका- जल आदि में भी गन्ध की प्रतीति होने से पृथिवी के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

समाधान- ऐसा नहीं है क्योंकि अन्वय एवं व्यतिरेकिविधि के द्वारा पृथिवी के गन्ध का ही संयुक्तसमवाय से उस जल में भान स्वीकार किया गया है।

शंका- फिर भी काल सारी वस्तुओं का आधार है, अतः सारे लक्षणों की काल में अतिव्याप्ति है।

समाधान- यह भी नहीं है। क्योंकि काल में सारी वस्तु सर्वाधारता प्रयोजक कालिक सम्बन्ध से रहती है। किन्तु इस कालिक सम्बन्ध से भिन्न जो (समवाय आदि) सम्बन्ध हैं, उन्हीं से उक्त लक्षण विवक्षित है।

त०दी०- **पृथिवीं विभजते 'सा द्विविधा' इति। नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वम्। अनित्यत्वं ध्वंसप्रतियोगित्वम्। प्रकारान्तरेण विभजते पुनरि'ति। आत्मनो भोगायतनं शरीरम्। यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनम्। सुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः। शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः। एवं च गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्, गन्धवदिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्, गन्धवान् विषयः पार्थिवविषय इति तत्तल्लक्षणं बोध्यम्। पार्थिवशरीरं दर्शयति शरीरमिति। इन्द्रियं दर्शयति इन्द्रियमिति। गन्धग्राहकमिति प्रयोजनम्। घ्राणमिति संज्ञा नासाग्रेत्याश्रयोक्तिः। एवमुत्तरत्र ज्ञेयम्। पार्थिवविषयं दर्शयति मृत्पाषाणादीति।**

अनु०- पृथिवी के दो प्रकार हैं-नित्य एवं अनित्य। जो ध्वंस का अप्रतियोगी हो वह नित्य है। ध्वंस का प्रतियोगी अनित्य है। दूसरे प्रकार से (पृथिवी का) विभाजन करते हैं- पुनः आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। अवच्छिन्न आत्मा में जिससे भोग उत्पन्न होता है, वही भोगायतन है, सुख अथ वा दुःख का साक्षात्कार भोग है। शब्द से भिन्न उद्भूत विशेष गुणों के आश्रय न होने पर ज्ञान का कारण मन के संयोग का आश्रय इन्द्रिय है। शरीर एवं इन्द्रिय से जो भिन्न है, वह विषय है। और इस प्रकार गन्धवान् शरीर पार्थिव शरीर है। गन्धवान् इन्द्रिय पार्थिव इन्द्रिय है तथा गन्धवान् विषय पार्थिव विषय है- यही इनका लक्षण जानना चाहिए। पार्थिव इन्द्रिय का उदाहरण अस्मदादि (हमलोगों का) शरीर है। पार्थिव इन्द्रिय के विवेचन में 'गन्धग्राहकम्' पद प्रयोजनसूचनार्थ है। 'घ्राण' उसकी संज्ञा है। 'नासाग्र' उसके आश्रय को सूचित करने के लिये है। इसी प्रकार आगे भी ऐसा ही समझना चाहिए। मिट्टी, पत्थर आदि से पार्थिव विषय को बताया जा रहा है।

त०दी०- **अपां लक्षणमाह शीते'ति। उत्पन्नविनष्टजलेऽतिव्याप्तिवारणाय शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वं विवक्षितम्। 'शीतं शिलातलम्' इत्यादौ जलसम्बन्धादेव शीतस्पर्शभानमिति नातिव्याप्तिः। अन्यत्सर्वं पूर्वरीत्या व्याख्येयम्।**

अनु०- शीतस्पर्श के द्वारा जल का लक्षण कहते हैं। उत्पन्न एवं विनष्ट

जल में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्व लक्षण किया गया। शिलातल आदि में होने वाली शीतलता की प्रतीति जल के सम्बन्ध के कारण ही होती है- इस प्रकार इसमें अतिव्याप्ति नहीं है। अन्य सारी व्याख्या पूर्वपद्धति से ही समझनी चाहिए।

त०दी०- तेजसो लक्षणमाह उष्णस्पर्शवदि'ति। 'उष्णं जलम्' इति प्रतीतेस्तेजःसंयोगानुविधायित्वान्नातिव्याप्तिः। विषयं विभजते भौमे'ति।

ननु 'सुवर्णं पार्थिवं पीतत्वाद् गुरुत्वाद् हरिद्रावद्' इति चेन्न। अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, जलमध्यस्थघृतादौ तन्नाशादर्शनेन चासति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावावधारणात् सुवर्णस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्युनच्छिद्यमान-द्रवत्वाधिकरणत्वेन पार्थिवत्वाऽनुपपत्तेः पीतद्रव्यद्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ नैमित्तिकद्रवत्वाधिकरणतया जलत्वानुपपत्तेः रूपवत्तया वाय्वादिष्वनन्तर्भावात्तैजसत्वसिद्धिः। तस्योष्णस्पर्शभास्वररूपयोरुपष्टम्भक-पार्थिवरूपस्पर्शाभ्यां प्रतिबन्धादनुपलब्धिः। तस्मात् सुवर्णं तैजसमिति सिद्धम्।

अनु०- तेज का लक्षण कहते हैं- उष्ण स्पर्श तेज का लक्षण है। 'उष्णं जलम्' इस प्रकार की होने वाली प्रतीति, जल में तेज से संसर्ग के कारण होती है, अतः उष्ण जल में तेज की अतिव्याप्ति नहीं होगी। विषय का विभाजन करते हैं- भौम, दिव्य आदि।

शंका- हरिद्रा के समान पीत होने से तथा भारीपन के कारण सुवर्ण पार्थिव द्रव्य है।

समाधान- यह ठीक नहीं है। क्योंकि अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर घृत आदि में द्रवत्व का नाश देखा जाता है, जल के मध्य में स्थित घृत आदि में नाश नहीं देखा जाता है। प्रतिबन्धक के नहीं रहने पर पार्थिव द्रवत्व के नाश तथा अग्निसंयोग में कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा।

अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर सुवर्ण के द्रवत्व का उच्छेद नहीं होता, इस प्रकार सुवर्ण का पार्थिव होना समीचीन नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि पीतद्रव्य के द्रवत्व के नाश का प्रतिबन्धक किसी भिन्न द्रव्य में है, फलस्वरूप द्रवत्व के आश्रय होने से जल में उसकी अनुपपत्ति होगी। रूपवान् होने के कारण वायु आदि द्रव्यों में अन्तर्भाव नहीं होने से सुवर्ण का

तैजस होना सिद्ध होता है। पार्थिवरूप एवं स्पर्श से प्रतिबन्धित होने के कारण उस (सुवर्ण) के उष्णस्पर्श और भास्वररूप का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार सुवर्ण तैजस है, यह सिद्ध होता है।

त०दी०- वायुं लक्षयति रूपरहिते 'ति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शवान्नि 'ति। पृथिव्यादावतिव्याप्तिवारणाय। रूपरहिते 'ति। प्राणस्य कुत्रान्तर्भाव? इत्यत आह शरीरे इति। 'स चे 'ति- एक एव प्राणः स्थानभेदात् प्राणापानादिशब्दैर्व्यवह्रियत इत्यर्थः। स्पर्शानुमेयो वायुः। तथा हि- योऽयं वायौ वाति सत्यनुष्णाशीतस्पर्श उपलभ्यते, स क्वचिदाश्रितो गुणत्वाद् रूपवत्। न चास्याश्रयः पृथिवी, उद्भूतस्पर्शवतः पार्थिवस्योद्भूतरूपवत्त्वनियमात्। न जलतेजसी, अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वात्। न विभुचतुष्टयम्, सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात्। न मनः, परमाणुस्पर्शस्यातीन्द्रियत्वात्। तस्माद् यः प्रतीयमानस्पर्शाश्रयः, स वायुः।

अनु०- वायु का लक्षण करते हैं- आकाश आदि में अतिव्याप्ति के निषेध के लिये स्पर्शवान् कहा गया है। (इसी प्रकार) पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिये रूपरहित का प्रयोग है।

शंका- प्राण का अन्तर्भाव किसमें होगा?

समाधान- शरीर में। प्राण एक ही है, किन्तु स्थान भेद से प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान, इन शब्दों (नामों) से व्यवहार में लाया जाता है। वायु स्पर्श के द्वारा अनुमेय है। जैसे- जो यह हवा के बहते रहने पर अनुष्णातीत (न गर्म न शीतल) स्पर्श प्रतीत होता है, वह स्पर्श गुण होने के कारण रूप के समान कहीं (अन्यत्र) आश्रित है। पृथिवी इसका आश्रय नहीं है, क्योंकि उद्भूत स्पर्श वाले पार्थिव (पदार्थ) का नियम से उद्भूत रूप होता है। जल और तेज भी इसका आश्रय नहीं है, क्योंकि यह न तो जल के समान शीतल है और न अग्नि के समान उष्ण। विभुस्वरूप वाले आकाश, काल, दिक् और आत्मा भी इसके आश्रय नहीं हो सकते, क्योंकि सर्वत्र इस (स्पर्श) की उपलब्धि हो जाएगी। मन भी इसका आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि परमाणुरूप होने के कारण इसका स्पर्श अतीन्द्रिय होगा। इस प्रकार जो प्रतीयमान स्पर्श का आश्रय है, वह वायु है।

त०दी०- ननु 'वायुः प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वाद्, घटवद्' इति चेन्न। उद्भूतरूपस्योपाधित्वात्। 'यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षत्वं, तत्रोद्भूतरूपवत्त्वम्' इति साध्यव्यापकत्वम्। पक्षे

साधनाव्यापकत्वम्। न चैवं तप्तवारिस्थतेजसोऽप्यप्रत्यक्षत्वापत्तिः, इष्टत्वात्। तस्माद्रूपरहितत्वाद् वायुरप्रत्यक्षः।

अनु०- (शंका) वायु प्रत्यक्ष है क्योंकि घट के समान वह प्रत्यक्षस्पर्श का आश्रय है।

समाधान- ऐसा नहीं है क्योंकि उद्भूत रूपवाला होना (उस अनुमान में) उपाधि है। जहाँ द्रव्यत्व होने पर बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष है वहाँ उद्भूतरूपवत्त्व है, इस प्रकार घट आदि में साध्य (प्रत्यक्ष) व्यापकत्व है। जहाँ प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्व है वहाँ उद्भूतरूप स्पर्शवत्त्व नहीं है, इस प्रकार पक्ष में साधनाव्यापकत्व होता है। (इसी प्रकार) तप्त जल में स्थित तेज के भी अप्रत्यक्ष होने की आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि इस तेज का अप्रत्यक्षत्व इष्ट ही है। अतः रूपरहित होने के कारण वायु अप्रत्यक्ष है।

त०दी०- इदानीं कार्यरूपपृथिव्यादिचतुष्टयस्योत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते- ईश्वरस्य चिकीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया जायते। ततः परमाणुद्वयसंयोगे द्व्यणुकमुत्पद्यते। त्रिभिरेव द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमुत्पद्यते। एवं चतुरणुकादिक्रमेण महती पृथिवी, महत्य आपः, महत्तेजो महान् वायुरुत्पद्यते। एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य संजिहीर्षावशात् क्रियया परमाणुद्वयविभागे द्व्यणुकनाश इत्येवं पृथिव्यादिनाशः। असमवायिकारणनाशाद् द्व्यणुकनाशः। समवायिकारणनाशात् त्र्यणुकनाश इति संप्रदायः। सर्वत्रासमवायिकारणनाशात् कार्यद्रव्यनाश इति नवीनाः।

अनु०- अब कार्यरूप पृथिवी आदि द्रव्य चतुष्टय की उत्पत्ति एवं विनाशकर्म कहा जा रहा है- ईश्वर की इच्छा करने के कारण परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् दो परमाणुओं में संयोग होने पर द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। पुनः तीन द्व्यणुक के संयोग से त्र्यणुक उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार चार त्र्यणुंक आदि क्रम से महती पृथिवी, महत् जल, महत् तेज तथा महान् वायु उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार उत्पन्न हुए कार्य रूप द्रव्य के संहार की इच्छा से परमाणुओं में क्रिया होती है। उस क्रिया के द्वारा दो परमाणुओं में विभाग होने पर द्व्यणुक का नाश होता है, तत्पश्चात् त्र्यणुकों का नाश होता है, उसके बाद चतुरणुक का नाश होता है- इस प्रकार पृथिवी आदि का नाश हो जाता है। असमवायिकारण (दो परमाणुओं के संयोग) के नाश से द्व्यणुक का नाश होता है तथा समवायिकारण (द्व्यणुक) के नाश से त्र्यणुक का नाश होता है- ऐसा न्याय सम्प्रदाय का विश्वास है। किन्तु सर्वत्र असमवायिकारण के नाश

से कार्यद्रव्य का नाश होता है- ऐसा नवीनों का मत है।

त०दी०- **किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम्? उच्यते- जालसूर्यमरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं यद् द्रव्यमुपलभ्यते, तत् सावयवं चाक्षुषद्रव्यत्वाद् घटवत्। त्र्यणुकावयवोऽपि सावयवो महदारम्भकत्वात् कपालवत्। यो द्व्यणुकावयवः, स परमाणुः। स च नित्यः, तस्यापि कार्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। तथा च मेरुसर्षपयोरपि समानपरिमाणत्वापत्तिः।**

सृष्टिप्रलयसद्भावे 'धाता यथापूर्वमकल्पयद्' इति श्रुतिरेव प्रमाणम्। सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः। सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलयः' इति विवेकः।

अनु०- पुनः परमाणु की सत्ता में क्या प्रमाण है?

खिड़की से आनेवाली सूर्य की किरणों में स्थित जो सूक्ष्मतम धूलकण प्राप्त होता है, वह सावयव होता है, चाक्षुष द्रव्य होने के कारण पट के समान। त्र्यणुक का अवयव भी सावयव है, महत् द्रव्य के आरम्भक होने से कपाल के समान। (अतः) जो द्व्यणुक का अवयव है वही परमाणु है, वह नित्य है उसे भी कार्य मानने से (अर्थात् परमाणु का भी अवयव मानने से) अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा और इस प्रकार मेरु (पर्वत) तथा सरसों में भी समान परिमाण की आपत्ति हो जाएगी।

सृष्टि एवं प्रलय होने में **धाता यथा पूर्वमकल्पयत्** यह श्रुति ही प्रमाण है। सारे कार्य द्रव्यों का ध्वंस अवान्तर प्रलय है तथा सारे भाव कार्यों का ध्वंस महाप्रलय है- यही विवेक है।

त०दी०- आकाशं लक्षयति, शब्दगुणमि'ति। **नन्वाकाशमपि पृथिव्यादिवन्नाना, किं नेत्याह 'तच्चैकमि'ति। भेदे प्रमाणाभावादित्यर्थः। एकत्वादेव सर्वत्र शब्दोपलब्धेर्विभुत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याह विभ्वि'ति। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्। मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं, क्रियावत्त्वं वा। विभुत्वादेवात्मवन्नित्यमित्याह नित्यं चेति।**

अनु०- 'शब्दगुणकम्' के द्वारा आकाश का लक्षण करते हैं।

शंका- क्या पृथिवी आदि के समान आकाश भी अनेक है?

समाधान- नहीं, वह एक ही है। क्योंकि इसके भेद में कोई प्रमाण नहीं है। एक होने के कारण ही सर्वत्र इसकी उपलब्धि होती है। इसलिये इसकी विभुता को स्वीकार करना चाहिए। (यहाँ) सारे मूर्तद्रव्यों का संयोगी होना

विभुत्व है। मूर्तत्व का अर्थ है परिच्छिन्न परिमाण का आश्रय होना अथ वा क्रियावान् होना। विभु होने के कारण ही आकाश आत्मा के समान नित्य है।

त०दी०- कालं लक्षयति- अतीते'ति। सर्वाधारः कालः सर्वकार्य-निमित्तकारणञ्च।

अनु०- काल सर्वाधार है तथा सभी कार्यों के प्रति निमित्तकारण भी है।

त०दी०- दिशो लक्षणमाह- प्राची'ति। दिगपि कार्यमात्रनिमित्तकारणम्।

अनु०- प्राची आदि से दिक् का लक्षण किया जा रहा है। दिक् भी कार्यमात्र में निमित्त कारण है।

त०दी०- आत्मनो लक्षणमाह ज्ञाने'ति। आत्मानं विभजते 'स द्विविधः' इति। परमात्मनो लक्षणमाह तत्रे'ति। नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम्।

नन्वीश्वरसद्भावे किं प्रमाणम् ? न तावत्प्रत्यक्षम्। तद्धि बाह्यमान्तरं वा। नाद्योऽरूपिद्रव्यत्वात्। न द्वितीय आत्मसुखदुःखादिव्यतिरिक्तत्वात्। नाप्यनुमानं, लिङ्गाभावादिति चेन्न। 'अङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवद्' इत्यनुमानस्यैव प्रमाणत्वात्। उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षा कृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्। उपादानं समवायिकारणम्। सकलपरमाण्वादि-सूक्ष्मदर्शित्वात् सर्वज्ञत्वम्। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यागमोऽपि तत्र प्रमाणम्।

अनु०- ज्ञानादि से आत्मा का लक्षण किया गया। वह दो प्रकार का है। परमात्मा के लक्षण के क्रम में ईश्वर का लक्षण है- नित्य ज्ञान का अधिकरणत्व ही ईश्वरत्व है।

शंका- ईश्वर की सत्ता में क्या प्रमाण है? (उसकी सत्ता में) प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि वह बाह्य एवं आभ्यन्तर दो तरह का है। यहाँ प्रथम, (बाह्य प्रत्यक्ष) नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर अरूपी द्रव्य है। आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी ईश्वर की सत्ता में प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा और उसके सुख दुःख से यह भिन्न है। लिङ्ग के अभाव के कारण वह ईश्वर अनुमान का भी विषय नहीं है। यहाँ आगम प्रमाण भी नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे आगम का भी अभाव है।

समाधान- यह शंका उचित नहीं। क्योंकि **क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्** यह अनुमान ईश्वर में प्रमाण है। अर्थात् पृथिवी, अंकुर आदि किसी कर्ता से उत्पन्न कार्य है। जिस प्रकार घट एक कार्य है तथा उसको उत्पन्न करने वाला कर्ता कोई (कुम्भकार) है।

यहाँ 'कर्तृत्व' शब्द का अर्थ है- उपादानविषयक अपरोक्षज्ञान, चिकीर्षा (करने की इच्छा) तथा कार्यविषयक कृति (यत्न) वाला। उपादान समवायिकारण है। सारे परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों के ज्ञाता होने के कारण ईश्वर में सर्वज्ञत्व है। **यः सर्वज्ञः स सर्ववित्** इत्यादि श्रुति इस ईश्वर में प्रमाण है।

त०दी०- जीवस्य लक्षणमाह 'जीव' इति। सुखाद्याश्रयत्वं जीवलक्षणम्। ननु 'मनुष्योऽहं, ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादौ सर्वत्राहं प्रत्यये शरीरस्यैव विषयत्वाच्छरीरमेवात्मेति चेन्न। शरीरस्यात्मत्वे करपादादिनाशे शरीरनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसंगात्। नापीन्द्रियाणामात्मत्वम्, 'योऽहं घटमद्राक्षं, सोऽहमिदानीं स्पृशामि' इत्यनुसन्धानाभावप्रसङ्गात्। अन्यानुभूतेऽर्थेऽन्यस्यानुसन्धानायोगात्। तस्माद्देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो जीवः सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। स च न परमाणुः। सर्वशरीरव्यापि सुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न मध्यमपरिमाणवान्, तथा सत्यनित्यत्वप्रसङ्गेन कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् तस्मान्नित्यो विभुर्जीवः।

अनु०- जीव का लक्षण करते हैं- सुख दुःख आदि का आश्रय होना ही जीव का लक्षण है।

शंका- मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि में सब जगह अहं प्रतीति में शरीर के विषय होने से शरीर ही आत्मा है।

समाधान- यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर को आत्मा मानने पर हाथ, पैर आदि के नाश होने पर शरीर के नाश होने से आत्मा का भी नाश मानना पड़ेगा। इन्द्रियों को भी आत्मा नहीं माना जा सकता है। क्योंकि वैसा होने पर 'जिस मैंने घट को देखा था, वह मैं अब घट का स्पर्श कर रहा हूँ'- इस प्रकार ज्ञान नहीं हो पाएगा। क्योंकि दूसरे के अनुभव से दूसरे को प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। इसलिये देह तथा इन्द्रिय से भिन्न जीव सुख दुःख आदि की विचित्रता के कारण प्रत्येक शरीर में भिन्न है।

वह (जीवात्मा) परमाणु परिमाण वाला नहीं है। क्योंकि वह शरीर के किसी एक ही देश में रहेगा, ऐसी स्थिति में सर्वाङ्ग में होने वाले सुखादि के अनुभव का अभाव उत्पन्न हो जाएगा।

वह मध्यम परिमाण वाला नहीं है। क्योंकि वैसा होने पर आत्मा में अनित्यत्व की प्रसक्ति हो जाएगी। ऐसी स्थिति में कृतहान और अकृताभ्यागम दोष आ जाएँगे। इसलिये जीवात्मा नित्य और विभु है।

त०दी०- मनसो लक्षणमाह सुखे'ति। स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम्। तद्विभजते 'तच्चे'ति। एकैकस्यात्मन एकैकं मन आवश्यकमित्यात्मनामनेकत्वान्मनसोऽप्यनेकत्वमित्यर्थः।
'परमाणुरूपमि'ति- मध्यमपरिमाणवत्त्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गादित्यर्थः।

ननु मनो नाणु किन्तु विभु, स्पर्शरहितत्वद्रव्यत्वादाकाशादिवदिति चेन्न। मनसो विभुत्व आत्ममनःसंयोगस्याऽसमवायिकारणमस्याभावाज्ज्ञानानुत्पत्ति- प्रसङ्गात्। न च विभुद्वयसंयोगोऽस्त्विति वाच्यम्। तत्संयोगस्य नित्यत्वेन सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात्, पुरीतद्व्यतिरिक्तप्रदेश आत्ममनःसंयोगस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्। अणुत्वे तु यदा मनः पुरीतति नाड्यां प्रविशति, तदा सुषुप्तिः, यदा निस्सरति तदा ज्ञानोत्पत्तिरित्यणुत्वसिद्धिः।

अनु०- मन का लक्षण करते हैं- स्पर्शरहित होने पर क्रियावान् होना मन का लक्षण है। मन का विभाजन करते हैं- एक-एक आत्मा के लिये एक-एक मन आवश्यक है। इस प्रकार आत्मा के अनेक होने के कारण मन भी अनेक हैं। यह (मन) परमाणु रूप है। क्योंकि मध्यम परिमाण होने के कारण वह अनित्य हो जाएगा।

शंका- मन अणु नहीं बल्कि विभु है क्योंकि यह आकाश की तरह स्पर्शरहित द्रव्य है।

समाधान- यह कथन ठीक नहीं क्योंकि मन के विभु होने पर आत्मा एवं मन के संयोग तथा असमवायिकारण के अभाव के कारण ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो पाएगी। साथ ही, दो विभु द्रव्यों का भी संयोग नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उनके संयोग के नित्य होने से सुषुप्ति का अभाव हो जाएगा। वह इसलिये कि पुरीतत् से भिन्न स्थान में आत्मा एवं मन का संयोग सर्वदा विद्यमान होता है। किन्तु अणु (परिमाण) होने पर जब मन पुरीतत् नाड़ी में प्रवेश करता है तब सुषुप्ति होती है तथा जब निकलता है तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अणुत्व की सिद्धि होती है।

त०दी०- रूपं लक्षयति चक्षुरि'ति संख्यादावतिव्याप्तिवारणाय मात्र'पदम्। रूपत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण'पदम्। प्रभाभित्तिसंयोगेऽतिव्याप्ति- वारणाय चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वं वाच्यम्। रूपं विभजते- तच्चेति।

नन्वव्याप्यवृत्तिनीलादिसमुदाय एव चित्ररूपमिति चेन्न। रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमात्। ननु चित्रपटे अवयवरूपस्यैव प्रतीतिरिति चेन्न। रूपरहितत्वेन पटस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। न च रूपवत्समवेतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं गौरवात्। तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः।

रूपस्याश्रयमाह पृथिवीति। आश्रयं विभज्य दर्शयति, तत्रे'ति।

अनु०- रूप का लक्षण करते हैं- चक्षु आदि। संख्या आदि गुणों में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'मात्र' पद कहा गया है। इसी प्रकार रूपत्व में अतिव्याप्ति न हो जाये, इसके लिये रूप के लक्षण में गुण पद का प्रयोग किया गया। प्रभाभित्ति में होने वाले संयोग में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये चक्षु मात्र के द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य जाति वाला समझना चाहिए।

रूप का विभाजन करते हैं- शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश तथा चित्र।

शंका- अव्याप्यवृत्ति वाले नील आदि रूपों का समुदाय ही चित्रभेद है, यह चित्र रूप का कोई स्वतन्त्र भेद नहीं है।

समाधान- ऐसा नहीं है क्योंकि रूप नियम से व्याप्यवृत्ति पदार्थ है।

शंका- चित्रपट में अवयव रूप की प्रतीति होनी चाहिए।

समाधान- यह भी उचित नहीं। क्योंकि (ऐसा मानने पर) रूपरहित होने से पट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा तथा रूपवान् में समवेत होना प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक नहीं है। इसलिये पट का प्रत्यक्ष नहीं होने से भी चित्र रूप की सिद्धि हो जाती है।

रूप के आश्रय द्रव्य पृथिवी, जल एवं तेज हैं। आश्रय का विभाजन कर पुनः उसको मूल में स्पष्ट किया गया है।

त०दी०- रसं लक्षयति, रसनेति। रसत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्।

रसस्याश्रयमाह- पृथिवीति। आश्रयं विभज्य दर्शयति, तत्रे'ति।

अनु०- रसना से रस का लक्षण किया जाता है। रसत्व में इस लक्षण की अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये रसलक्षण में गुण पद का प्रयोग किया गया है। पृथिवी, जल के द्वारा रस के आश्रय को कहा गया है। तत्पश्चात् रस का विभाजन कर उसे पृथिवी जल आदि में दर्शाया गया है।

त०दी०- गन्धं लक्षयति घ्राणेति। गन्धत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्।

अनु०- घ्राण पद के द्वारा गन्ध का लक्षण किया गया है। गन्धत्व में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये गुण पद का प्रयोग किया गया है।

त०दी०- स्पर्शं लक्षयति त्वगिति। स्पर्शत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्। संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम्।

अनु०- त्वक् इस पद के द्वारा स्पर्श का लक्षण किया गया है। स्पर्शत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिये गुण पद का प्रयोग किया गया है । संयोग आदि में अतिव्याप्ति के वारण के लिये मात्र पद का प्रयोग किया गया है।

त०दी०- पाकजमिति- पाकस्तेजःसंयोगः। तेन पूर्वरूपं नश्यति, रूपान्तरमुत्पद्यत इत्यर्थः। तत्र परमाणुष्वेव पाको, न द्व्यणुकादौ। आमनिक्षिप्ते घटे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्व्यणुकादि-क्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः। तत्र परमाणवः समवायिकारणम्, तेजःसंयोगोऽसम-वायिकारणम्। अदृष्टादिकं निमित्तकारणम्। द्व्यणुकादिरूपे कारणरूपम-समवायिकारणमिति पीलुपाकवादिनो वैशेषिकाः। पूर्वघटस्य नाशं विनैव अवयविन्यवयेषु च परमाणुपर्यन्तेषु युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति पिठरपाकवादिनो नैयायिकाः। अत एव पार्थिवपरमाणुरूपादिकमनित्यमित्यर्थः।

अनु०- पाकज का अर्थ है तेजः संयोग। उससे पूर्वरूप नष्ट हो जाता है तथा अन्य रूप की उत्पत्ति हो जाती है।

यहाँ परमाणुओं में ही पाक है न कि द्व्यणुक आदि में। आमपाक (आवा) में घट के डालने पर भिन्न रूप की उत्पत्ति होने लगती है तथा घट का श्याम वर्ण नष्ट हो जाता है। पुनः द्व्यणुक आदि के क्रम से रक्त (लाल) घट की उत्पत्ति होने लगती है। वहाँ परमाणुओं में (रक्त रूप के प्रति परमाणु) समवायिकारण है, तेजःसंयोग असमवायिकारण है तथा अदृष्ट आदि निमित्त कारण हैं। द्व्यणुक आदि रूप में कारण रूप असमवायिकारण होता है- यह **वैशेषिक** मत है। इस पाकसम्बन्ध में **वैशेषिक** पीलुपाकवादी हैं। पूर्वघट के नाश के बिना ही अवयवी में तथा परमाणुपर्यन्त अवयवों में एक साथ भिन्न रूप की उत्पत्ति होती है- ऐसा पिठरपाकवादी नैयायिकों का मत है। इसलिये पार्थिव परमाणुओं में रूप आदि अनित्य है- यही इसका अर्थ है।

त०दी०- अन्यत्रेति। जलादावित्यर्थः नित्यगतमिति। परमाणुगतमित्यर्थः। अनित्यगतमिति। द्व्यणुकादिनिष्ठमित्यर्थः। रूपादिचतुष्टयमुद्भूतं

प्रत्यक्षमनुद्भूतमप्रत्यक्षम्। उद्भूतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजको धर्मः। तदभावोऽनुद्भूतत्वम्।

अनु०- जल आदि में रूप अपाकज होते हैं। जलादि के परमाणुगत रूपादि नित्य होते हैं तथा द्व्यणुकादिगत रूपादि अनित्य होते हैं। रूपादिचतुष्टय उद्भूत होकर प्रत्यक्ष होते हैं। अनुद्भूतावस्था में अप्रत्यक्ष होते हैं। प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक धर्म उद्भूतत्व है तथा उद्भूतत्व का अभाव अनुद्भूतत्व है।

त०दी०- संख्यां लक्षयति, 'एके'ति।

अनु०- एकत्व आदि से संख्या की परिभाषा की जाती है।

त०दी०- परिमाणं लक्षयति माने'ति। परिमाणं विभजते, तच्चे'ति। भावप्रधानो निर्देशः। अणुत्वं, महत्त्वं, दीर्घत्वं, ह्रस्वत्वं चेत्यर्थः।

अनु०- भावप्रधान निर्देश के कारण अणु, महत्, दीर्घ एवं ह्रस्व से क्रमशः अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व, तथा ह्रस्वत्व यह अर्थ अभिप्रेत है।

त०दी०- पृथक्त्वं लक्षयति, पृथगिति। 'इदमस्मात् पृथग्' इति व्यवहारकारणं पृथक्त्वमित्यर्थः।

अनु०- 'यह इससे पृथक् है'- इस प्रकार के व्यवहार के (असाधारण) कारण को पृथक्त्व कहते हैं।

त०दी०- संयोगं लक्षयति, संयुक्तेति। 'इमौ संयुक्तौ' इति व्यवहारहेतुरित्यर्थः। संख्यादिलक्षणे सर्वत्र दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणाय असाधारणे'ति विशेषणीयम्।

संयोगो द्विविधः— कर्मजः, संयोगजश्चेति। आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकसंयोगः। द्वितीयो हस्तपुस्तकसंयोगात्कायपुस्तकसंयोगः। अव्याप्यवृत्तिः संयोगः। स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमव्याप्यवृत्तित्वम्।

अनु०- संयुक्त आदि से संयोग का लक्षण करते है। 'ये दोनों संयुक्त हैं' इस प्रकार का जो व्यवहार है उसके कारण को संयोग कहते हैं। संख्या आदि के लक्षणों में सब जगह दिशा, काल आदि में अतिव्याप्ति को रोकने के लिये हेतु का अर्थ असाधारण कारण समझना चाहिए। संयोग दो प्रकार का है- कर्मज एवं संयोगज। हाथ की क्रिया से हस्त तथा पुस्तक का संयोग कर्मज है। हाथ एवं पुस्तक के संयोग से उत्पन्न शरीर और पुस्तक का संयोग संयोगज है। संयोग अव्याप्यवृत्ति है। अपने अत्यन्ताभाव के साथ एक

अधिकरण में रहना ही अव्याप्यवृत्ति है।

त०दी०- विभागं लक्षयति संयोगे'ति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय संयोगनाशक' इति। विभागोऽपि द्विविधः कर्मजो विभागजश्चेति। आद्यो हस्तपुस्तकविभागः। द्वितीयो हस्तपुस्तकविभागात् कायपुस्तकविभागः।

अनु०- कालादि में अतिव्याप्ति के निषेध के लिये गुण पद का प्रयोग किया गया है। रूपादि में अतिव्याप्ति वारण के लिये संयोगनाशक पद दिया गया है। विभाग भी दो प्रकार का है- कर्मज तथा विभागज। हाथ की क्रिया से हाथ एवं पुस्तक का विभाग कर्मज है। हाथ एवं पुस्तक के विभाग से होने वाला शरीर और पुस्तक का विभाग विभागज विभाग है।

त०दी०- परत्वापरत्वयोर्लक्षणमाह, परापरे'ति। परव्यवहारासाधारण-कारणं परत्वम्। अपरव्यवहारासाधारणंकारणमपरत्वमित्यर्थः। ते विभजते- 'ते द्विविधे' इति। दिक्कृतयोरुदाहरणमाह दूरस्थे' इति। कालकृते उदाहरति ज्येष्ठ' इति।

अनु०- परत्व एवं अपरत्व का लक्षण कहते हैं- पर व्यवहार का असाधारण कारण परत्व है। अपर व्यवहार का असाधारण कारण अपरत्व है। वे दो प्रकार के हैं। 'दूरस्थे' आदि से दिक्कृत परत्व तथा अपरत्व के उदाहरण देते हैं। 'ज्येष्ठ' आदि से कालकृत परत्व एवं अपरत्व के उदाहरण देते हैं।

त०दी०- गुरुत्वं लक्षयति आद्ये'ति। द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवायिकारणत्वाद् वेगेऽतिव्याप्तिवारणाय आद्ये'ति।

अनु०- द्वितीय आदि पतन का असमवायि कारण वेग है, अतः वेग में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'आद्य' पद का प्रयोग किया गया।

त०दी०- द्रवत्वं लक्षयति- आद्येति। स्यन्दनं प्रस्रवणम्। तेजः संयोगजं नैमित्तिकम्। तद्भिन्नं सांसिद्धिकम्। पृथिव्यां नैमित्तिकमुदाहरति- घृतादाविति। तेजसि तदाह- सुवर्णादाविति।

अनु०- आद्य आदि पद से द्रवत्व का लक्षण किया जा रहा है। स्यन्दन का अर्थ प्रस्रवण (चूना) है। तेजःसंयोग से नैमित्तिक उत्पन्न होता है। उससे भिन्न सांसिद्धिक है। पृथिवी में नैमित्तिक का उदाहरण घृत आदि है। तेज में सुवर्ण आदि है।

त०दी०- स्नेहं लक्षयति चूर्णे 'ति। कालादवतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय पिण्डीभावे 'ति।

अनु०- चूर्ण आदि पद से स्नेह का लक्षण किया जा रहा है। स्नेह के लक्षण में प्रयुक्त गुण पद काल आदि में अतिव्याप्ति के वारण के लिये है। चूर्ण के हेतु रूपादि में अतिव्याप्ति के वारण के लिये पिण्डीभाव पद है।

त०दी०- शब्दं लक्षयति श्रोत्रे 'ति। शब्दत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय श्रोत्रे 'ति। शब्दस्त्रिविधः- संयोगजो, विभागजः, शब्दजश्चेति। तत्र आद्यो भेरीदण्डसंयोगजन्यः। द्वितीयो वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागजन्यश्चटचटादिशब्दः। भेर्यादिदेशमारभ्य श्रोत्रदेशपर्यन्तं द्वितीयादिशब्दाः शब्दजाः।

अनु०- श्रोत्र आदि से शब्द का लक्षण किया जा रहा है। शब्दत्व में अतिव्याप्ति, वारण के लिये गुण पद का प्रयोग किया गया है। रूप आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिये श्रोत्र शब्द का प्रयोग किया गया है। **शब्द तीन प्रकार का है- संयोगज, विभागज तथा शब्दज।** इनमें भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न होने वाला संयोगज है। बाँस को फाड़े जाने पर दोनों दलों के विभाग से उत्पन्न होने वाला चटचटादि शब्द विभागज है, भेरी आदि देश से आरम्भ कर श्रोत्रपर्यन्त उत्पन्न होने वाले द्वितीयादि शब्द शब्दज है।

त०दी०- बुद्धेर्लक्षणमाह- सर्वेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय सर्वव्यवहारेति। जानामीत्यनुव्यवसायगम्य-ज्ञानत्वमेव लक्षणमित्यर्थः। बुद्धिं विभजते- सेति।

अनु०- सर्व आदि के द्वारा बुद्धि का लक्षण किया जा रहा है। बुद्धि में काल आदि की अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये गुण पद दिया गया है। रूप आदि में अतिव्याप्तिवारण के लिये सर्वव्यवहार पद का प्रयोग है। 'जानामि' इस अनुव्यवसाय से गम्य होने के कारण वह (बुद्धि) ज्ञानत्व है।

त०दी०- स्मृतेर्लक्षणमाह- संस्कारेति। भावनाख्यः संस्कारः। संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमिति। घटादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारजन्यमिति। प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्रेति।

अनुभवं लक्षयति- तद् भिन्नमिति। स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभव इत्यर्थः। अनुभवं विभजते- स द्विविध इति।

अनु०- संस्कार पद के द्वारा स्मृति का लक्षण कहा जा रहा है। यहाँ यह

संस्कार भावनाख्य संस्कार है। संस्कारध्वंस में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'ज्ञान' पद का सन्निवेश किया गया है। घटादिपक्ष में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'संस्कारजन्य' पद दिया गया है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्तिवारण के लिये मात्र पद दिया गया है।

अनुभव का लक्षण है - तद्भिन्न आदि। स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है। यह अनुभव दो प्रकार का है।

त०दी०- **यथार्थानुभवं लक्षयति- तद्वतीति। ननु घटे घटत्वमिति प्रमायामव्याप्तिः। घटत्वे घटाभावादिति चेन्न, यत्र यत्सम्बन्धोऽस्ति तत्र तत्सम्बन्धानुभव इत्यर्थात् घटत्वेऽपि घटसम्बन्धोऽस्तीति नाव्याप्तिः। सैवेति। यथार्थानुभव एव शास्त्रे प्रमेत्युच्यत इत्यर्थः।**

अनु०- तद्वति से यथार्थानुभव का लक्षण किया गया।

शंका- घट में घटत्व है, इस प्रकार प्रमा में अव्याप्ति है।

समाधान- घटत्व में घटाभाव होने के कारण ऐसा नहीं है, क्योंकि जहाँ जिसका सम्बन्ध है वहाँ उसके सम्बन्ध का अनुभव यथार्थ अनुभव है। घटत्व में भी घट सम्बन्ध हो इस प्रकार इसमें अव्याप्ति नहीं है। न्यायशास्त्र में यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहा जाता है।

त०दी०- **अयथार्थानुभवं लक्षयति- तदभाववतीति। नन्विदं संयोगीति प्रमायामतिव्याप्तिरिति चेन्न, यदवच्छेदेन यत्सम्बन्धाभावस्तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्, संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य प्रमात्वान्नातिव्याप्तिः।**

अनु०- अयथार्थ अनुभव का 'तदभाववति' से लक्षण किया गया है।

शंका- 'इदं संयोगि' इस प्रमात्मक ज्ञान में अयथार्थानुभव लक्षण की अतिव्याप्ति है।

समाधान- यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि जिस भाग में जिसके सम्बन्ध का अभाव है, उस भाग में उस सम्बन्ध ज्ञान का अयथार्थ अनुभव विवक्षित है। यहाँ जिस भाग में संयोगाभाव है, यदि उसी भाग में संयोगज्ञान हो तो वह भ्रम होगा। अतः जिस भाग में संयोग है, उस भाग में संयोग का सम्बन्ध ज्ञान करने से उक्त ज्ञान में अयथार्थ लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

त०दी०- **यथार्थानुभवं विभजते- यथार्थेति। प्रसङ्गात्प्रमाकरणं विभजते- तत्करणमिति। प्रमाकरणमित्यर्थः। प्रमायाः करणं प्रमाणमिति**

प्रमाणसामान्यलक्षणम्।

अनु०- यथार्थ आदि के द्वारा यथार्थानुभव का विभाजन करते हैं। यथार्थानुभव के भेद के प्रसंग में प्रमा के करण के भी भेद बताये गये हैं। 'प्रमा का करण प्रमाण है'- यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है।

त०दी०- करणलक्षणमाह- असाधारणेति साधारणकारणे दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणायासाधारणेति।

अनु०- असाधारण शब्द से करण का लक्षण कहा गया है। साधारण कारण दिक् कालादि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'असाधारण' पद दिया।

त०दी०- कारणलक्षणमाह- कार्येति। 'पूर्ववृत्तिकारणम्' इत्युक्ते रासभादावतिव्याप्तिः स्यात्, अतो नियतेति। तावन्मात्रे कृते कार्ये अतिव्याप्तिरतः पूर्ववृत्ति इति।

अनु०- कार्य शब्द से कारण का लक्षण किया गया है। 'पूर्ववृत्तिकारणम्' ऐसा कहने पर रासभ आदि में अतिव्याप्ति हो जाएगी, इसलिये 'नियत' पद दिया। उसी समय किये गयें कार्य में अतिव्याप्ति न हो जाए इसलिये पूर्ववृत्ति पद दिया गया।

त०दी०- ननु तन्तुरूपमपि पटं प्रति कारणं स्यादिति चेन्न, 'अन्यथासिद्धत्वे सति' इति विशेषणात्। अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धिरहितत्वम्।

शंका- तन्तु रूप भी पट के प्रति कारण होगा?

समाधान- नहीं। 'अनन्यथासिद्धत्वे सति' विशेषण के प्रयोग करने से नहीं होगा। क्योंकि पट के प्रति तन्तु रूप अन्यथासिद्ध है। अन्यथासिद्ध का न होना ही अनन्यथासिद्धत्व है।

त०दी०- अन्यथासिद्धिस्त्रिविधा- येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तेन तदन्यथासिद्धम्। यथा तन्तुता तन्तुरूपं तन्तुत्वञ्च पटं प्रति। अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तदन्यथासिद्धम्। यथा शब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव घटं प्रत्याकाशस्य। अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एवं कार्यसम्भवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्। यथा पाकजस्थले गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य। एवञ्चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्।

अनु०- अन्यथासिद्ध तीन प्रकार के हैं- जिसके साथ ही जिसका जिसके प्रति पूर्ववृत्तित्व अवगत होता है उसके प्रति उसके द्वारा वह अन्यथासिद्ध हो जाता है। जैसे- तन्तु के साथ तन्तुरूप एवं तन्तुत्व पट के प्रति पूर्ववृत्ति होते हैं। दूसरे के प्रति पूर्ववृत्तित्व ज्ञात होने पर ही जिसका जिसके प्रति पूर्ववृत्तित्व अवगत होता है, वह उसके प्रति अन्यथासिद्ध है। जैसे- शब्द के प्रति पूर्ववृत्तित्व ज्ञात होने पर ही आकाश का घट के प्रति पूर्ववृत्तित्व ज्ञात होता है। अन्यत्र क्लृप्त (निश्चित) नियत पूर्ववृत्ति से ही कार्य हो सकने पर उसका सहभूत जो होगा, वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होगा। जैसे- पाकजस्थल में गन्ध के प्रति रूप प्रागभाव। इस प्रकार अनन्यथासिद्ध होते हुए कार्य नियत पूर्ववृत्तित्व ही कारणत्व है।

त०दी०- कार्यलक्षणमाह- कार्यमितिं।

अनु०- कार्य आदि पद से कार्य का लक्षण किया जा रहा है।

त०दी०- कारणं विभजते- कारणमिति। समवायिकारणस्य लक्षणमाह- यत्समवेतमिति। यस्मिन् समवेतमित्यर्थः। असमवायिकारणं लक्षयति- कार्येणेति। 'कार्येण' इत्येतदुदाहरति- तन्तुसंयोग इति। कार्येण पटेन सहैकस्मिन् तन्तुसमवेतत्वात् तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायि-कारणमित्यर्थः। 'कारणेन' इत्येतदुदाहरति तन्तुरूपमिति कारणेन पटेन सहैकस्मिन् तन्तौ समवेतत्वात् तन्तुरूपं पटरूपस्यासमवायिकारणमित्यर्थः। निमित्तकारणं लक्षयति- तदुभयेति। समवाय्यसमवायिभिन्नकारणं निमित्तकारणमित्यर्थः। कारणलक्षणमुपसंहरति- तदेतदिति।

अनु०- कारण आदि पद से कारण का विभाजन किया जा रहा है। तदनन्तर यत्समवेतम् आदि के द्वारा समवायिकारण का लक्षण किया गया। कार्य पद के द्वारा असमवायिकारण का लक्षण दिया गया। उदाहरणार्थ- तन्तु संयोग। पट कार्य के साथ एक तन्तु में समवेत होने के कारण तन्तु संयोग पट का असमवायिकारण है। कारण के साथ इसका यह लक्षण है कि पट कारण के साथ एक तन्तु में समवेत होने के कारण तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है। निमित्तकारण वह है जो समवायि तथा असमवायि दोनों कारणों से भिन्न है। इसके बाद करण के लक्षण का उपसंहार किया गया है।

त०दी०- प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणमाह- तत्रेति। प्रमाणचतुष्टयमध्य इत्यर्थः। प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह- इन्द्रियेति। इन्द्रियं चक्षुरादिकम्, अर्थो घटादिः, तयोस्सन्निकर्षः संयोगादिः, तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थः। तद्विभजते-

तद्द्विविधमिति।

निर्विकल्पस्य लक्षणमाह निष्प्रकारकमिति। विशेषणविशेष्य-सम्बन्धानवगाहिज्ञानमित्यर्थः। ननु निर्विकल्पके किं प्रमाणमिति चेन्न। गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वात्, दण्डीति ज्ञानवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पक-त्वेऽनवस्थाप्रसङ्गत्वात् निर्विकल्पकसिद्धिः।

सविकल्पकं लक्षयति- सप्रकारकमिति। नामजात्यादिविशेषणविशेष्य-सम्बन्धावगाहि ज्ञानमित्यर्थः। सविकल्पकमुदाहरति- यथेति।

अनु०- प्रत्यक्षादि चतुर्विध प्रमाणों के मध्य प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति जो असाधारण कारण है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्द्रिय से तात्पर्य है चक्षुः, श्रोत्र आदि; अर्थ से तात्पर्य है घट, पटादि पदार्थ, उन दोनों का सन्निकर्ष संयोगादि से कहा गया। इससे उत्पन्न जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है- निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष।

इनमें निष्प्रकारक ज्ञान निर्विकल्पक है। जिस ज्ञान में विशेषण-विशेष्य तथा इनके सम्बन्ध का अवगाहन न होता हो, वह निर्विकल्पक ज्ञान है।

शंका- निर्विकल्पक ज्ञान में क्या प्रमाण है?

समाधान- ऐसी शंका निर्मूल है, क्योंकि "गौरियमिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वात्, दण्डीति ज्ञानवत्" यह अनुमान ही प्रमाण है, यदि विशेषण ज्ञान भी सविकल्पक हो तो निर्विकल्पक सिद्धि में अनवस्थादोष प्रसंग हो जाएगा।

सविकल्पक का लक्षण कहते हैं- सप्रकारक ज्ञान सविकल्पक है। अर्थात् नाम, जात्यादि विशेषण एवं विशेष्य का सम्बन्धावगाही ज्ञान सविकल्पक है। जैसे- यह डित्थ है, यह श्याम है इत्यादि।

त०दी०- इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विभजते- प्रत्यक्षेति। संयोगसन्निकर्षमुदाहरति चक्षुषेति। द्रव्यप्रत्यक्षे सर्वत्र संयोगः सन्निकर्षः। आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते इत्यर्थः। संयुक्तसमवायमुदाहरति घटरूपेति। तत्र युक्तिमाह- चक्षुस्संयुक्त इति। संयुक्तसमवेतसमवायमुदाहरति रूपत्वेति। समवायमुदाहरति- श्रोत्रेणेति। तदुपपादयति- कर्णेति।

अनु०- प्रत्यक्ष आदि के द्वारा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का विभाजन किया जा

रहा है। चक्षुः इत्यादि के द्वारा संयोग सन्निकर्ष का उदाहरण दिया गया है। द्रव्य के प्रत्यक्ष में सर्वत्र संयोग सन्निकर्ष होता है। आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से संयुक्त होता है। तत्पश्चात् प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। घट रूप आदि से संयुक्त समवाय सन्निकर्ष का उदाहरण दिया गया है। चक्षुःसंयुक्त के द्वारा युक्ति कहते हैं। रूपत्व के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय हेतु है। श्रोत्र आदि के द्वारा समवाय सन्निकर्ष का उदाहरण देते हैं। कर्ण आदि के द्वारा इसका उपपादन करते हैं।

त०दी०- ननु दूरस्थशब्दस्य कथं श्रोत्रसम्बन्ध इति चेन्न। वीचितरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातस्य शब्दस्य श्रोत्रेण सम्बन्धात्, प्रत्यक्षत्वसम्भवात्। समवेतसमवायमुदाहरति- शब्दत्वेति। विशेषणविशेष्यभावमुदाहरति- अभावेति। तदुपपादयति- घटाभाववदिति। भूतलं विशेष्यं घटाभावो विशेषणम्। भूतले घटो नास्तीत्यत्राभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम्।

एतेनानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं निरस्तम्। यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत, दर्शनाभावान्नास्तीति तर्कितप्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धि-सहकृतेन्द्रियेणैवाभावज्ञानोपपत्तौ अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वासम्भवात्। अधिकरणज्ञानार्थमपेक्षणीयेन्द्रियस्यैव करणत्वोपपत्तावनुपलब्धेः करणत्वायोगात्। विशेषणविशेष्यभावो विशेषणविशेष्यस्वरूपमेव नातिरिक्तः सम्बन्धः।

प्रत्यक्षज्ञानमुपसंहरन् तस्य करणमाह- एवमिति। असाधारण-कारणत्वादिन्द्रियं प्रत्यक्षज्ञानकरणमित्यर्थः। प्रत्यक्षप्रमाणमुपसंहरति- तस्मादिति।

शंका- दूरवर्ती शब्द का श्रवणेन्द्रिय के साथ कैसे सम्बन्ध होता है?

समाधान- ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वीचितरंगन्याय से या कदम्बगोलकन्याय से शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम से श्रोत्र देश (कर्ण प्रदेश) में उत्पन्न शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर श्रावण प्रत्यक्ष का विषय हो जाता है।

'शब्दत्व' आदि से समवेत समवाय का उदाहरण देते हैं। 'अभाव' इत्यादि से विशेषण विशेष्यभाव का उदाहरण देते हैं। 'घटाभाव' आदि पदों से उसका उपपादन करते हैं। यहां भूतल विशेष्य है तथा घटाभाव विशेषण। किन्तु 'भूतले घटो नास्ति' इसमें घटाभाव विशेष्य है।

इस प्रकार अनुपलब्धि का अतिरिक्त प्रमाण होना खण्डित हो गया। 'यदि यहाँ घट होता तो भूतल की तरह दिखाई पड़ता' किन्तु यह दिखाई नहीं पड़ता, इसलिये वह नहीं है। इस प्रकार संभावित प्रतियोगी का विरोध करने वाली अनुपलब्धि की सहकार इन्द्रिय से जब अभाव का प्रत्यक्ष हो जाता है तो अनुपलब्धि का प्रमाण होना सम्भव नहीं है। (विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा योग्यानुपलब्धिसहकृत इन्द्रिय से ही अभाव का प्रत्यक्ष हो जायेगा, इस प्रकार मीमांसकों द्वारा स्वीकृत अनुपलब्धि का प्रमाणान्तरत्व खण्डित हो गया।) अधिकरण ज्ञान के लिये अपेक्षित इन्द्रिय के ही करणत्व होने पर अनुपलब्धि में करणता उचित नहीं। विशेषणविशेष्यभाव विशेषणविशेष्य स्वरूप की तरह ही है, यह कोई अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं है।

'एवम्' पद से प्रत्यक्ष ज्ञान का उपसंहार करते हुए उसका करण कहा जाता है। असाधारण कारण होने से इन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान का करण है। 'तस्मात्' इत्यादि से प्रत्यक्ष प्रमाण का उपसंहार करते हैं।

त०दी०- अनुमानं लक्षयति- अनुमितिकरणमिति। अनुमितिं लक्षयति- परामर्शेति। ननु संशयोत्तरप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः स्थाणुपुरुषसंशयानन्तरं 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शे सति' पुरुष एवेति प्रत्यक्षजननात्। न च तत्रानुमितिरेवेति वाच्यम्। 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायविरोधादिति चेन्न, पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्।

सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता। साध्यसिद्धिरनुमितिप्रतिबन्धिका। सिद्धिसत्त्वेऽपि 'अनुमिनुयामितीच्छायामनुमितिदर्शनात्' सिषाधयिषोत्तेजिका। ततश्चोत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य दाहकारणत्ववत् सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावस्याप्यनुमितिकारणत्वम्।

परामर्शं लक्षयति- व्याप्तीति। 'व्याप्तिविषयकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं स परामर्श' इत्यर्थः। परामर्शमभिनीय दर्शयति- यथेति। अनुमितिमभिनीय दर्शयति- तज्जन्यमिति। परामर्शजन्यमित्यर्थः।

व्याप्तिलक्षणमाह- यत्रेति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तेरभिनयः। साहचर्यनियम इति लक्षणम्। साहचर्यं सामानाधिकरण्यम्, तस्य नियमः- हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थः। पक्षधर्मतास्वरूपमाह- व्याप्यस्येति।

अनु०- 'अनुमिति करण अनुमान है' इसके द्वारा अनुमान का लक्षण किया जा रहा है। परामर्श आदि से अनुमिति का लक्षण करते हैं।

शंका- संशय के अनन्तर प्रत्यक्ष में अनुमिति के लक्षण की अतिव्याप्ति है। क्योंकि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशय के बाद 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयम्' इस परामर्श के होने पर 'पुरुष एवायम्' यह प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है। यदि यह कहें कि उस स्थल में पुरुषत्व की अनुमिति ही होती है तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उक्त स्थल में 'पुरुषं साक्षात्करोमि' ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है न कि 'पुरुषमनुमिनोमि' ऐसा होता है।

समाधान- ऐसा नहीं है क्योंकि प्रकृत में पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्व ही अनुमिति का लक्षण विवक्षित है। पक्षता का प्रतिपादन दीपिकाकार ने इस प्रकार किया है- **सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः** पक्षता अर्थात् सिषाधयिषा के अभाव से विशिष्ट सिद्धि का अभाव पक्षता है। साध्यसिद्धि अनुमिति की प्रतिबन्धिका है। किन्तु सिद्धि के होने पर भी 'अनुमिनुयाम्' ऐसी इच्छा होने पर अनुमिति देखी जाती है, अतः सिषाधयिषा अनुमिति की उत्तेजिका है। जैसे उत्तेजकाभाव से युक्त चन्द्रकान्तमणि के अभाव को भी दाह के प्रति कारण माना जाता है वैसे ही सिषाधयिषा रहित सिद्धि का अभाव भी अनुमिति का कारण है।

परामर्श का लक्षण किया जा रहा है- व्याप्तिविषयक जो पक्षधर्मताज्ञान है वह परामर्श है। 'यथा' इस पद से परामर्श को प्रस्तुत करके परामर्श ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है। 'तज्जन्य' पद से अनुमिति को दिखलाया जा रहा है। तज्जन्य का अर्थ है परामर्शजन्य।

व्याप्ति का लक्षण करते हैं- 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' यह साहचर्य नियम व्याप्ति है, यह शब्द प्रयोग व्याप्ति की उपस्थिति मात्र है। साहचर्य का अर्थ है सामानाधिकरण्य। उसका नियम है- हेतुसमानाधिकरण के अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी नहीं है वह साध्य सामानाधिकरण्य व्याप्ति है। 'व्याप्यस्य' से पक्षधर्मता का स्वरूप कहा गया है।

त०दी०- अनुमानं विभजते- अनुमानमिति। तद्द्वैविध्यं- दर्शयति स्वार्थमित्यादिना। तत्रेति- उभयोर्मध्ये इत्यर्थः। स्वार्थानुमितिं दर्शयति- स्वयमेवेति। भूयोदर्शनेनेति धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे साध्यसाधनयोर्भूयः सहचरदर्शनेनेत्यर्थः।

ननु पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वादौ शतशः सहचारदर्शनेऽपि वज्रमणौ व्यभिचारोपलब्धेर्भूयोदर्शनेन कथं व्याप्तिग्रह इति चेन्न। व्यभिचारज्ञान-विरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकत्वात्। व्यभिचारज्ञानं निश्चयः शङ्का च। तद्विरहः क्वचित् तर्कात्, क्वचित् स्वत सिद्ध एव। धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गलक्षणस्तर्को व्यभिचारशङ्का-निवर्तकः।

ननु सकलवह्निधूमयोरसन्निकर्षात् कथं व्याप्तिग्रह इति चेन्न। वह्नित्व-धूमत्व रूपसामान्यप्रत्यासत्त्या सकलवह्निधूमज्ञानसम्भवात्। तस्मादिति लिङ्गपरामर्शादित्यर्थः।

अनु०- अनुमान आदि के प्रयोग से अनुमान का विभाजन किया जा रहा है। उसके दो भेद हैं- स्वार्थ तथा परार्थ। स्वयमेव पद से सर्वप्रथम स्वार्थानुमान को कहते हैं। 'भूयोदर्शनेन' से अभिप्राय है कि धूम तथा अग्नि का व्याप्तिज्ञान साधन तथा साध्य के अनेक बार सहचारदर्शन से होता है।

शंका- पार्थिवत्व लोहलेख्यत्व आदि में शतशः सहचार के देखे जाने पर भी वज्रमणि आदि में लोहलेख्यत्व का व्यभिचार पाया जाता है- ऐसी स्थिति में भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक कैसे माना जाय?

समाधान- यह शंका उचित नहीं। क्योंकि व्यभिचारज्ञान के अभाव के साथ साहचर्य का ज्ञान व्याप्ति का निश्चायक (बोधक) होता है।

व्यभिचार ज्ञान दो प्रकार का है- निश्चय और शंका। व्यभिचार ज्ञान का अभाव कहीं तर्क द्वारा होता है तो कहीं स्वतः सिद्ध होता है। धूम तथा अग्नि की व्याप्ति ग्रहण करने में आशंका होने पर कार्यकारणभाव के न होने का प्रसंग होगा। जहाँ व्यभिचार की आशंका होगी वहाँ तर्क उस शंका का निवर्तक होगा।

शंका- सकलवह्नि तथा धूम में सन्निकर्ष नहीं होने से व्याप्तिग्रहण कैसे होगा?

समाधान- यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि वह्नित्व, धूमत्वरूप सामान्य लक्षण की प्रत्यासत्ति से लिङ्ग परामर्श के कारण सकल वह्नि तथा धूम का ज्ञान सम्भव होता है। यहाँ तस्मात् का अर्थ है लिङ्ग के परामर्श से।

त०दी०- परार्थानुमानमाह- यत्त्विति। यच्छब्दस्य तत्परार्थानुमानमिति तच्छब्देनान्वयः। पञ्चावयववाक्यमुदाहरति- यथेति। अवयवस्वरूपमाह-

प्रतिज्ञेति। उदाहृतवाक्ये प्रतिज्ञादिविभागमाह- पर्वतो वह्निमानिति। साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा पञ्चम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः। व्याप्तिप्रतिपादकवचनमुदाहरणम्। व्याप्तिविशिष्टलिङ्गप्रतिपादकं वचनमुपनयः। हेतुसाध्यवत्तया पक्षप्रतिपादकं वचनं निगमनम्। पक्षज्ञानं प्रतिज्ञाप्रयोजनम्, लिङ्गज्ञानं हेतुप्रयोजनम्, व्याप्तिज्ञानमुदाहरणप्रयोजनम्, पक्षधर्मताज्ञानमुपनयप्रयोजनम्, अबाधितत्वादिकं निगमनप्रयोजनम्।

अनु०- परार्थानुमान कहा जा रहा है। मूल में 'यत्तु' के यत् शब्द का तत्परार्थानुमानम्' के तत् शब्द के साथ अन्वय है। 'यथा' आदि से पञ्चावयववाक्य को कहते हैं। प्रतिज्ञा आदि से अवयव के स्वरूप को समझाते हैं। कहे गये वाक्य में प्रतिज्ञा आदि का विभाग कहा जा रहा है- पर्वतो वह्निमानिति। साध्यवान् रूप में पक्ष का वचन प्रतिज्ञा है। पंचमी विभक्ति है अन्त में जिसके वह लिङ्गप्रतिपादकवचन हेतु है। व्याप्ति का प्रतिपादन करने वाला वचन उदाहरण है। व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग का प्रतिपादक वचन उपनय है। हेतु एवं साध्य के द्वारा पक्ष प्रतिपादक वचन निगमन है। पक्ष का ज्ञान कराना प्रतिज्ञा का प्रयोजन है। लिङ्ग का ज्ञान कराना हेतु का प्रयोजन है। व्याप्ति का ज्ञान कराना उदाहरण का प्रयोजन है। हेतु में पक्षधर्मता का ज्ञान कराना उपनय का प्रयोजन है एवं हेतु में अबाधितत्व आदि का ज्ञान कराना निगमन का प्रयोजन है।

त०दी०- अनुमितिकरणमाह- स्वार्थेति। ननु व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मता-ज्ञानाभ्यामेव अनुमितिसंभवे विशिष्टपरामर्शः किमर्थमङ्गीकर्तव्य इति चेन्न। 'वह्निव्याप्यधूमवानयम्' इति शाब्दपरामर्शस्थले परामर्शस्यावश्यकतया लाघवेन सर्वत्र परामर्शस्यैव कारणत्वात् लिङ्गं न करणम्। अतीतादौ व्यभिचारात्। 'व्यापारवत्कारणं करणम्' इति मते परामर्शद्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम् तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः। अनुमानमुपसंहरति तस्मादिति।

अनु०- 'स्वार्थ' पद से अनुमितिकरण कहा जाता है।

शंका- व्याप्तिस्मृति तथा पक्षधर्मता ज्ञान से ही अनुमिति उत्पन्न हो सकती है? ऐसी स्थिति में विशिष्ट परामर्श को (अनुमिति का कारण) क्यों स्वीकार किया जाय?

समाधान- उक्त शंका उचित नहीं क्योंकि 'वह्निव्याप्यधूमवानयम्' इस शाब्दपरामर्श में परामर्श को मानना सर्वत्र लाघव है क्योंकि यहाँ परामर्श ही

कारण है। लिङ्ग करण नहीं है अतीतादि लिङ्गों में व्यभिचार से। 'व्यापारवत्कारणं करणम्' इस मत में परामर्शरूप व्यापार द्वारा व्याप्तिज्ञान ही करण है। व्यापार उसे कहते हैं जो करण से जन्य हो तथा करण से उत्पन्न होने वाले कार्य का भी जनक हो।

इस प्रकार तस्मात् पद से अनुमान का उपसंहार होता है।

त०दी०- लिङ्गं विभजते- लिङ्गमिति। अन्वयव्यतिरेकिणं लक्षयति अन्वयेनेति। हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः। तदभावयोर्व्याप्तिर्व्यतिरेक-व्याप्तिः। केवलान्वयिनो लक्षणमाह- अन्वयेति। केवलान्वयिसाधकं लिङ्गं केवलान्वयि। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्। केवलान्वयिनमुदाहरति- यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादिति। ईश्वरप्रमा-विषयत्वं सर्वपदाभिधेयत्वञ्च सर्वत्रास्तीति व्यतिरेकाभावः। केवल-व्यतिरेकिणो लक्षणमाह- व्यतिरेकेति। तदुदाहरति- यथेति। नन्वितरभेदः प्रसिद्धो वा न वा? आद्ये यत्र प्रसिद्धस्तत्र हेतुसत्त्वेऽन्वयित्वम्, असत्त्वे असाधारण्यम्। द्वितीये साध्यज्ञानाभावात् कथं तद्विशिष्टानुमितिः। विशेषणज्ञानाभावे विशिष्टज्ञानानुदयात्। प्रतियोगिज्ञानाभावाद् व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि न स्यादिति चेन्न। जलादित्रयोदशान्योन्याभावानां त्रयोदशसु प्रत्येकं प्रसिद्धानां मेलनं पृथिव्यां साध्यते। तत्र त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदात्मकसाध्यस्यैकाधिकरणवृत्तित्वाभावान्नान्वयि-त्वासाधारण्ये। प्रत्येकाधिकरणप्रसिद्ध्या साध्यविशिष्टानुमितिर्व्यतिरेक-व्याप्तिनिरूपणं चेति।

अनु०- लिङ्ग आदि से लिङ्ग का विभाजन किया जा रहा है। लिङ्ग विभाजन के पश्चात् अन्वय व्यतिरेकि का लक्षण किया जा रहा है- हेतु एवं साध्य की व्याप्ति अन्वयव्याप्ति है। उन दोनों के अभाव की व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति है।

केवलान्वयि का लक्षण करते हैं- अन्वय आदि के द्वारा। केवलान्वयि का साधक लिङ्ग केवलान्वयिलिङ्ग कहलाता है। अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न होना केवलान्वयित्व है। केवलान्वयी का उदाहरण कहते हैं- 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादिति' इस अनुमान में प्रमेयत्व लिङ्ग केवलान्वयी है। ईश्वर प्रमाविषयत्व तथा सर्वपदाभिधेयत्व सर्वत्र है इसलिये व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है।

केवलव्यतिरेकि का लक्षण कहते हैं- व्यतिरेकि। केवलव्यतिरेकि का उदाहरण देते हैं- पृथिवी।

शंका- इतरभेद (पृथिवी से अतिरिक्त भेद) प्रसिद्ध है अथ वा नहीं? प्रथमतः यदि प्रसिद्ध है तो जहाँ प्रसिद्ध है वहाँ हेतु सत्त्व में अन्वयिलिङ्ग है, असत्त्व में असाधारण है। द्वितीयतः यदि प्रसिद्ध नहीं है तो साध्यज्ञान के अभाव में साध्यविशिष्ट अनुमिति कैसे होगी? क्योंकि विशेषण ज्ञान के अभाव में विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता है। प्रतियोगिज्ञान के अभाव के कारण व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान भी नहीं हो सकता।

समाधान- यह शंका युक्त नहीं। क्योंकि जलादि त्रयोदश भेद के अन्योन्याभाव में त्रयोदश के प्रत्येक प्रसिद्ध का मिलन पृथिवी में सिद्ध हो जाता है। उनमें त्रयोदशत्वावच्छिन्न भेद वाले साध्य का कोई एक अधिकरण नहीं है। (इसलिये इतरभेद अप्रसिद्ध होने के कारण) हेतु अन्वयि तथा असाधारणत्व (दोषयुक्त) नहीं होगा। प्रत्येक भेद का अधिकरण प्रसिद्ध होने के कारण साध्यविशिष्ट अनुमिति एवं व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं।

त०दी०- **पक्षलक्षणमाह- सन्दिग्धेति। ननु श्रवणानन्तरभाविमननस्थलेऽव्याप्तिः। तत्र वेदवाक्यैरात्मनो निश्चितत्वेन सन्देहाभावात्। किं च प्रत्यक्षेऽपि वह्नौ यत्रेच्छयाऽनुमितिस्तत्राव्याप्तिरिति चेन्न। उक्तपक्षताश्रयत्वस्य पक्षलक्षणत्वात्। सपक्षलक्षणमाह- निश्चितेति। विपक्षलक्षणमाह- निश्चितेति।**

अनु०- सन्दिग्ध आदि पद के द्वारा पक्ष का लक्षण कहा जा रहा है।

शंका- श्रवण के अनन्तर होने वाले मनन स्थल में पक्ष लक्षण की अव्याप्ति हो गयी। क्योंकि वहाँ वेदवाक्यों के द्वारा आत्मा का निश्चय हो जाने के कारण सन्देह का अभाव हो जाता है और प्रत्यक्ष अग्नि में भी जहाँ इच्छा से अनुमिति ज्ञान होता है, वहाँ अव्याप्ति है।

समाधान- यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि उक्त पक्षता के आश्रयत्व का पक्ष लक्षण विवक्षित है।

इसी प्रकार सपक्ष एवं विपक्ष का लक्षण कहा जा रहा है।

त०दी०- एवं सद्धेतून्, निरूप्यासिद्धहेतून् निरूपयितुं विभजते सव्यभिचार इति। अनुमितिप्रतिबन्धकयथाऽर्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम्।

अनु०- इस प्रकार सद् हेतु का निरूपण कर अब असत् (दुष्ट) हेतुओं को निरूपित करने के लिये विभाजित किया जा रहा है- सव्यभिचार आदि।

अनुमिति प्रतिबन्धक यथार्थ ज्ञान का विषय हेत्वाभास है।

त०दी०- सव्यभिचारं विभजते- स त्रिविध इति। साधारणं लक्षयति- तत्रेति। उदाहरति- यथेति। असाधारणं लक्षयति- सर्वेति। अनुपसंहारिणो लक्षणमाह- अन्वयेति। विरुद्धं लक्षयति- साध्येति। सत्प्रतिपक्षं लक्षयति- यस्येति। असिद्धं विभजते- असिद्ध इति। आश्रयासिद्धमुदाहरति- गगनेति। स्वरूपासिद्धमुदाहरति- यथेति। व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह- सोपाधिक इति।

अनु०- सरल होने से संकेत मात्र के द्वारा इसे समझा जा सकता है।

त०दी०- उपाधेर्लक्षणमाह- साध्येति। उपाधिश्चतुर्विधः- केवलसाध्यव्यापकः पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति। आद्यः आर्द्रेन्धनसंयोगः। द्वितीयो यथा- वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम्। तृतीयो यथा- प्रागभावो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्। चतुर्थो यथा- प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यव्यापकं भावत्वम्।

अनु०- व्याप्यत्वासिद्धलक्षण के साथ ही साध्य पद से उपाधि का लक्षण कहा जा रहा है। उपाधि चार प्रकार का है- केवलसाध्यव्यापक, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक तथा उदासीन धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक। प्रथम- आर्द्रेन्धनसंयोग है। द्वितीय- 'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वाद्' यहाँ वहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्यत्व का व्यापक उद्भूतरूपवत्त्व (उपाधि) है। तृतीय- जैसे 'प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात्', यहाँ जन्यत्वावच्छिन्न अनित्यत्व का व्यापक भावत्व उपाधि है। चतुर्थ- 'प्रागभावो विनाशो प्रमेयत्वात्' यहाँ जन्यत्वावच्छिन्न अनित्यत्व का व्यापक भावत्व (उपाधि) है।

त०दी०- बाधितस्य लक्षणमाह- यस्येति। अत्र बाधस्य ग्राह्याभावनिश्चयत्वेन सत्प्रतिपक्षस्य विरोधिज्ञानसामग्रीत्वेन साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकत्वम्। इतरेषां तु परामर्शप्रतिबन्धकत्वम्। तत्रापि साधारणस्याव्यभिचाराभावरूपतया, विरुद्धस्य सामानाधिकरण्याभावतया व्याप्यत्वासिद्धस्य विशिष्टव्याप्त्याभावतयाऽसाधारणानुपसंहारिणोर्व्याप्ति-

संशयाधायकत्वेन व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। आश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धयोः पक्षधर्मताज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। उपाधिस्तु व्यभिचारज्ञानद्वारा व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकः। सिद्धसाधनं तु पक्षताविघटकतयाऽऽश्रयासिद्धावन्तर्भवतीति प्राञ्चः। निग्रहस्थानानन्तरमिति नवीनाः।

अनु०- 'यस्य' आदि से बाधित का लक्षण कहा जा रहा है। यहाँ बाध का ज्ञान ग्राह्याभाव निश्चय होने से तथा सत्प्रतिपक्ष के विरोधी ज्ञान की सामग्री होने से साक्षात् अनुमिति का प्रतिबन्धक है। अन्य (हेत्वाभास) परामर्श का प्रतिबन्धक होता है। वहाँ भी साधारण का अव्यभिचारी अभाव होने से, विरुद्ध का सामानाधिकरण्य अभाव होने से, व्यापकत्वासिद्ध का विशिष्ट व्याप्ति के अभाव से तथा असाधारण एवं अनुपसंहारी का व्याप्तिसंशय जनन द्वारा व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। उपाधि तो व्यभिचार ज्ञान के द्वारा व्याप्ति ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। पक्षता का विघटक होने के कारण सिद्धसाधन आश्रयासिद्ध में अन्तर्भूत होता है, यह प्राचीनों का मत है।

सिद्धसाधनदोष एक प्रकार का निग्रह स्थान है, ऐसा नवीनों का मत है।

त०दी०- उपमानं लक्षयति- उपमितिकरणमिति।

अनु०- उपमितिकरणमिति से उपमान का लक्षण किया जा रहा है।

त०दी०- शब्दं लक्षयति- आप्तेति। आप्तं लक्षयति आप्तस्त्विति। वाक्यलक्षणमाह- वाक्यमिति। पदलक्षणमाह- शक्तमिति। अर्थस्मृत्यनुकूलपदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः। सा च पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः। तन्निरासार्थमाह अस्मादिति। डित्थादीनामिव घटादीनामपि सङ्केत एव शक्तिः, न तु पदार्थान्तरमित्यर्थः।

अनु०- 'आप्त' से शब्द का लक्षण करते हैं। 'आप्तस्तु' से आप्त का लक्षण किया जा रहा है। 'वाक्यम्' से वाक्य का लक्षण किया जा रहा है। 'शक्त' से पद का लक्षण कहा जाता है। अर्थस्मृति से अनुकूल पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध शक्ति है। मीमांसकों के अनुसार वह (शक्ति) स्वतन्त्र पदार्थ है। उसी के निराकरण के लिये 'अस्मात्' आदि पद का प्रयोग है। डित्थादि की तरह घटादि का भी संकेत शक्ति ही है, इसलिये यह (शक्ति) कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

त०दी०- ननु गवादिपदानां जातावेव शक्तिः, विशेषणतया जातेः प्रथममुपस्थितत्वात्। व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपादिति केचित्। तन्न, 'गामानय' इत्यादौ वृद्धव्यवहारेण सर्वत्रानयनादेर्व्यक्तावेव सम्भवेन, जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिकल्पनात्।

अनु०- शंका- गवादि शब्दों की जाति में ही शक्ति है। क्योंकि गो आदि विशेषण के कारण जाति की ही प्रथम उपस्थिति होती है। कोई (मीमांसक) ऐसा मानता है कि शाब्दबोध में व्यक्ति का लाभ, आक्षेप अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से हो जाएगा।

समाधान- यह उचित नहीं। क्योंकि 'गामानय' इत्यादि वृद्धव्यवहार द्वारा सर्वत्र गवादि व्यक्ति में ही आनयनादि क्रिया सम्भव है जाति में नहीं। इसीलिये जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही शक्तिकल्पना उचित है।

त०दी०- शक्तिग्रहश्च वृद्धव्यवहारेण। तथा हि व्युत्पित्सुर्बालः 'गामानय' इत्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयनञ्च दृष्ट्वा मध्यमवृद्धप्रवृत्तिजनकज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य 'अश्वमानय, गां बधान' इति वाक्यान्तरे आवापोद्वापाभ्यां गोपदस्य गोत्वविशिष्टे शक्तिः, अश्वपदस्याश्वत्वविशिष्टे शक्तिरिति व्युत्पद्यते।

अनु०- किस पद की किस अर्थ में शक्ति है, इसका ज्ञान वृद्धव्यवहार से होता है। तथा हि- शक्तिग्रह का इच्छुक बालक उत्तमवृद्ध के द्वारा उच्चारित 'गाम् आनय' इस वाक्य को सुनकर मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति को जानकर तथा गवानयन को देखकर अन्वय एवं व्यतिरेक से मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति से वाक्य ज्ञान को निश्चित करता है। तत्पश्चात् 'अश्वमानय गां बधान' इत्यादि दूसरे वाक्यों में आवाप तथा उद्वाप के द्वारा गोपद की गोत्व धर्मयुक्त गाय में शक्ति तथा अश्वपद की अश्वधर्मयुक्त अश्व में शक्ति का ग्रहण होता है।

त०दी०- ननु सर्वत्र कार्यपरत्वाद् व्यवहारस्य कार्यपरवाक्य एव व्युत्पत्तिर्न सिद्धपर इति चेन्न। 'काश्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिरास्ते' इत्यादौ सिद्धेऽपि व्यवहारात् 'विकसितपद्मे मधुकरस्तिष्ठति' इत्यादौ प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात् सिद्धेऽपि मधुकरादिव्युत्पत्तिदर्शनाच्च।

अनु०- शंका- सर्वत्र व्यवहार की व्युत्पत्ति कार्यपरत्व के कारण कार्यताबोधक वाक्य में ही मान्य है, सिद्ध पदों में नहीं।

समाधान- यह बात नहीं है, क्योंकि 'काश्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिरास्ते' इत्यादि के सिद्ध होने पर भी व्यवहार पाया जाता है। 'विकसितपद्मे मधुकरस्तिष्ठति' इत्यादि वाक्य में प्रसिद्ध पद के समभिव्यवहार से मधुकर आदि पद में व्युत्पत्ति ग्रहण होता है।

त०दी०- लक्षणापि शब्दवृत्तिः। शक्यसम्बन्धो लक्षणा। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदवाच्यप्रवाहसम्बन्धादेव तीरोपस्थितौ तीरेऽपि शक्तिर्न कल्प्यते। सैन्धवादौ लवणाश्वयोः परस्परसम्बन्धाभावान्नानाशक्तिकल्पनम्।

अनु०- लक्षणा भी (एक प्रकार की) शब्दवृत्ति हैं। शक्य के साथ सम्बन्ध लक्षणा है। 'गंगायां घोषः' यहाँ गंगापद के वाच्य अर्थ प्रवाह के सम्बन्ध के कारण तीर (तट) अर्थ की उपस्थिति होती है, अतः तीर में गंगा पद की शक्ति नहीं मानी जाती है। 'सैन्धव' आदि में, लवण और अश्व में परस्पर सम्बन्ध के अभाव के कारण नाना शक्तियों की कल्पना की जाती है।

त०दी०- लक्षणा त्रिविधा- जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। यत्र वाच्यार्थस्यान्वयाभावस्तत्र जहल्लक्षणा। यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति। यत्र वाच्यार्थस्यान्वयस्तत्राजहदिति। यथा छत्रिणो गच्छन्तीति। यत्र वाच्यैकदेशत्यागेनैकदेशान्वयस्तत्र जहदजहदिति। यथा तत्त्वमसीति।

अनु०- लक्षणावृत्ति तीन प्रकार की होती है- जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, तथा जहदजहल्लक्षणा। जहाँ वाच्यार्थ के अन्वय का अभाव हो वहाँ जहल्लक्षणा होती है, जैसे- मञ्चाः क्रोशन्ति। जहाँ वाच्यार्थ का भी अन्वय होता है, वहाँ अजहल्लक्षणा होती है। जैसे- छत्रिणो गच्छन्ति। जहाँ वाच्यार्थ के एक अंश का त्यागकर दूसरे अंश का अन्वय होता है, वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है यथा- तत्त्वमसि।

त०दी०- गौण्यपि लक्षणैव लक्ष्यमाणगुणसम्बन्धस्वरूपा। यथाऽग्निर्माणवक इति। व्यञ्जनापि शक्तिलक्षणान्तर्भूता, शब्दशक्तिमूला, अर्थशक्तिमूला चानुमानादिना अन्यथासिद्धा। तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्। तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्। तात्पर्यज्ञानं च वाक्यार्थज्ञाने हेतुर्नानार्थानुरोधात्। प्रकरणादिकं तात्पर्यग्राहकम्।

अनु०- लक्ष्यमाण गुण सम्बन्धवाली गौणी वृत्ति भी लक्षणा ही है। जैसे- 'अग्निर्माणवकः'। शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना भी शक्तिलक्षणा के ही अन्तर्गत है। अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना अनुमानादि से गतार्थ है। तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज है। उसकी प्रतीति की इच्छा से उच्चारित होना तात्पर्य। तात्पर्यज्ञान वाक्यार्थज्ञान में कारण है क्योंकि यह अनेक अर्थों को देने वाला होता है। प्रकरण आदि तात्पर्य का ग्राहक होता है।

त०दी०- **'द्वारम्' इत्यादौ 'पिधेहि' इति शब्दाध्याहारः। नन्वर्थज्ञानार्थत्वाच्छब्दस्यार्थमविज्ञाय शब्दाध्याहारासम्भावादर्थाध्याहार एव युक्त इति चेन्न। पदविशेषजन्यपदार्थोपस्थितेः शब्दज्ञाने हेतुत्वात्। अन्यथा 'घटः' कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यत्रापि शाब्दज्ञानप्रसङ्गात्। पङ्कजादिपदेषु योगरूढिः। अवयवशक्तिर्योगः। समुदायशक्ती रूढिः। नियतपद्मत्वज्ञानार्थं समुदायशक्तिः। अन्यथा कुमुदेऽपि प्रयोगप्रसङ्गः। 'इतरान्विते शक्तिः' इति प्राभाकराः। अन्वयस्य वाक्यार्थतया भानसम्भवादन्वयांशेऽपि शक्तिर्न कल्पनीयेति गौतमीयाः।**

अनु०- 'द्वारम्' इत्यादि प्रयोग में 'पिधेहि' इत्यादि का शब्दाध्याहार होता है।

शंका- शब्दज्ञान का भी फल अर्थज्ञान ही है। अतः अर्थज्ञान के बिना शब्द का अध्याहार संभव नहीं है। अतः अर्थ का अध्याहार ही उचित है।

समाधान- नहीं। क्योंकि शाब्दबोध के प्रति पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति होती है। अन्यथा 'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' इत्यादि वाक्य में भी शाब्दबोध होगा।

पङ्कज आदि पदों में होने वाली शक्ति योगरूढि है। अवयव शक्ति का अर्थ है योग तथा समुदाय शक्ति का अर्थ है रूढि। नियत रूप से पद्म के ज्ञान के लिये समुदाय शक्ति है, अन्यथा कुमुद अर्थ में भी पंकज का प्रयोग होने लगेगा। इतरान्वित में पद की शक्ति होती है, यह प्राभाकर मत है। अन्वय का वाक्यार्थ में ही ज्ञान सम्भव है, अतः अन्वयांश में शक्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिए, यह गौतम का मत है।

त०दी०- आकाङ्क्षेति। **आकाङ्क्षादिज्ञानमित्यर्थः। अन्यथाऽऽकाङ्क्षादिभ्रमाच्छाब्दभ्रमो न स्यात्। आकाङ्क्षां लक्षयति- पदस्येति। योग्यतालक्षणमाह- अर्थेति। सन्निधिलक्षणमाह- पदानामिति। अविलम्बेन**

पदार्थोपस्थितिः सन्निधिः। उच्चारणं तु तदुपयागितयोक्तम्। गौरश्व इति। घटः कर्मत्वमित्यपि अनाकाङ्क्षोदाहरणं द्रष्टव्यम्।

अनु०- दीपिकाकार ने 'आकाङ्क्षादिज्ञानमित्यर्थः' इस से यह अभिव्यक्त किया है कि आकाङ्क्षादि का ज्ञान वाक्यार्थज्ञान का हेतु है। अन्यथा आकाङ्क्षादि भ्रम से शब्द का भ्रम नहीं होगा। आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि का लक्षण किया जा रहा है। बिना विलम्ब के पदार्थों की उपस्थिति सन्निधि है, क्योंकि उच्चारण उसकी उपयोगिता के आधार पर कहा गया है- गौ, अश्व आदि। 'घटः कर्मत्वम्' यह भी अनाकाङ्क्षा का उदाहरण जानना चाहिए।

त०दी०- वाक्यं विभजते वाक्यमिति। वैदिकस्य विशेषमाह वैदिकमीश्वरोक्तत्वादिति। ननु वेदस्यानादित्वात् कथमीश्वरोक्तत्वमिति चेन्न। 'वेदः पौरुषेयो वाक्यसमूहत्वाद् भारतादिवदित्यनुमानेन पौरुषेयत्वसिद्धेः। न च स्मर्यमाणकर्तृकत्वमुपाधिः गौतमादिभिः शिष्यपरम्परया--- वेदेऽपि सकर्तृकत्वस्मरणेन साधनव्यापकत्वात्। तस्मात्तेपानात्त्रयो वेदा अजायन्त' इति श्रुतेश्च।

ननु वर्णा नित्याः, स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाबलात्। तथा च कथं वेदस्यानित्यत्वमिति चेन्न। 'उत्पन्नो गकारः, विनष्टो गकारः' इत्यादिप्रतीत्या वर्णानामनित्यत्वात्, सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञायाः 'सेयं दीपज्वाला' इतिवत् साजात्यावलम्बनत्वाद् वर्णानां नित्यत्वेऽप्यानुपूर्वीविशिष्टवाक्यस्यानित्यत्वाच्च। तस्मादीश्वरोक्तो वेदः।

अनु०- 'वाक्यम्' इत्यादि पद के द्वारा वाक्य के भेद किये जा रहे हैं। 'वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्' इत्यादि के द्वारा वैदिक वाक्य की विशेषता बतलाते हैं।

शंका- वेद तो अनादि है, ऐसी स्थिति में ईश्वरोक्त कैसे हुए?

समाधान- यह नहीं कह सकते। क्योंकि 'वेद पौरुषेय है वाक्यसमूह होने से महाभारत आदि के समान'- इस अनुमान से वेद पौरुपेय है, यह सिद्ध होता है।

शंका- अनुमान में स्मर्यमाण कर्तृकत्व उपाधि है।

अनु०- ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि गौतमादि ऋषियों द्वारा उनकी शिष्य परम्परा से वेद में भी सकर्तृकत्व का स्मरण होने से उक्त उपाधि साधन व्यापक हो जाती है और 'तस्मात्तेपानात्त्रयो वेदा अजायन्त' यह श्रुतिवचन भी प्रमाण है।

शंका- 'स एवायं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा बल से वर्ण नित्य है। इस प्रकार वेद कैसे अनित्य है?

समाधान- 'उत्पन्नो गकारः, विनष्टो गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा बल से वर्णों का अनित्य होना सिद्ध होता है। 'सोऽयं गकारः' ऐसी प्रत्यभिज्ञा 'सेयं दीपज्वाला' इस प्रतीति के समान गवर्ण जातीयतापरक होती है। वर्णों को नित्य मान लेने पर भी आनुपूर्वी विशिष्ट वाक्य को अनित्य मानना ही पड़ेगा। अतः वेद ईश्वरोक्त ही हैं।

त०दी०- मन्वादिस्मृतीनामाचाराणां च वेदमूलकतया प्रामाण्यम्। स्मृतिमूलवाक्यानामिदानीमनध्ययनात् तन्मूलभूता काचिच्छाखोच्छिन्नेति कल्प्यते। ननु पठ्यमानवेदवाक्योत्सादनस्य कल्पयितुमशक्यतया विप्रकीर्णवादस्यायुक्तत्वान्नित्यानुमेयो वेदो मूलमिति चेन्न। तथा सति कदापि वर्णानुपूर्वीज्ञानाभावेन बोधकत्वासम्भवात्।

नन्वेतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गवन्ति आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वात् गामानयेति मद्वाक्यवदित्यनुमानादेव संसर्गज्ञानसम्भवाच्छब्दो न प्रमाणान्तरमिति चेन्न, अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणस्य शब्दात् प्रत्येमीत्यनुव्यवसायसाक्षिकस्य सर्वसम्मतत्वात्।

अनु०- वेदमूलक होने के कारण मनु आदि स्मृतियाँ तथा सदाचार प्रमाण हैं। स्मृतियों के मूल वेदवाक्यों का इस समय अध्ययन नहीं होने के कारण मूल शाखाएँ उच्छिन्न हो गयीं- ऐसी कल्पना की जाती है। निरन्तर पठ्यमान वेदवाक्य के उच्छेद की कल्पना नहीं की जा सकती, इस प्रकार विप्रकीर्णवाद अयुक्त है। इसलिये अनुमेय वेद ही मूल है। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कभी भी वर्णों की आनुपूर्वी का ज्ञान नहीं होने से वह वेद बोधक नहीं हो सकेगा।

शंका- 'गामानय' इत्यादि वाक्यों की तरह आकांक्षा, योग्यता आदि से युक्त पदसमूह होने के कारण, ये पद स्मारित पदार्थ संसर्गवान् हैं। इस अनुमान से ही संसर्गज्ञान हो जाता है, इसलिये शब्द कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं है।

समाधान- ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमिति की अपेक्षा शाब्दज्ञान विलक्षण है, 'शब्दात् प्रत्येमि' यह अनुव्यवसाय इस शाब्दज्ञान का साक्षी है, सर्वसम्मत है।

त०दी०- नन्वर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरमस्ति। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा पीनत्वान्यथाऽनुपपत्त्या रात्रिभोजनमर्थापत्त्या

कल्प्यत इति चेन्न। 'देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्' इत्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य सिद्धत्वात्। शते पञ्चाशदिति सम्भवोऽप्यनुमानमेव। इह वटे यक्षस्तिष्ठति इत्यैतिह्यमप्यज्ञात-मूलवक्तृकशब्द एव। चेष्टापि शब्दानुमानद्वारा व्यवहारहेतुरिति न प्रमाणान्तरम्। तस्मात् प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाश्चत्वार्येव प्रमाणानि।

अथ ज्ञानानां तद्वति तत्प्रकारकत्वं स्वतोग्राह्यत्वं परतो वेति विचार्यते। तत्र विप्रतिपत्तिः ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं न वेति। अत्र विधिकोटिः स्वतस्त्वं निषेधकोटिः परतस्त्वम्।

अनु०- **शंका-** अर्थापत्ति भी अतिरिक्त प्रमाण है। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ऐसा देखने या सुनने पर मोटेपन की अन्यथानुपपत्ति से रात्रिभोजन की कल्पना अर्थापत्ति से होती है।

समाधान- ऐसा नहीं है, क्योंकि 'देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्' इस अनुमान से ही रात्रि भोजन सिद्ध हो जाता है। 'शते पञ्चाशदिति' यह संभव प्रमाण भी अनुमान ही है। 'इह वटे यक्षस्तिष्ठति' ऐसा ऐतिह्य (पौराणिक अभिमत) प्रमाण भी अज्ञातवक्तृमूलक होने से शब्द प्रमाण ही है। चेष्टा भी शब्दानुमान द्वारा व्यवहार के प्रति हेतु है। इसलिये चार प्रमाणों से भिन्न अतिरिक्त प्रमाण नहीं है।

ज्ञानों में 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' स्वतो ग्राह्य है या परतो ग्राह्य अब इसका विचार किया जा रहा है। इस विषय में मतभेद है कि ज्ञानप्रामाण्य उसके अप्रामाण्य का ग्रहण न कराने वाली प्रत्येक ज्ञानग्राहकसामग्री से होता है या नहीं? यहाँ मीमांसकों के अनुसार विधिकोटि स्वतस्त्व है तथा नैयायिकों के अनुसार निषेधकोटि परतस्त्व है।

त०दी०- अनुमानादिग्राह्यत्वेन सिद्धसाधनवारणाय यावदिति। 'इदं ज्ञानमप्रमा' इति ज्ञानेन प्रामाण्याग्रहाद् बाधवारणायाप्रामाण्यग्राह्यकेति। 'इदं ज्ञानमप्रमा' इत्यनुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्याग्राहकस्याप्यप्रामाण्याग्राहकत्वाभावात् स्वतस्त्वं न स्यादतस्तदिति। तस्मिन् ग्राह्यप्रामाण्याश्रयेऽप्रामाण्याग्राहक इत्यर्थः। **उदाहृतस्थले** व्यवसायेऽप्रामाण्यग्राहकस्याप्यनुव्यवसाये **तदग्राहकत्वात् स्वतस्त्वसिद्धिः।**

अनु०- अनुमानादि ज्ञान की ग्राह्यता से (मीमांसकों के) सिद्ध साधन दोष को दूर करने के लिये 'यावत्' पद का प्रयोग है। 'इदं ज्ञानमप्रमा' इस ज्ञान से प्रामाण्य को ग्राह्य नहीं मानने के कारण बाधज्ञान के वारण के लिये

'अप्रामाण्यग्राह्यकत्व' विशेषण दिया गया। 'इदं ज्ञानमप्रमा' इस अनुव्यवसायनिष्ठ प्रामाण्यग्राहक की भी ज्ञानग्राहक सामग्री नहीं हुई। अतः उस सामग्री से ग्राह्य भी प्रामाण्य स्वतो ग्राह्य नहीं माना जाना चाहिए। इस आपत्ति को दूर करने के लिये 'तदप्रामाण्यग्राहक' में तत् पद दिया। उस ग्राह्य प्रामाण्य के आश्रय में अप्रामाण्य का ग्राहक, तदप्रामाण्यग्राहक का अर्थ है। उदाहृत स्थल में व्यवसाय ज्ञान में अप्रामाण्य का ग्राहक होने पर भी जिस अनुव्यवसाय का प्रामाण्य ग्रहण करना है, उसमें अप्रामाण्य का अग्राहक होने से स्वतस्त्व की सिद्धि हो जाती है।

त०दी०- ननु स्वत एव प्रामाण्यं गृह्यते 'घटमहं जानामि' इत्यनुव्यवसायेन घटघटत्वयोरिव तत्सम्बन्धस्यापि विषयीकरणाद् व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात्। पुरोवर्तिनि प्रकारसम्बन्धस्यैव प्रमात्वपदार्थत्वादिति चेन्न, स्वतः प्रामाण्यग्रहे 'जलज्ञानं प्रमा न वा' इत्यनभ्यासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात्। अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात्। तस्मात् स्वतोग्राह्यत्वाभावात् परतो ग्राह्यत्वमेव तथा हि- प्रथमं जलज्ञानानन्तरं प्रवृत्तौ सत्यां जललाभे सति पूर्वोत्पन्नं जलज्ञानं प्रमा, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वाद् यन्नैवं तन्नैवम्, यथा अप्रमेति व्यतिरेकिणा प्रमात्वं निश्चीयते। द्वितीयादिज्ञानेषु पूर्वज्ञानदृष्टान्तेन तत्सजातीयत्वलिङ्गेनान्वयव्यतिरेकिणापि गृह्यते।

प्रमाया गुणजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम्। प्रमासाधारणकारणगुणः, अप्रमासाधारणकारणं दोषः। तत्र प्रत्यक्षे विशेषवद्विशेष्यसन्निकर्षो गुणः। अनुमितौ व्यापकवति व्याप्यज्ञानम्। उपमितौ यथार्थसादृश्यज्ञानम्। शाब्दज्ञाने यथार्थयोग्यताज्ञानमित्याद्यूहनीयम्। पुरोवर्तिनि प्रकाराभावस्यानुव्यवसायेनानुपस्थितत्वादप्रमात्वं परत एव गृह्यते। पित्तादिदोषजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम्।

अनु०- प्रामाण्य स्वतो ग्राह्य है क्योंकि 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय से घट एवं घटत्व की तरह उन दोनों का सम्बन्ध भी विषयीकरण के कारण व्यवसायरूप प्रत्यासत्ति के समान है। पुरोवर्ती (पदार्थ) में (घटत्वादि रूप) प्रकार का सम्बन्ध ज्ञान ही प्रमा पदार्थ है। (मीमांसकों का) यह कथन सही नहीं है, स्वतः प्रामाण्यग्राह्य में जलज्ञान प्रमा है या नहीं, इस अनभ्यास की दशा में प्रमात्व का संशय नहीं हो पाएगा। क्योंकि अनुव्यवसाय से ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। इसलिये स्वतो ग्राह्यता

के अभाव के कारण प्रमात्व परतो ग्राह्य है। यथा- पहले जल का ज्ञान होता है, उसके बाद प्रवृत्ति होती है, तब जललाभ होने पर पूर्वोत्पन्न ज्ञान (जल का ज्ञान) प्रमा कहलाता है, क्योंकि जो ऐसा नहीं है वह वैसा नहीं है ऐसी सफल प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यथा- अप्रमा। व्यतिरेकी हेतु से प्रमात्व का निश्चय होता है। द्वितीयादि ज्ञान में पूर्वज्ञान के दृष्टान्त से उस ज्ञान की सजातीयता लिङ्ग से अन्वय-व्यतिरेकि के द्वारा भी प्रमात्व ग्रहण होता है।

प्रमा की होने वाली गुणजन्यता ही प्रमा की उत्पत्ति में परतस्त्व है। प्रमा के प्रति असाधारण कारण गुण है। अप्रमा के प्रति असाधारण कारण दोष है। प्रत्यक्ष में विशेषणवान् विशेष्य के साथ होने वाला सन्निकर्ष गुण है। अनुमिति में व्यापकयुक्त पक्ष में व्याप्य ज्ञान गुण है। उपमिति में यथार्थ सादृश्यज्ञान गुण है। शाब्दज्ञान में यथार्थ योग्यता ज्ञान को गुण समझना चाहिए। पुरोवर्ती (विशेष्य) में विशेषण का अभाव अनुव्यवसाय से गृहीत नहीं होता है, अतः अप्रमात्व को भी परतोग्राह्य ही मानना पड़ेगा। अप्रमा की उत्पत्ति में पित्तादि दोषजन्यता परतस्त्व है।

त०दी०- ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वादयथार्थज्ञानमेव नास्तीति। न च 'शुक्ताविदं रजतम्' इति ज्ञानात् प्रवृत्तिदर्शनादन्यथाख्यातिसिद्धिरिति वाच्यम्। रजतस्मृतिपुरोवर्तिज्ञानाभ्यामेव प्रवृत्तिसम्भवात्। उपस्थितेष्टभेदाग्रहस्यैव सर्वत्र प्रवर्तकत्वेन 'नेदं रजतम्' इत्यादावतिप्रसङ्गाभावादिति चेन्न। सत्यरजतस्थले पुरोवर्तिविशेष्यकरजतत्व-प्रकारकज्ञानस्य लाघवेन प्रवृत्तिजनकतया शुक्तावपि रजतार्थिप्रवृत्ति-जनकत्वेन विशिष्टज्ञानस्यैव कल्पनात्।

अनु०- सारे ज्ञानों के यथार्थ होने के कारण अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान से प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे अन्यथाख्याति सिद्ध होती है। क्योंकि रजत के स्मरण तथा पुरोवर्ती ज्ञान से ही प्रवृत्ति सम्भव है। स्मृति के द्वारा उपस्थित (रजतादिरूप) इष्ट वस्तु के (पुरोवर्ती वस्तु के साथ) भेद का आग्रह ही सर्वत्र प्रवृत्ति का जनक है, इसलिये 'नेदं रजतम्' इत्यादि में अतिप्रसक्ति नहीं होगी। यह कथन सही नहीं है क्योंकि वास्तविक रजत स्थल में पुरोवर्तिविशेष्यक रजतत्वप्रकारक ज्ञान लाघव से प्रवृत्ति का जनक होता है, इसी प्रकार शुक्ति में भी पुरोवर्तिविशेष्यक रजतत्वप्रकारक विशिष्टज्ञान ही रजतार्थी व्यक्ति की प्रवृत्ति का कारण मानना चाहिए।

त०दी०- अयथार्थानुभवं विभजते- अयथार्थेति। स्वप्नस्य मानसविपर्ययरूपत्वान्न त्रैविध्यविरोधः। संशयलक्षणमाह- एकस्मिन्निति। घटपटाविति समूहालम्बनेऽतिव्याप्तिवारणायैकेति। 'घटो द्रव्यम्' इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय विरुद्धेति। 'घटत्वविरुद्धपटत्ववान्' इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय नानेति। विपर्ययलक्षणमाह- मिथ्येति। 'तदभाववति तत्प्रकारकनिर्णय' इत्यर्थः। तर्कं लक्षयति- व्याप्येति। यद्यपि तर्को विपर्ययेऽन्तर्भवति, तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वाद्भेदेन सङ्कीर्तनम्।

अनु०- अयथार्थानुभव का विभाग करते हैं- अयथार्थ आदि के द्वारा। स्वप्न भी मानसविपर्यय रूप वाला है अतः इसमें त्रिविध विरोध नहीं है। संशय का लक्षण कहते है- एक आदि। 'घटपटौ' इस समूहालम्बन में अतिव्याप्तिवारण के लिये एक पद दिया गया है। 'घटो द्रव्यम्' इत्यादि में अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये विरुद्ध पद दिया गया है। 'पटत्वविरुद्धघटत्ववान्' इसमें संशय लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिये 'नाना' पद दिया गया है। विपर्यय का लक्षण कहा जाता है- मिथ्या पद से। तदभावति तत्प्रकारकनिश्चय यहाँ विपर्यय का अर्थ है। व्याप्य आदि पद से तर्क का लक्षण कहा जाता है। यद्यपि तर्क विपर्यय के ही अन्तर्गत है तथापि प्रमाणानुग्राहक होने के कारण इस भेद को कहा गया है।

त०दी०- स्मृतिं विभजते- स्मृतिरिति। सुखं लक्षयति- सर्वेषामिति। 'सुखी अहम्' इत्याद्यनुव्यवसायगम्यं सुखत्वादिकमेव लक्षणम्। यथाश्रुतं तु स्वरूपकथनमिति द्रष्टव्यम्।

अनु०- स्मृति को विभाजित करते हैं- स्मृति पद से। सर्वेषाम् इत्यादि के द्वारा सुख का लक्षण करते हैं। 'सुखी अहम्' इसके द्वारा अनुव्यवसायसिद्ध सुखत्व जाति से युक्त होना ही सुख का लक्षण है। किन्तु यथाश्रुत इसके स्वरूप का कथन करना मांत्र है।

त०दी०- संस्कारं विभजते- संस्कार इति। संस्कारत्वजातिमान् संस्कारः। वेगस्याश्रयमाह- वेग इति। वेगत्वजातिमान् वेगः। भावनां लक्षयति- अनुभवेति। आत्मादावतिव्याप्तिवारणायानुभवेति। अनुभवध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय स्मृतीति। स्मृतेरपि संस्कारजनकत्वं नवीनैरुक्तम्। स्थितिस्थापकं लक्षयति- अन्यथेति। सङ्ख्यादयोऽष्टौ नैमित्तिकद्रवत्ववेगस्थितस्थापकाः सामान्यगुणाः। अन्ये रूपादयो विशेषगुणाः। द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणवृत्तिजातिमत्त्वं विशेषगुणत्वम्।

अनु०- संस्कार को विभाजित किया जाता है- संस्कार पद से। संस्कारत्व जाति वाला संस्कार है। वेग के आश्रय को कहा जाता है- वेग से। वेगत्व जाति से युक्त वेग है। भावना का लक्षण करते हैं- अनुभव पद से। आत्मा आदि में अतिव्याप्ति को रोकने के लिये अनुभव पद दिया गया है। अनुभव ध्वंस की अतिव्याप्ति के वारणार्थ स्मृति पद दिया गया है। स्मृति भी संस्कार की जननी है- ऐसा नवीनों (नैयायिकों) के द्वारा कहा गया है। स्थितिस्थापक का लक्षण करते हैं- अन्यथा पद से। संख्या आदि आठ नैमित्तिक द्रवत्व, वेग तथा स्थितिस्थापक ये सामान्य गुण हैं। रूप आदि अन्य विशेष गुण हैं। द्रव्यविभाजक उपाधिद्वय के समानाधिकरण गुण में रहने वाली जाति वाले विशेष गुण हैं।

त०दी०- कर्मणो लक्षणमाह- चलनेति। उत्क्षेपणादीनां कार्यभेदमाह- ऊर्ध्वेति। शरीरेति वक्रतासम्पादकमाकुञ्चनम्। ऋजुतासम्पादकं प्रसारणमित्यर्थः।

अनु०- कर्म का लक्षण कहा जाता है- चलन आदि पद से। उत्क्षेपण आदि के कार्य भेद कहे जाते हैं- ऊर्ध्व से। शरीर आदि से कहा गया है कि वक्रता का सम्पादक आकुञ्चन है। ऋजुता का सम्पादक कर्म प्रसारण है।

त०दी०- सामान्यं लक्षयति- नित्यमिति। संयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय नित्यमिति। जलपरमाणुगतरूपेऽतिव्याप्तिवारणाय एकेति। परमाणुपरिमाणादावतिव्याप्तिवारणायानेकेति। अनुगतत्वं समवेतत्वं घटाद्यत्यन्ताभावो घटाद्यनुगतोऽप्यसमवेत इति नाभावादावतिव्याप्तिः।

अनु०- सामान्य का लक्षण किया जा रहा है- नित्य पद से। संयोग आदि में अतिव्याप्तिवारण के लिये नित्य पद का प्रयोग किया गया है। जलगत रूप में अतिव्याप्ति को रोकने के लिये एक पद का प्रयोग किया गया है। परमाणु के परिमाण आदि में अतिव्याप्ति को रोकने के लिये अनेक पद का प्रयोग किया गया है। अनुगत होना समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है। घट का अत्यन्ताभाव घट आदि में अनुगत भी समवेत है, इस प्रकार अभाव आदि में अतिव्याप्ति नहीं है।

त०दी०- विशेषं लक्षयति - नित्येति।

अनु०- विशेष का लक्षण किया जाता है-नित्य पद से।

त०दी०- समवायं लक्षयति- नित्येति। संयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय नित्येति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय सम्बन्धेति। अयुतसिद्धलक्षणमाह- ययोरिति। नीलो घटः इति विशिष्टप्रतीतिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डीति विशिष्टबुद्धिवत् इति समवायसिद्धः। अवयवावयविनाविति। द्रव्यसमवायिकारणमवयवः तज्जन्यं द्रव्यमवयवि।

अनु०- समवाय को लक्षित करता है- नित्य सम्बन्ध से। संयोग में अतिव्याप्ति को रोकने के लिए नित्य पद का प्रयोग किया गया है। आकाश आदि में अतिव्याप्तिवारण के लिये सम्बन्ध पद प्रयुक्त है। अयुतसिद्ध का लक्षण कहा जा रहा है- जिन दो में 'नील घट है' 'नीलो घटः' इति विशिष्टप्रतीतिः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टप्रत्ययत्वात् दण्डीति'- इस अनुमान द्वारा समवाय की सिद्धि होती है। अवयवावयविनौ में अवयव द्रव्य का समवायिकारण है तथा उससे उत्पन्न द्रव्य अवयवी कहलाता है।

त०दी०- प्रागभावं लक्षयति- अनादिरिति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय सान्त इति। घटादावतिव्याप्तिवारणायानादिरिति। प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः प्रतियोगिजनको भविष्यतीति व्यवहारहेतुः प्रागभावः।

ध्वंसं लक्षयति- सादिरिति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय अनन्त इति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय सादिरिति। प्रतियोगिजन्यः प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिर्ध्वस्त इति व्यवहारहेतुर्ध्वंसः।

अत्यन्ताभावं लक्षयति- त्रैकालिकेति। अन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिवारणाय संसर्गेति। ध्वंसप्रागभावयोरतिव्याप्तिवारणाय त्रैकालिक इति।

अन्योन्याभावं लक्षयति- तादात्म्येति। प्रतियोगिताऽवच्छेदकारोप्यसंसर्गभेदादेकप्रतियोगिकयोरत्यन्तान्योन्याभावयोर्बहुत्वम्। केवलदेवदत्ताभावात् 'दण्ड्यभाव' इति प्रतीत्या विशिष्टाभावः।

अनु०- प्रागभाव का लक्षण किया जा रहा है- अनादि पद से। आकाशादि में अतिव्याप्ति रोकने के लिये 'सान्त' पद का प्रयोग किया गया है। घट आदि में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'अनादि' पद का प्रयोग किया गया है। प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्ति प्रतियोगिजनक होगी- इस व्यवहार का हेतु प्रागभाव है।

प्रध्वंस का लक्षण किया जा रहा है- सादि पद से। घट आदि में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'अनन्त' पद का प्रयोग किया गया है। आकाश आदि में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'सादि' पद का प्रयोग किया गया है। जो अपने प्रतियोगी से जन्य हो तथा प्रतियोगी के समवायिकारण में रहता हो और जो 'ध्वस्त' व्यवहार का हेतु हो वह प्रध्वंस नामक अभाव है।

अत्यन्ताभाव की परिभाषा की जा रही है- त्रैकालिक, पद से। अन्योन्याभाव में अतिव्याप्तिवारण के लिए 'संसर्गावच्छिन्न' पद का प्रयोग किया गया। प्रध्वंस एवं प्रागभाव में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'त्रैकालिक' पद का प्रयोग किया गया है।

अन्योन्याभाव का लक्षण किया जा रहा है- तादात्म्य आदि पद से। एक प्रतियोगिक ध्वंस या प्रागभाव एक ही होता है किन्तु एक प्रतियोगिक भी अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव प्रतियोगितावच्छेदकधर्म या संसर्ग के भेद से अनेक हो जाता है। जैसे- केवल देवदत्ताभाव से दण्ड्यभाव है, इस प्रतीति से यहाँ विशिष्टाभाव है।

त०दी०- एकसत्त्वेऽपि द्वौ न स्त इति प्रतीत्या द्वित्वावच्छिन्नाभावः। संयोगेन घटवति समवायेन घटाभावः तत्तद् घटाभावाद् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकसामान्याभावश्चातिरिक्तः। एवमन्योन्याभावोऽपि। 'घटत्वेन पटो नास्तीति' प्रतीत्या व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावो नाङ्गीक्रियते। पटे घटत्वं नास्तीति तदर्थः। अतिरिक्ते स केवलान्वयी।

सामयिकाभावोऽप्यत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः। घटाभाववति घटानयनेऽत्यन्ताभावस्यान्यत्र गमनाभावेऽप्यप्रतीतेः, घटापसरणे सति प्रतीतेः। भूतलघटसंयोगप्रागभाव-ध्वंसयोर्घटात्यन्ताभावप्रतीतिनियामकत्वं कल्प्यते। घटवति तत्संयोग प्रागभावध्वंसयोरसत्त्वादेवात्यन्ताभावस्याप्रतीतिः। घटापसरणे तु संयोगध्वंसस्य सत्त्वात् प्रतीतिरिति। केवलाधिकरणेनैव नास्तीति व्यवहारोपपत्तावभावो न पदार्थान्तरमिति गुरवः। तन्न, अभावानङ्गीकारे कैवल्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्।

अभावाभावो भाव एव। नातिरिक्तः, अनवस्थाप्रङ्गात्। ध्वंसप्रागभावः प्रागभावध्वंसश्च प्रतियोग्येवेति प्राञ्चः। अभावाभावोऽतिरिक्त एव तृतीयाभावस्य प्रथमाभावरूपत्वान्नानवस्थेति नवीनाः।

अनु०- 'एकसत्त्वेऽपि द्वौ न स्तः' इस प्रतीति से उभयत्व अवच्छिन्न का अभाव है। संयोगसम्बन्ध से घट के होने पर भी समवायसम्बन्ध से घटाभाव होता है। जैसे- तत्तद्घटाभाव से घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक सामान्याभाव भिन्न होता है। इसी प्रकार अन्योन्याभाव भी होता है। 'घटत्वेन पटो नास्ति' यह व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का अभाव स्वीकार नहीं किया जाता है। 'पटे घटत्वं नास्ति' यह उसका अर्थ है। अतिरिक्त अभाव होने में वह केवलान्वयी है।

समयविशेष में प्रतीयमान अत्यन्ताभाव ही सामयिकाभाव है। घटाभाववत् (भूतल) में घट के लाने पर अत्यन्ताभाव के अन्यत्र कहीं नहीं जाने के अभाव में भी अनियम की प्रतीति होती है। घट के हटा लेने पर भी अत्यन्ताभाव की प्रतीति होती है। भूतल पर घटसंयोग का प्रागभाव और ध्वंस को घट के अत्यन्ताभाव की प्रतीति का नियामक माना जाता है। घटवत् भूतल के संयोग में प्रागभाव एवं ध्वंस नहीं रहने से घटात्यन्ताभाव प्रतीत नहीं होगा। घट का अपसारण कर देने पर संयोग के ध्वंस हो जाने से अत्यन्ताभाव की प्रतीति होती है। केवल अधिकरण से ही उसकी प्रतीति नहीं होती है- इस प्रकार के व्यवहार से अभाव का कोई अतिरिक्त पदार्थत्व उपपन्न नहीं होता- यह प्रभाकर गुरु का मत है। यह उचित नहीं है- अभाव को नहीं मानने पर कैवल्य का निर्वचन ही नहीं किया जा सकता।

अभाव का अभाव भाव ही है अतिरिक्त नहीं, क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर अनवस्था दोष आ जाएगा। ध्वंस का प्रागभाव और प्रागभाव का ध्वंस भी प्रतियोगी स्वरूप है- यह प्राचीनों का मत है। अभाव का अभाव अतिरिक्त (अभाव) ही है, तृतीय अभाव प्रथम अभाव स्वरूप है, इसलिये इसमें अनवस्था प्रसंग नहीं आएगा- ऐसा नवीनों का मत है।

त०दी०- ननु "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः" इति न्यायसूत्रे षोडशपदार्थानामुक्तत्वात् कथं सप्तैवेत्यत आह सर्वेषामिति। 'सर्वेषां सप्तस्वेवान्तर्भाव' इत्यर्थः।

अनु०- प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः इस न्यायसूत्र में कहे गये षोडशपदार्थों का वैशेषिक के द्वारा कहे गये सप्त पदार्थों में ही कैसे अन्तर्भाव हो जाता है, इसके

निराकरण में कहा गया है सर्वेषां पदार्थानाम् इति अर्थात् सारे पदार्थों का अन्तर्भाव सप्त पदार्थों में ही हो जाता है।

त०दी०- आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल-दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। इति द्वादशविधं प्रमेयम्। प्रवृत्तिर्धर्माधर्मौ। रागद्वेषमोहा दोषाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः। मोहः शरीरादावात्मभ्रमः। प्रेत्यभावो मरणम्। फलं भोगः। अपवर्गो मोक्षः। स च स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः। प्रयोजनं सुखप्राप्तिर्दुःखहानिश्च। दृष्टान्तो महानसादिः। प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। निर्णयो निश्चयः। स च प्रमाणफलम्। तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः। उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापनाहीना अपरपक्षविदलनमात्रावसाना वितण्डा। कथा नाम नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसंदर्भः। अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणं छलम्।

अनु०- आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग ये बारह प्रमेय हैं। प्रवृत्ति का अर्थ है धर्म और अधर्म। राग, द्वेष तथा मोह दोष हैं। राग का अर्थ है इच्छा। द्वेष का अर्थ है मन्यु (क्रोध)। शरीर, इन्द्रिय आदि में आत्मत्व का भ्रम ही मोह है। प्रेत्यभाव मरण है। फल का अर्थ भोग है। अपवर्ग मोक्ष को कहते हैं। और अपने साथ एक आधार में होने वाला दुःख प्रागभाव का असमानकालिक दुःखध्वंस है। प्रयोजन दो हैं- सुख की प्राप्ति तथा दुःख की हानि। दृष्टान्त महानस आदि है। प्रामाणिकरूप में स्वीकृत अर्थ सिद्धान्त है। निर्णय का अर्थ निश्चय है। निश्चय प्रमाण का फल है। दो तत्त्वजिज्ञासुओं की कथा (विचार) वाद है। परपक्ष निराकरण तथा स्वपक्ष साधन, दोनों जिसमें किये जाते हैं, विषय चाहने वालों की ऐसी कथा ही जल्प है। अपने पक्ष की स्थापना से हीन विषय की चाह वितण्डा है। कथा उस वाक्य को कहते हैं, जिसके नाना वक्ता हों तथा जिसके द्वारा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का जिसमें प्रतिपादन किया जाता हो। अन्य अभिप्राय से युक्त वाक्य जिसमें अर्थान्तर की परिकल्पना कर दोष उत्पन्न हो जाता है, छल है।

त०दी०- असदुत्तरं जातिः। साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य-विकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्य-विशेषोपपत्त्युपलब्धिनित्यानित्यकार्यासमा जातयः। वादिनोऽपजय-

हेतुर्निग्रहस्थानम्। प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थकम्, अपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासश्च निग्रहस्थानानि। शेषं सुगमम्।

अनु०- असत् उत्तर को जाति कहते हैं। इसके चौबीस भेद हैं- साधर्म्य, वैधर्म्य, उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य, विकल्प, साध्य, प्राप्ति, अप्राप्ति, प्रसंग, प्रतिदृष्टान्त, अनुत्पत्ति, संशय, प्रकरण, अहेतु, अर्थापत्ति, अविशेष, उपपत्ति, उपलब्धि, नित्य, अनित्य, कार्य तथा कार्यसमा। वादी के पराजय का हेतु, निग्रहस्थान है। ये बाईस हैं- प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास।

त०दी०- ननु करतलानलसंयोगे सत्यपि प्रतिबन्धके सति दाहानुत्पत्तेः शक्तिः पदार्थान्तरमति चेन्न। प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रे कारणत्वेन शक्तेरनुपयोगात्। कारणत्वस्यैव शक्तिपदार्थत्वात्। ननु भस्मादिना कांस्यादौ शुद्धिदर्शनादाधेयशक्तिरङ्गीकार्येति चेन्न। भस्मादिसंयोगसमान-कालीनास्पृश्यस्पर्शप्रतियोगिकयावदभावसहित भस्मादिसंयोगध्वंसस्य शुद्धिपदार्थत्वात्। स्वत्वमपि न पदार्थान्तरम्। यथेष्टविनियोगयोग्यत्वस्य स्वत्वरूपत्वात्। तदवच्छेदकं च प्रतिग्रहादिलब्धत्वमेवेति।

शंका- करतल एवं अग्नि का संयोग होने पर भी (चन्द्रकान्त मण्यादि रूपं) प्रतिबन्धक के रहते दाह नहीं होता है। इससे शक्तिनामक अतिरिक्त पदार्थ की सिद्धि होती है।

समाधान- कार्यमात्र के प्रति प्रतिबन्धकाभाव के कारण होने से दाहाभाव की उपपत्ति के लिये शक्ति की कोई उपयोगिता नहीं है। क्योंकि यहाँ कारणत्व ही शक्ति पद का अर्थ है।

शंका- भस्म आदि द्वारा कांस्य आदि पात्र में शुद्धि देखी जाती है, अतः उसमें आधेयशक्ति स्वीकार करनी चाहिए।

समाधान- ऐसा नहीं है क्योंकि भस्मादिसंयोग के नाश का समानकालीन अस्पृश्यस्पर्शों के अभावों से युक्त भस्मादि का संयोगध्वंस ही शुद्धि पदार्थ है।

स्वत्व भी अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। क्योंकि अपनी इच्छा के अनुसार अपने उपयोग में लाने की योग्यता ही स्वत्व है। दानोपहार की प्राप्ति उस योग्यता का नियामक है।

त०दी०- अथ विधिर्निरूप्यते- प्रयत्नजनकचिकीर्षाजनकज्ञानविषयो विधिः तत्प्रतिपादको लिङादिर्वा। कृत्यसाध्ये प्रवृत्त्यदर्शनात् कृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्तकम्। न च विषभक्षणादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गः, इष्टसाधनतालिङ्गकृतिसाध्यताज्ञानस्य काम्यस्थले विहितकालशुचिजीवित्व-निमित्तज्ञानजन्यस्य नित्यनैमित्तिकस्थले प्रवर्तकत्वात्। न चाननुगमः, स्वविशेषणवत्ताप्रतिसंधानजन्यत्वस्यानुगतत्वादिति गुरवः। तन्न । लाघवेन कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानस्यैव चिकीर्षाद्वारा प्रयत्नजनकत्वात्। न च नित्यनैमित्तिकस्थले इष्टसाधनत्वाभावादप्रवृत्तिप्रसङ्गः, तत्रापि प्रत्यवायपरिहारस्य पापक्षयस्य च फलत्वकल्पनात्। तस्मात्कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमेव लिङाद्यर्थः।

अनु०- अब विधि का निरूपण किया जा रहा है- प्रयत्नजनक चिकीर्षा के जनक ज्ञान का विषय, विधि है। अथ वा उसका प्रतिपादक लिङ् आदि विधि है। कृत्यसाध्य में प्रवृत्ति नहीं देखे जाने के कारण कृतिसाध्यताज्ञान ही विधि का प्रवर्तक है। (यहाँ) विषभक्षण आदि में प्रवृत्ति प्रसंग नहीं होगा। काम्य तथा नित्यनैमित्तिककर्मस्थल में विहितकालजीवित्व ज्ञानजन्य कृतिसाध्यत्वज्ञान तथा निमित्तज्ञानजन्य कृतिसाध्यत्वज्ञान प्रवर्तक है और इसमें अननुगम भी दोष नहीं है, क्योंकि कार्यताज्ञान में स्वविशेषणवत्ता प्रतिसन्धानजन्यत्व अनुगत ही होगा। किन्तु (प्रभाकर गुरु) का यह मत ठीक नहीं, क्योंकि लाघव के कारण कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञान ही चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्ति का जनक है। नित्य कर्मों में इष्ट (फल) साधनता नहीं होने से प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। इन कर्मों में भी प्रत्यवाय का परिहार और पाप का क्षय ही फल है। इसलिये कृतिसाध्येष्टसाधनत्व ही लिङादि विधिप्रत्यय का अर्थ है।

त०दी०- ननु ' ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'। इत्यत्र लिङा स्वर्गसाधनमपूर्वं कार्यं प्रतीयते। यागस्याशुतरविनाशिनः कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वायोगात् तद्योग्यं स्थायिकार्यमपूर्वमेव लिङाद्यर्थः। कार्यं कृतिसाध्यम्। कृतेः सविषयत्वाद्विषयाकाङ्क्षायां यागो विषयत्वेनान्वेति। 'कस्य कार्यम्' इति नियोज्याकाङ्क्षायां स्वर्गकामपदं नियोज्यपरतयान्वेति। कार्यबोद्धा नियोज्यः। तेन "ज्योतिष्टोमनामकयाग-

विषयकं स्वर्गकामस्य कार्यम्" इति वाक्यार्थः संपद्यते। वैदिकलिङ्त्वाद् 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयाद्' इति नित्यवाक्येऽप्यपूर्वमेव वाच्यं कल्प्यते। 'आरोग्यकामो भेषजपानं कुर्यात्' इत्यादिलौकिकलिङः क्रियाकार्ये लक्षणेति चेन्न। यागस्याप्ययोग्यतानिश्चयाभावेनेष्टासाधनतया प्रतीत्यनन्तरं तन्निर्वाहार्थमवान्तरव्यापारतयाऽपूर्वकल्पनात्। कीर्तनादिना नाशश्रुतेर्न यागध्वंसो व्यापारः।

अनु०- शंका- 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यहाँ लिङ् द्वारा अपूर्व कार्य वाला स्वर्ग का साधन प्रतीत होता है। क्योंकि शीघ्र ही विनष्ट होने वाला याग कालान्तर में भावी स्वर्ग का साधन नहीं हो सकता है। इसलिये उसके योग्य स्थायी कार्य अपूर्व ही लिङादि का अर्थ है। कार्य का अर्थ कृतिसाध्य है। कृति सविषयक होती है, इसलिये विषय की आकाङ्क्षा में याग ही विषयरूप में अन्वित होता है। पुनश्च किसका कार्य है, ऐसी नियोज्याकाङ्क्षा होने पर स्वर्गकामपद नियोज्यपरक होकर अन्वित होता है। कार्य का ज्ञाता, नियोज्य है। इस प्रकार 'ज्योतिष्टोमनामकयागविषयकं स्वर्गकामस्य कार्यमिति' यह वाक्यार्थ सम्पन्न होता है। वैदिक लिङ् होने के कारण "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि नित्यवाक्य में भी अपूर्व वाच्य ही कल्पित होता है। 'आरोग्यकामो भेषजपानं कुर्यात्' इत्यादि लौकिकलिङ् को पानादि क्रिया में लक्षणा है।

समाधान- यह शंका समुचित नहीं। क्योंकि याग की अयोग्यता का निश्चायक प्रमाण नहीं होने से साधना की प्रतीति के अनन्तर उसके निर्वाह के लिये अवान्तर व्यापार के रूप में अपूर्व की कल्पना की जाती है। कीर्तनादि द्वारा धर्म का नाश श्रुतियों में बताया गया है। इसलिये यागध्वंस व्यापार नहीं हो सकता है।

त०दी०- लोकव्युत्पत्तिबलात्क्रियायामेव कृतिसाध्येष्टसाधनत्वं लिङा बोध्यत इति लिङ्त्वेन विध्यर्थकत्वम्, 'आख्यातत्वेन यत्नार्थकत्वम्। 'पचति पाकं करोतीति विवरणदर्शनात्, किं करोतीति प्रश्ने पचतीत्युत्तराच्चाख्यातस्य प्रयत्नार्थकत्वात्। रथो गच्छतीत्यादावनुकूलव्यापारे लक्षणा। 'देवदत्तः पचति' देवदत्तेन पच्यते तण्डुल इत्यादौ कर्तृकर्मणोर्नाख्यातार्थत्वम्। किं तु तद्गतैकत्वादीनामेव। तयोराक्षेपादेव लाभः। 'प्रजयतीत्यादौ धातोरेव प्रकर्षे शक्तिः। उपसर्गाणां द्योतकत्वमेव, न तत्र शक्तिः।

अनु०- लोकव्यवहार के बल से क्रिया में ही लिङ्लकार द्वारा कृतिसाध्यत्व एवं इष्टसाधनत्व का बोध होता है। इस प्रकार लिङ् रूप से विध्यर्थ होता है। आख्यातत्व से प्रयत्न अर्थ का बोध होता है। 'पचति' 'पाकं करोति' ऐसा विवरण देखा जाता है। तथा 'किं करोति' ऐसा पूछने पर 'पचति' ऐसा उत्तर देने से विधि का प्रयत्न अर्थ सिद्ध होता है। 'रथो गच्छति' इत्यादि अनुकूल व्यापार में लक्षणा है। 'देवदत्तः पचति तण्डुलान्' देवदत्तेन पच्यते तण्डुलैः'- यहाँ कर्ता और कर्म आख्यातवाच्य नहीं होगा। यहाँ कृति और कर्मत्व के साथ एकत्वादि संख्या भी आख्यातार्थ है। उन दोनों के आक्षेप से ही लाभ है। 'प्रजयति' इत्यादि में धातु के ही प्रकर्ष अर्थ में शक्ति है। उपसर्ग द्योतक ही हैं। वहाँ शक्ति नहीं है।

त०दी०- पदार्थतत्त्वज्ञानस्य परमं प्रयोजनं मोक्षः। तथा हि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या श्रवणादीनामात्मसाक्षात्कारहेतुत्वबोधनात् श्रुत्या देहादिविलक्षणात्मज्ञाने सत्यप्यसंभावनानिवृत्तेर्युक्त्यार्थानुसंधानरूपमननसाध्यत्वात्। मननोपयोगिपदार्थनिरूपणद्वारा शास्त्रस्यापि मोक्षोपयोगित्वम्। तदनन्तरं श्रुत्युपदिष्टयोगविधिना निदिध्यासने कृते तदनन्तरं देहादिविलक्षणात्मसाक्षात्कारे सति देहादावहमित्यभिमानरूपमिथ्या-ज्ञाननाशे दोषाभावात् प्रवृत्त्यभावे, धर्माधर्मयोरभावे, जन्माभावे, पूर्वधर्माधर्मयोरनुभवेन नाशे चरमदुःखध्वंसलक्षणमोक्षो जायते। ज्ञानमेव मोक्षसाधनम्। मिथ्याज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानमात्रसाध्यत्वात्। 'तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुत्या साधनान्तरनिषेधाच्च।

अनु०- पदार्थों के तत्त्वज्ञान का परम प्रयोजन मोक्ष है। इसीलिये 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुति द्वारा आत्मतत्त्वसाक्षात्कार रूप तत्त्वज्ञान के प्रति श्रवणादि को हेतु बताया गया है। श्रुति के द्वारा देहादि से विलक्षण आत्मज्ञान होने पर भी असम्भावना निवृत्त करना युक्त्यनुसन्धानरूप मनन से ही सिद्ध हो सकती है। मननोपयोगिपदार्थों के निरूपण के द्वारा न्यायशास्त्र भी मोक्षोपयोगी है। उसके बाद श्रुति द्वारा उपदिष्ट योग विधि से निदिध्यासन करने पर, उसके बाद देहादि विलक्षण आत्मा का साक्षात्कार होने पर, देहादि में अहं के अभिमान रूप मिथ्या ज्ञान के नाश होने पर, दोष के अभाव के कारण प्रवृत्ति के अभाव में, धर्म-अधर्म के अभाव के कारण जन्म के अभाव में, पूर्व धर्म-अधर्म के अनुभव से

नाश में चरमदुःखध्वंस रूप मोक्ष उत्पन्न हो जाता है। ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। क्योंकि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से ही साध्य है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इस श्रुति द्वारा (मोक्ष के प्रति) पृथक् साधन का निषेध किया गया है।

त०दी०- ननु 'तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने' इति कर्मणोऽपि मोक्षसाधनत्वस्मरणाज्ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति चेन्न।

'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्।।
अभ्यासाच्च क्वचिज् ज्ञानात्कैवल्यं लभते नरः।'

इत्यादिना कर्मणो ज्ञानसाधनत्वप्रतिपादनाज्ज्ञानद्वारैव कर्मणो मोक्षसाधनत्वं न साक्षात्। तस्मात् पदार्थतत्त्वज्ञानस्य मोक्षः परमप्रयोजनमिति सर्वं रमणीयम्।

अनु०- शंका- 'तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने' इस वचन द्वारा कर्म को भी मोक्ष का साधन बताया गया है, अतः ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही मोक्ष का साधन है।

समाधान- यह ठीक नहीं। क्योंकि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों से पापक्षय करते हुए, ज्ञान को निर्मल करते हुए उसे अभ्यास से परिपक्व करे। अभ्यास से परिपक्व ज्ञान वाला मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है- इत्यादि के द्वारा कर्म के ज्ञानसाधनत्व का प्रतिपादन किया गया है। अतः ज्ञान के द्वारा ही कर्म मोक्ष का साधन है, साक्षात् भाव से नहीं इसलिये पदार्थतत्त्वज्ञान का प्रयोजन मोक्ष है, ऐसा मानने पर पूर्ण समन्वय है।

।।इति श्रीमदन्नम्भट्टोपाध्यायविरचिता तर्कसंग्रहस्य दीपिका समाप्ता।।

परिशिष्ट II

न्याय की पारिभाषिक शब्दावली

अव्याप्ति– लक्ष्य के एक देश में लक्षण के न रहने को 'अव्याप्ति' कहते है– **लक्ष्यैकदेशवृत्तित्वमव्याप्तिः**। यथा– गौ का भूरे रंग का होना।

अतिव्याप्ति– लक्ष्य में रहते हुए लक्ष्य से भिन्न पदार्थों में भी रहना, 'अतिव्याप्ति' है– **अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः**। जैसे– गाय का सींग युक्त होना।

अत्यन्ताभाव– अत्यन्ताभाव वह अभाव होता है जो तीनों कालों में रहे– **त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः** अर्थात् जिस अभाव का प्रतियोगी तीनों कालों में हो, जिस अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग या संयोग, सम्बन्ध से युक्त हो, वह अत्यन्ताभाव कहलाता है।

असम्भव– लक्ष्य मात्र में लक्षण का नहीं होना 'असम्भव' नामक तीसरा दोष कहलाता है– **लक्ष्यमात्रावर्तनमसम्भवः**। जैसे– गाय को एक खुर वाला कहना।

अधर्म– **वेदनिषिद्धजन्यं कर्म अधर्मः**। वेद से निषिद्ध कर्म से उत्पन्न गुणविशेष अधर्म है।

अनुभव– **स्मृतिभिन्नज्ञानमनुभवः**– स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव हैं।

अन्यथासिद्ध– जिसकी पूर्ववृत्तिता कार्य के प्रति स्वतः सिद्ध नहीं है अपि तु, कार्य के प्रति किसी अन्य प्रकार से सिद्ध है। जैसे– घट निर्माण में दण्डरूप, रासभ, कुलालजनक आदि।

अनुमान- अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमिति एक यथार्थ ज्ञान है जो प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु किन्हीं विशिष्ट कारणों से प्रतीत हो जाता है। इस ज्ञान को कराने वाला जो प्रमाण है वह अनुमान है।

अनुमिति- परामर्शजन्यं ज्ञानम्। परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। जैसे- पर्वतो वह्निमान्।

अन्वयव्यतिरेकि हेतु- तत्सत्त्वे तत्सत्ताऽन्वयः- दो वस्तुओं में एक के रहने पर दूसरी का विद्यमान होना, जैसे- अग्निसत्त्वे दाहसत्ता। **तदभावे तदभावो व्यतिरेकः-** एक के न रहने पर दूसरे का भी न रहना- जैसे अग्नि के न रहने पर दाह का न रहना।

अवक्षेपणम्- अधोदेशसंयोगहेतुरवक्षेपणम्- जिससे वस्तु का नीचे के प्रदेश से संयोग होता है। यथा- छत से नीचे की ओर गेंद फेंकना।

अपरसामान्यम्- अपर सामान्य कम देश में रहता है- **अपरं न्यूनदेशवृत्ति।** जैसे- द्रव्यत्व। सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म में समवेत रहता है। किन्तु द्रव्यत्व केवल द्रव्य में ही रहता है।

अयथार्थानुभव- तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। जो वस्तु जिस रूप में न हो उसे उस रूप में समझना अयथार्थ है। जैसे- शुक्ति (सीपी) में रजत का ज्ञान।

अयुतसिद्ध- ययोर्द्वयोर्मध्ये, एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे को आश्रित रहता है, वे दोनों ही परस्पर अयुतसिद्ध हैं। जैसे- अवयव और अवयवी, गुण व गुणी आदि।

असमवायिकारण- कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम्- कार्य के साथ या कारण के साथ एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होता हुआ जो कारण हो वह असमवायिकारण होता है। जैसे- तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है।

असाधारण हेत्वाभास- सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा- शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। जो सपक्ष एवं विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष में रहे वह असाधारण है। यथा- शब्द नित्य है क्योंकि वह शब्द है।

आकाङ्क्षा-पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। एक पद का दूसरे के बिना अन्वय-बोधन करा सकना आकाङ्क्षा है। यथा- गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति इत्यादि

आप्त- यथाभूताबाधितार्थोपदेष्टा किसी भी कारण से अन्यथा न बोलने वाले यथार्थवक्ता को आप्त कहा जाता है।

आकाश- शब्दगुणकमाकाशम् तच्चैकं विभु नित्यञ्च। जिसमें शब्द गुण रहता है वह आकाश कहलाता है।

आत्मा- ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः- ज्ञान का अधिकरण आत्मा है।

इन्द्रिय- ज्ञान के कारण मन के संयोग का आश्रय होना- ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयम्।

उद्देश- नाममात्र से पदार्थ का कथन करना उद्देश है- उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्त्तनम्।

उपनय- उदाहरण के साथ हेतु एवं साध्य का व्यापक सम्बन्ध दिखलाने के पश्चात् अपने पक्ष में उसे दिखलाना ही उपनय कहलाता है- **उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारी साध्यस्योपनयः।** उपसंहार करना उपनय है। जैसे- **तथा चायम्।**

उपमान- उपमिति का करण उपमान है- **उपमितिकरणमुपमानम्।**

उपमिति- संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्धज्ञान को उपमिति कहते हैं- **संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान।**

उपाधि- **साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः**- अर्थात् साध्य को व्यापक होने पर भी जो साधन को व्यापक न हो उसे उपाधि कहा जाता है।

कर्म- कर्म चलनात्मक है- चलनात्मकं कर्म अर्थात् यह स्वयं क्रियारूप है।

करण- असाधारणं कारणं करणम्' अर्थात् असाधारण कारण करण है।

कारण- कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् अर्थात् कार्य से पूर्व निश्चित रूप से रहने वाला कारण होता है।

कार्य- प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वम्। अर्थात् प्रागभाव का अभाव कार्य है।

तर्क- व्याप्याऽऽरोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। यथा- जब अग्नि नहीं होती तो धुआँ भी नहीं होता।

तेज- **उष्णस्पर्शवत्तेजः।** तेज उष्ण स्पर्श से युक्त होता है।

दुःख- **सर्वेषां प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्-** सबके प्रतिकूल प्रतीति दुःख है।

द्रवत्व- **आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्ति।** प्रथम स्यन्दन (बहना) का असमवायिकारण द्रवत्व है।

द्रव्य- द्रव्य को द्रव्यत्वजाति से युक्त तथा गुणवान् कहा है- **द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्त्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्।**

धर्म- **विहितकर्मजन्यो धर्मः।** विहित कर्मों से उत्पन्न धर्म है।

निगमन- जब प्रतिज्ञावाक्य सिद्ध हो जाता है तो उसे निगमन कहा जाता है। जैसे- **तस्मात्तथेति।**

निमित्तकारण- समवायि तथा असमवायि कारणों से भिन्न कारण निमित्तकारण कहलाता है- **तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्।**

निर्विकल्पक- **निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यथा- किञ्चिदिदमिति।** निष्प्रकारक ज्ञान निर्विकल्पक है।

न्याय- **प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।** प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा विषयों का परीक्षण करना न्याय है।

पक्ष- **सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः।** जहाँ साध्य सन्दिग्ध रूप से पाया जाये उसे पक्ष कहा जाता है।

पक्षधर्मता- हेतु का पक्ष में विद्यमान रहना, पक्षधर्मता है- हेतोः पक्षवृत्तित्वम्।

पद- शक्तं पदम्। शक्त अर्थात् शक्तियुक्त (सामर्थ्यवान्) पद है।

परसामान्य- अधिक देश में रहने वाला पर सामान्य है- परमधिकदेशवृत्ति।

परामर्श- व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्-व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं।

परार्थानुमान- यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम्। जो स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिये पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह परार्थानुमान है।

पृथिवी- गन्धवती पृथिवी- द्रव्यों में गन्धवती पृथिवी है।

प्रतियोगी- यस्याभावः सः प्रतियोगी- जिसका अभाव होता है उसको अभाव का प्रतियोगी कहते हैं।

प्रत्यक्ष- प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्- प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष है।

प्रध्वंसाभाव- सादिरनन्तः प्रध्वंसः। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य- जिसका आदि हो अन्त न हो वह प्रध्वंसाभाव है, उत्पत्ति के अनन्तर कार्य का प्रध्वंसाभाव होता है।

प्रागभाव- अनादि सान्तः **प्रागभावः**। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य। अनादि तथा सान्त प्रागभाव कहलाता है। उत्पत्ति के पूर्व कार्य का प्रागभाव होता है।

प्राण- शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। शरीर के अन्दर संचरणशील वायु प्राण है।

बुद्धि- सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो **बुद्धिर्ज्ञानम्**। सब प्रकार के व्यवहार का हेतु गुण ज्ञान या बुद्धि है।

मन- सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं **मनः**। सुख दुःख आदि की उपलब्धि की साधन इन्द्रिय मन है।

यथार्थस्मृति- संस्कारमात्रजन्यं **ज्ञानं स्मृतिः**। संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है।

यथार्थानुभव- स्मृतिभिन्नं **ज्ञानमनुभवः**। स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है।

योग्यता- योग्यता का अर्थ है पदार्थों में अविरोध- **अर्थाबाधो योग्यता**।

रूप- चक्षुर्मात्रग्राह्यो **गुणो रूपम्**। नेत्रमात्र से ग्रहण किया किया जाने वाला गुण रूप है।

लक्षण- लक्षण वही है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव नामक तीनों दोषों से रहित हो- **दूषणत्रयरहितो असाधारण धर्मः**। जैसे- गौ का सास्नादिमत्त्व

लिंग- व्याप्ति के बल से अर्थ का ज्ञापक लिङ्ग कहलाता है- **व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्**।

वाक्य– **वाक्यं पदसमूहः**– वाक्य पदों का समूह है।

विपर्यय– **मिथ्याज्ञानं विपर्ययः।** मिथ्या ज्ञान विपर्यय है। **यथा**– शुक्ति (सीपी) में यह रजत है ऐसा ज्ञान।

विपक्ष– **निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः।** निश्चित साध्य का अभाव वाला विपक्ष होता है।

विरुद्ध– **साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः।** साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध है।

विशेष– **नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।** नित्य द्रव्य में रहने वाले व्यावर्तक विशेष हैं।

व्याप्ति– **'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरि'ति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।** जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है- यह साहचर्यनियम व्याप्ति है।

शक्ति– **अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः।** इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए- इस प्रकार का ईश्वरसंकेत ही शक्ति है।

शरीर– शरीर को आत्मा के भोग का आयतन कहा गया है– **आत्मनो भोगायतनम्।**

संयोग– **संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः।** संयुक्त (जुड़े होने के) व्यवहार का हेतु (कारण) संयोग है।

संशय– **एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः।** एक धर्मी में विरोधी नाना धर्मों की विशिष्टता से सम्बद्ध ज्ञान संशय है।

सत्प्रतिपक्ष- यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। जिस हेतु के साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु है वह सत्प्रतिपक्ष है।

सन्निधि- पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः- पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण सन्निधि है।

समवाय- नित्यसम्बन्धः समवायः- समवाय नित्य सम्बन्ध है।

समवायिकारण- यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्- जिसमें समवेत सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न हो वह उस कार्य का समवायिकारण होता है।

सविकल्पक- सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्- सप्रकारक ज्ञान सविकल्पक है।

सामान्य- नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में रहने वाला है।

स्नेह- चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः- चूर्ण आदि को पिण्ड बना देने वाले गुण को स्नेह कहते हैं। वह केवल जल में रहता है।

स्वार्थानुमान- स्वयं अपने ज्ञान का हेतु स्वार्थानुमान है- स्वार्थं स्वप्रतिपत्तिहेतुः।

सुख- सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्- सबके अनुकूल प्रतीति सुख है।

हेत्वाभास- जो हेतु के समान भासित होता है किन्तु हेतु नहीं हो वह हेत्वाभास कहलाता है।

परिशिष्ट III

शब्दसङ्क्षेप एवं सहायक ग्रन्थसूची

(क) मूल ग्रन्थ

क्रम	शब्दसङ्क्षेप	कृतियाँ
1.	अष्ट०	अष्टाध्यायी
2.	उप०	उपस्कारभाष्य
3.	क०र०	कणादरहस्यम्
4.	का०प्र०	काव्यप्रकाश
5.	किरण०	किरणावली
6.		चरकसंहिता
7.		चित्सुखी
8.		तर्कभाषा
9.	त०सं०	तर्कसंग्रह
10.	त०दी०	तर्कसंग्रहदीपिका
11.		तर्कसंग्रह 'पदकृत्य'
12,		तर्कामृतम्
13,		निरुक्तम्
14,	न्या०कं०	न्यायकन्दली
15,		न्यायकुसुमाञ्जलिः
16,	न्या०भा०	न्यायभाष्यम्
17,	न्या०मं०	न्यायमंजरी
18.	न्या०सि०मु०	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
19.	न्या०सू०	न्यायसूत्रम्
20.	प०त०नि०	पदार्थतत्त्वनिरूपणम
21.	प०दि०च०	पदार्थीयदिव्यचक्षुः
22.	प्र०क०मा०	प्रमेयकमलमार्तण्ड
23.	प्र०पं०	प्रकरणपञ्चिका

24.	[illegible]	[illegible]
25.	ब्र०सू०शां०भा०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्
26.	भ०सू०	भगवतीसूत्र
27.	भा०प०	भाषापरिच्छेद
28.		मीमांसासूत्रम्
29.		रघुवंशम्
30.	लक्षणा०	लक्षणावली
31.		वाक्यवृत्ति
32.	वे०प०	वेदान्तपरिभाषा
33.		वेदान्तसार
34.	वै०सू०	वैशेषिकसूत्रम्
35.	व्योम०	व्योमवती
36.	श्लो०वा०	श्लोकवार्तिकम्
37.		श्रीमद्भगवद्गीता
38.	स०प०	सप्तपदार्थी
39.	स०द०सं०	सर्वदर्शनसंग्रहः
40.		सेतुटीका
41.	सां०का०	साङ्ख्यकारिका
42.	सि०च०	सिद्धान्तचन्द्रोदय
43.		तत्त्वार्थराजवार्तिक

(ख) सहायक-ग्रन्थ हिन्दी

1. अवस्थी, ब्रह्ममित्र - भारतीय न्यायशास्त्र : एक अध्ययन इन्दुप्रकाशन, दिल्ली 1967,
2. कुमार वागीश - भारतीय दर्शनों में अन्तर्निहित समरूपता परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली
3. कुमार, शशिप्रभा - वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपण, प्रकाशन विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 1992,
4. झा, आनन्द - पदार्थ शास्त्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1964,

6. देवराज, नन्दकिशोर - भारतीय दर्शनः ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन, उत्तर-प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1975,

7. भारतीय महेश - भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ इण्डो-विजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, 1996,

8. मिश्र, नारायण - वैशेषिक दर्शन एक अध्ययन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1968,

9. राधाकृष्णन्, एस० - भारतीय दर्शन

10. शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ - भारतीय दर्शनशास्त्रः न्यायवैशेषिक, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, 1953,

11. सिंह, बदरीनाथ - वैशेषिक दर्शन, आद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1979,

12. हिरियन्ना, एम० - भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 6, 1969,

------

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Causation of Indian Philosophy - Mahesh Bharatiya, Vimal Prakashan, Ghaziabad, 1973.
2. Conception of Matter - Umesh Mishra, Allahabad, 1936.
3. Critique of Indian Realism (CIR) - Dharmendra Nath Shastri, Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi, 1976.
4. Encyclopaedia of Indian Philosophies Vol. I-II (EIP) - Karl H. Potter, Motilal Banarsidas, Delhi, 1970.
5. Evolution of Early Nyayavaisheshika Categoriology - Harshanarain, Bharati Prakashan, Varanasi, 1976.

6. Indian Philosophy (IP) S. Radha Krishnan,
George Allen Vol. II and Unwin Ltd., London, 1971.
7. Studies in Nyaya Vaisheshika Metaphysics (SNVM) – S.N. Bhaduri,
Bhandarkar Oriental Series, No. 5, Poona, 1997.
8. Tarkasangraha (TS) Athalye-Bodas,
Bombay Sanskrit Series, BORI, Poona, 1963.
9. Tarksangrahadipika (TSD) Gopinath Bhattacharya,
Progressive Publishers, cal., 1965.
10. The Wonder that was India A.L. Basham,
Rupa & co., Delhi, 1986.

कोश-ग्रन्थ
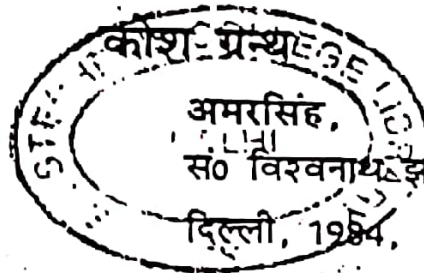
अमरकोश — अमरसिंह, सं० विश्वनाथ झा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1984,

न्यायकोश — भीमाचार्य झलकीकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट; पूना, 1978

शब्दकल्पद्रुम — चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रं०सं० 93, वाराणसी, 1967,

संस्कृत-हिन्दी कोश — वामन शिवराम आप्टे, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1988,